2.4- copy

परिसंवाद

भारतीय चिन्तन की परम्परा में नवीन सम्भावनाएं



सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिसंवाद [३]

भारतीय चिन्तन की परम्परा में नवीन संभावनाएँ

[भाग २]

सम्पादकमण्डल

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

प्रो० महाप्रभुलाल गोस्वामी
प्रो० श्रीराम पाण्डेय
प्रो० देवस्वरूप मिश्र
प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

सम्पादक

श्री राधेश्यामधर द्विवेदी

प्राध्यापक–तुलनात्मकधर्मदर्शन



पर्यवेक्षक

डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'

निदेशक, अनुसंधान संस्थान

प्रकाशनाधिकारी-संपादक

डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय

वाराणसी

१९८३

तुलनात्मकधर्मदर्शन विभाग द्वारा आयोजित
परिसंवाद गोष्ठियों में प्रस्तुत निबन्ध

प्रकाशक
निदेशक,
अनुसन्धानसंस्थान
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००२

प्राप्तिस्थान
विक्रयविभाग,
संम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००२

प्रथमसंस्करण ५०० प्रतियाँ
मूल्य ४६·००

मुद्रक
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय-
मुद्रणालय, वाराणसी–२२१००२

• *Parisamvāda* [3]

BHĀRTĪYA CINTANA KĪ PARAMPARĀ ME NAVĪNA SAMBHĀVANĀYEN

[Part-2]

Board of Editors

Prof. Jagannāth Upādhyāya

Prof. Mahāprabhu Lal Gosvāmī
Prof. Devasvaroop Miśra

Prof. Sri Rām Pāndeya
Prof. Braj Ballabha Dwivedī

Editor

Shrī Rādheshyāmadhara Dwivedī

Lecturer in Comparative Religion and Philosophy



Supervisor

Dr. Bhāgīrath Prasād Tripāthī 'Vāgiśa śāstri'

Director, Research Intestitute

Publication officer-Editor

Dr. Hariśchandra Maṇi Tripāthī

Sampurnananda Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi
1983

Published by—

Director, Research Institute
Sampurnananda Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi. 221002

Available at

Sale's Department
Sampurnananda Sanskrit University
Varanasi-221002

First Edition 500 Copies
Price Rs. 46·00

Printed at

University Press
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya Press
Varanasi-221002

दो शब्द

'भारतीय चिन्तन की परम्परा में नवीन संभावनायें' नामक शीर्षक का यह दूसरा भाग विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। 'दर्शनसंकाय' की गोष्ठियों का यह विवरण तुलनात्मकदर्शनविभाग के प्राध्यापक श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी ने तैयार किया है। श्री द्विवेदी ने संस्कृत-विश्वविद्यालय के सामाजिक सन्दर्भों के विचार-दर्शन को प्रस्तुत करने हेतु इन गोष्ठियों का समय-समय पर संयोजन किया है तथा आधुनिक एवं परम्परावादी चिन्तकों से आधुनिक सन्दर्भ के प्रश्नों को उठाकर समाहित करने का प्रयत्न किया है। इनकी अभिलाषा थी कि सामाजिक सन्दर्भों के स्वतन्त्र चिन्तन पर परम्परागत पण्डितों से स्वतन्त्र विचार का एक खण्ड और प्रस्तुत किया जाये, पर परिसंवाद के कलेवर के बढ़ने के भय से यह विचार अभी छोड़ दिया गया है। और विद्वज्जनों की प्रतिक्रिया के बाद उसको भी प्रकाशित करने की योजना बनायी जायेगी।

फिलहाल एक परम्परावादी विश्वविद्यालय का सामाजिक चिन्तन का स्वरूप आपके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। आप इसे पढ़ें तथा अपनी प्रतिक्रियायें अभिव्यक्त करें। यदि ये विचार सामाजिक हित की दिशा में किञ्चित् मात्र भी सफल साबित हुए तो इससे इन संगोष्ठियों के आयोजकों को बल मिलेगा तथा आज की बढ़ती हुई अव्यवस्था को कुछ हद तक ठीक करने में सफलता मिलेगी। हम अपनी परम्परा से सामाजिक दिशा देने का प्रयास मात्र कर सकते हैं। मूल्यांकन करने का दायित्व विद्वज्जन को है। इति शम्।

श्री गौरीनाथ शास्त्री
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादकीय

'भारतीयचिन्तन की परम्परा में नवीन संभावनायें' विषयक परिसंवाद का यह दूसरा भाग प्रस्तुत हो रहा है। इसमें कुछ नये विचार प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। तुलनात्मकधर्मदर्शनविभाग ने जो समय-समय पर गोष्ठियां आयोजित की हैं, उनमें से तीन इस भाग में प्रकाशित हैं। यहां पर विचारों को नया आयाम देने के लिए दर्शनों का नया वर्गीकरण कैसे किया जाय? इस पर बल दिया गया है। कुछ लोग नये वर्गीकरण के पक्ष में हैं तो कुछ इसके विपक्ष में। नया दर्शन कैसे? इस संगोष्ठी में भी परम्परागत संस्कृत के विद्वानों की कुछ न कर पाने की टीस दिखलायी पड़ती है तथा वे सदा कुछ कर गुजरने के लिए नये चिन्तकों का परामर्श तक लेने को तैयार हैं। काश, यह मूर्त रूप हो सकता। संस्कृत साहित्य में सूक्तियां बहुत हैं और पण्डितगण उनका उद्धरण बहुत देते हैं पर वे नैतिक उद्धरण कितने क्रियान्वित हो सकते हैं, इसके लिए गांधी के बहाने सत्य अहिंसा के प्रयोग का विश्लेषण किया गया है। इसमें परम्परागत मूल्यों को जीवन में उतारने का विवरण है।

तुलनात्मकधर्मदर्शनविभाग को इस परम्परागत विश्वविद्यालय में कुछ नया करने का दायित्व उत्तराधिकार में प्राप्त है। क्योंकि नये दर्शनों (पश्चिमी) के अध्ययन के साथ जब परम्परागत दर्शनों की तुलना की जाती है तो उसमें बहुत सी परम्परागत मान्यताएं खोखली लगती हैं, फलतः उन पर से विश्वास उठता है तथा सारभूत बातों पर ध्यान रह जाता है। ऐसी स्थिति में नये सामाजिकजीवन तथा नये पारम्परिक दर्शन की विधा को उभारने का प्रयत्न करना, इस विभाग का दायित्व बन जाता है और इस क्रम में इन सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक चिन्तनों का यहां स्वरूप प्रस्तुत है। पाठकगण कृपया इन पर ध्यान देकर जो उचित समझें, ग्रहण करें तथा समाज को भी मोड़ने का प्रयत्न करें। संस्कृत-विश्वविद्यालय के चिन्तन का समाज में बड़ा महत्त्व होगा, क्योंकि हमारी परम्परा इस बात से वाकिफ़ है कि हमारा मूल आधार संस्कृत तथा उसकी स्मृतियां एवं धर्मशास्त्रादि हैं, यदि स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों तथा दर्शनों से आज के आचरणीय नये मूल्यों के विधान मिल जाते हैं तो इन्हें परम्परागत लोगों को अपनाने में कोई अटपटापन नहीं लगेगा। यह प्रयास प्रस्तुत परिसंवाद में किया गया है।

इस परिसंवाद की तीनों गोष्ठियाँ तीन भूतपूर्वकुलपतियों की छत्रछाया में सम्पन्न हुई थीं। संभवतः तीनों के चिन्तन में उन कुलपतियों का योगदान रहा है। फलतः मैं सपादक एवं संयोजक की हैसियत से पं० करुणापति त्रिपाठी, पं० बदरीनाथ शुक्ल तथा पं० गौरीनाथशास्त्री का चिर आभारी हूँ जो मेरे द्वारा सुझाये गये विषयों पर गोष्ठी करने में सहयोग देकर इस नये चिन्तन को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किये हैं। संस्कृत-विश्वविद्यालय में नये चिन्तन के लिए यदि प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय (नेहरू-फेलो) का प्रोत्साहन न प्राप्त हो तो चलाना मुश्किल सा हो जायेगा। संभवतः हर नयापन में परम्परा को बदस्तूर रखते हुए परम्परागतविकास को चलाने की टीस प्रो० उपाध्याय में सदा से रही हैं। ये गोष्ठियां उनके नेतृत्व में ही सम्पन्न हुई हैं। अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरा परमकर्तव्य है। विना उनके परामर्श एवं निर्देशन के इनका संपादन करना कठिन था। अतएव इस पवित्र कार्य को सम्पन्न कराने में सहयोग के लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। तुलनात्मकधर्मदर्शनविभाग के आचार्य प्रो० महाप्रभुलाल गोस्वामी विभाग के विकास के लिए होने वाले किसी भी कार्य में सदा प्रोत्साहन देते रहते हैं, उन्होंने भूमिका लिखकर इस परिसंवाद को मूल्य प्रदान किया है। एतदर्थ हम उनके आभारी है तथा उन्हें धन्यवाद देते हैं। परिसंवाद को दर्शन संकाय के संपादकमण्डलों का सहयोग भी प्रो० श्रीरामपाण्डेय के नेतृत्व में प्राप्त हुआ है, फलतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। प्रो० श्रीरामशंकर त्रिपाठी संकायाध्यक्ष, श्रमण विद्या ने हमारे विभागीय संगोष्ठियों में सदा सहायता की है तथा प्रकाशन में सुझाव देते रहते हैं, अतएव मैं उनका धन्यवाद देना कर्तव्य समझता हूँ। इस काम को पूर्ण करने में प्रकाशनाधिकारी डा० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी, प्रेस अधिकारी श्रीघनश्याम उपाध्याय आदि का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता है, अतः मैं उन सबको धन्यवाद देना अपना कर्तव्य मानता हूं। मेरे विभाग के प्रायः अधिकतर छात्र हमारी गोष्ठियों में तथा हर कार्य में सहयोगी होते हैं प्रूफ संशोधन आदि में भी उनका सहयोग रहा है। एतदर्थ मैं श्रीरामविहारी द्विवेदी-अनुसंधाता, श्रीवशिष्ठमुनि मिश्र-अनुसंधाता, श्रीविजयशंकर चौबे, श्रीअवधेश कुमार चौबे, कु० ज्योति तथा ब्रह्मचारी कर्मानन्द को धन्यवाद तथा आशीर्वाद देता हूँ कि वे इस परम्परागत विश्वविद्यालय में एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करें जिससे परम्परागत चिन्तन का मूल्य बढ़े।

राधेश्यामधर द्विवेदी
प्राध्यापक (तुलनात्मक धर्मदर्शन)
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी

विषय-सूची

[ख] भारतीय दर्शनों का नया वर्गीकरण

[ग] नये दर्शनों की संभावनायें



उपर्युक्त निबन्धों में व्यक्त विचारों एवं शोध निष्कर्ष निबन्ध लेखकों के अपने हैं, उनका सम्पूर्ण श्रेय तथा उत्तरदायित्व लेखकों का है।

भूमिका

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी का परम्परावादी चिन्तन के क्रम में विशेष स्थान होना स्वाभाविक है। जाति, सम्प्रदाय, देश तथा समाज की समस्यायें काल की दृष्टि से पैदा होती हैं तथा उनका समाधान भी काल की दृष्टि से ही अपेक्षित है पर प्राचीनतम संस्कृति वाले समाज में परम्परा का इतना अधिक प्रभाव रहता है कि वह कालिक समस्याओं का समाधान भी परम्परागत शास्त्रों में ही ढूढ़ता है। ऐसी स्थिति में परम्परागत शास्त्रों से कालिक समस्याओं का समाधान निकालना आवश्यक हो जाता है। इसी आधार शिला पर तुलनात्मकधर्मदर्शन-विभाग ने कुछ गोष्ठियों का आयोजन सम्पन्न किया, जिसमें कालिक समस्याओं के समाधान का मार्ग ढूढ़ने का प्रयत्न किया गया है। इन गोष्ठियों के विचार-विमर्श का आलेख इस परिसंवाद नामक पत्रिका में प्रस्तुत किया गया है, जो विद्वानों के विचार के लिए सबके सम्मुख प्रस्तुत हैं।

गोष्ठियों के समायोजन के दरम्यान यह बात बराबर चिन्तन के केन्द्र में रही कि कौन सा मुख्य विन्दु बनाया जाय, जहां से नया चिन्तन तथा इससे सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत हो सके। भारतवर्ष में दर्शनों की एक बहुत बड़ी परम्परा है जिसमें प्राचीन काल से समस्याओं के सन्दर्भ में चिन्तन किये गये हैं। दर्शनों में भी दो प्रकार की प्रवृत्तियां हैं, एक सुधारवादी तथा दूसरी अत्यन्त परिवर्तनवादी। सुधारवादी परम्परा में मूल को सदा पकड़े रहने की प्रवृत्ति होती है। तथा कालिक समस्याओं के समाधान का यत्न भी चलता रहता है। इस विन्दु पर परम्परावादी विद्वान् पूर्णतया सहमत नहीं हो पाते हैं, पर व्यवहार की अपर्याप्तता बार बार सुधार के लिए प्रेरणा देती है। पूर्ण परम्परा की जकड़न में पड़े रहने वाले विद्वान् लीक से थोड़ा भी हटना नहीं चाहते तथा बढ़ती हुई कालिक समस्याओं को पुराने समाधान के क्रम में ही ठीक करना चाहते हैं। इनका समाज पर प्रभाव कम होता है, पर पारम्परिक समाधान के निर्णय में इनका मूल्य अवश्य बनता है। पूर्ण परिवर्तनवादी परम्परा भी वाद में रूढ़वादी रूप में भारत में प्राप्त होती है। बार बार के वैचारिक संघर्ष में उसने परिवर्तन के दर्शन को इतना मूल्य प्रदान किया कि परिवर्तन का दर्शन ही परम्परावाद बन गया। ऐसी स्थिति में रूढ़वादी मूलचिन्तक,

सुधारवादी मूलचिन्तक एवं परिवर्तनवादी-पारम्परिकधारा का नये जीवनक्रम में कैसे उपयोग किया जाय ? इसका ही विश्लेषण प्रस्तुत परिसंवाद में उपलब्ध है।

चिन्तन के नये आयाम प्रस्तुत करने की दृष्टि से इन गोष्ठियों में परम्परावादी तत्त्वचिन्तन के आधार पर दर्शनों का नया वर्गीकरण प्रस्तुत करने का सुझाव रखा गया है। इसमें एक पक्ष नये वर्गीकरण के पक्ष में है तथा दूसरा पूर्ण रूप से पूर्वतः वर्तमान दार्शनिक वर्गीकरण को ही चलाये रखने के पक्ष में है। नये वर्गीकरण को प्रस्तुत करने वाले परम्परावादी विद्वान् कालिक समस्याओं के समाधान के लिए नये तत्त्व चिन्तन की भी अपेक्षा करते हैं। पूर्णपरिवर्तनवादी पारंपरिकधारा भी सुधारवादी मूलचिन्तकों के पक्ष में है। पर दोनों में समुदायगत श्रेष्ठता का प्रश्न कभी कभी आड़े हाथ आ रहा है। इस विषम परिस्थिति में कालिक समस्याओं के आधार पर निर्णय लिया जाना स्वाभाविक है। इन समस्याओं का समाधान भी दोनों ही धारायें कर सकती हैं और गोष्ठी के संयोजकों की मंशा भी इन्हीं विचारधाराओं के पक्ष में है।

दर्शनों के नये वर्गीकरण की समस्या के समाधान क्रम में नये चिन्तन का प्रश्न भी बार बार खड़ा होता हुआ दिखाई देता है और इस क्रम में तीनों प्रकार की विचारधारायें नये चिन्तन के लिये प्रयत्नशील होती हैं। आधुनिक किन्तु परिवर्तन-वादी पारम्परिक धारा वाले लोग परम्परा की बिना परवाह किये हुए समस्याओं के समाधान के क्रम का दर्शन बनाने के पक्ष में हैं और कहते हैं कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो समस्यायें स्वतः नयादर्शन प्रस्तुत करा देगीं, जैसा कि पश्चिम के देशों में इसाईमत के विरोध में हुआ है। पर सुधारवादी मूलचिन्तक समाधान की खोज में आधुनिक विद्वानों का परम्परागत ढंग से समाधान ढूढ़ने में सहयोग लेना चाहते हैं। इस सन्दर्भ में परम्परावाद की सहृदयता का मूल्य आंका जाना चाहिए। क्योंकि आधुनिकता के पर्याप्त प्रभाव के बावजूद हमारी सामाजिक समस्याओं का निदान जो स्पष्टतर रूप में नहीं प्राप्त हो रहा है, सम्भवतः वह अपनत्वविहोन समाधान होने के कारण है। ऐसी स्थिति में सुधारवादी मूलचिन्तकों के साथ आधुनिकतावादी को सहयोग देना आवश्यक लगता है। और यदि यह प्रवृत्ति खुलकर समस्याओं का का समाधान ढूढ़ रही है तो निश्चित ही बहुत सी समस्यायें स्वतः समाहित हो जायेंगी।

व्यावहारिक चिन्तन तथा सैद्धान्तिक चिन्तन का पक्ष भो इसी परिसंवाद में दिखलाई देता है। दर्शनों का नया वर्गीकरण, नया दर्शन कैसे ? जैसे प्रश्न सिद्धान्त रूप से कालिक समस्याओं के समाधान का सैद्धान्तिक चिन्तन प्रस्तुत करने के लिए बाध्य करते हैं। वैसे ही सत्य, अहिंसा, समता, समाज, व्यक्ति आदि का व्यावहारिक

स्वरूप क्या वनें ? इस पर भी प्रभूत चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। यह चिन्तन केवल कपोल-कल्पित नहीं प्रत्युत गांधी जी के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है जो दर्शन या चिन्तन को सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करते थे। और जिनके चिन्तन क्रम में वहुत सो पारम्परिक समस्यायें समाहित हुई हैं। देखना यह है कि क्या व्यक्तिनिष्ठ सत्य, अहिंसादिगुण समाजनिष्ठ बनाये जा सकते हैं या मात्र चिन्तन के विषय ही बनकर रह जायेंगे। इस सन्दर्भ में परिसंवाद का सत्य, अहिंसा का प्रयोग भाग भी वहुत उपयोगी है जिसमें मानव जीवन में इनको उतारने का शास्त्रीयनिदान प्रस्तुत किया गया है।

●

[क]

व्यावहारिक जीवन को आदर्श एवं ठोस नीव पर रखने का काम गांधी ने किया था। आज गांधी विश्वविद्यालयों, राजनेताओं तथा सामाजिक संस्थाओं से बाहर हो गये हैं लगता है कि वे आज के युग में अपर्याप्त हैं। पर विचार करने पर लगता है कि गांधी आने वाले कल में उपयुक्त होंगे। यदि आने वाले कल में गांधीजी उपयुक्त लगते हैं तो वर्तमान में भी गांधी का मूल्य है (**नारायण भाई देसाई**)। उनका आदर्शवाद, रचनात्मक कार्यक्रम तथा सत्याग्रह आज भी मूल्यवान है। प्रदूषण का खात्मा, कुटीर उद्योग का चलाना, स्वदेशीपन आदि के गांधी की सीख का आज बहुत महत्त्व है। गांधी जी पवित्र साधनों के प्रयोग पर अधिक बल देते थे। अतएव अहिंसक साधनों से अहिंसक समाज की स्थापना करना, वह अपना लक्ष्य मानते थे। पर अपनी अहिंसा को पूर्ण नहीं मानते थे (**राजाराम शास्त्री**) क्योंकि यदि पूर्ण होती तो निर्धारित उद्देश्यों की विफलता न होती। फिर भी वह गीता के कर्मण्येवाधिकारस्ते के नजदीक थे तथा साधन की पवित्रता के पोषक थे। वह जो प्राणिमात्र का अधिक हितकारक होता था उसे सत्य कहते थे (**यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यम्**)। जनकल्याण सत्य की परख है, अन्तःकरण कसौटी और अहिंसा साधन (**प्रो० मुकुटविहारीलाल**)। वह व्यक्ति अथवा समाज के सुधार के पूर्व अपना सुधार करना चाहते थे। और संभवतः यही मानव सुधार का रास्ता है। गांधीजी स्त्री एवं पुरुष की समता के समर्थक थे। वह वर्णाश्रमवादी थे, ट्रस्टीशिप तथा विकेन्द्रित लोकतन्त्र के समर्थक थे। उत्कृष्ट

सार्वजनिक चरित्र, न्याय तथा सामाजिक सेवा की भावना, सहकारिता के प्रति निष्ठा, कर्तव्यपराणयता, अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचार के प्रतिरोध के संकल्प को स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक मानते थे। प्राह्लद की भांति सत्याग्रहवादी थे। नचिकेता की भांति न्यायनिष्ठ थे। अवसरवाद को मूल्य न देते हुए हर कीमत पर न्याय की प्रतिष्ठा दिलाते थे।

उनके लिए समाज का प्रत्येक व्यक्ति बराबर था, वह कहते थे कि मैं सच्चा मुसलमान हूँ क्योंकि मैं सच्चा हिन्दू हूँ (**प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय**)। वह शास्त्रवाद के विपरीत श्रद्धानुरोधी थे, श्रद्धा विवादों को समाप्त करते हुए एकमात्र कर्माचरण के माध्यम से मनुष्यों के बीच सम्बन्धों का नव निर्माण करती है। इसमें असीम नम्रता होती है क्योंकि नम्रता में समर्पण होता है। समर्पण में व्यक्ति स्व को पर के लिए मिटा देता है! श्रद्धा में समर्पण के साथ निर्देशकता मिलती है सत्य एवं अहिंसा की। इसीलिए गांधी कहते हैं—सत्य और अहिंसा की कुंजी से जब मैं धर्म की पेटी खोलता हूँ तो मुझे एक धर्म की दूसरे धर्म से एकता पहचानने में जरा भी कठिनाई नहीं आती (**प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय**)! फलतः वह आध्यात्मिक बन जाते हैं जिससे सबमें एकत्व भान का साक्षात्कार होने लगता है। और सबमें सत्य रूप परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। सत्य ही परमेश्वर है। असत्य, अन्याय, अधर्म के प्रति उदासीन रहने वाला व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकती। अतः असत्य, अन्याय और अधर्म का प्रतीकार करना सत्याग्रह का आवश्यक अंग है। सत्याग्रह का अर्थ है विरोधी को पीड़ा देकर नहीं, अपितु स्वयं कष्ट उठाकर सत्य की रक्षा करना। इस सन्दर्भ में अहिंसा वह प्रकाश है जो सत्य को निखारती है। अहिंसा की पराकाष्ठा ही सत्य है, इसका जीवन में साधन के रूप में आचरण होना चाहिए।

ईसा ने जिस प्रकार धूर्तों को जानते हुए भी दया की याचना की, ठीक इसी प्रकार विनम्रतापूर्वक सत्य का पालन करना होगा तथा व्यावहारिक सत्य पर जोर देना होगा। पुराण की एक कथा है कोई वधिक मृग को मारने के लिए पीछा करते हुए ऋषि के आश्रम में पहुंचा, और उसका रास्ता पूछा तो ऋषि ने उत्तर दिया—

या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति

अर्थात् जो इन्द्रिय देखती है वह बोल नहीं सकती, और जो बोल सकती है वह देखती नहीं। गांधी जी भी अपने अंतरङ्ग व्यक्तियों से ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर कहते थे—आप इस बात को न पूछें। इस विषय पर हम कुछ नहीं कहेंगे (**पं० रामप्रसाद त्रिपाठी**)। इस प्रकार परानुग्रहेच्छा से प्रेरित हो इस कलियुग में गांधी जी सत्याचरण का पालन करते थे। हमें भी ऐसा करना चाहिए।

अहिंसा अभय की चरमावस्था है। निर्भयता और आत्मबल के बिना अहिंसा चल नहीं सकती। अहिंसक प्रतीकार में हम वस्तुतः हिंसा का प्रतिकार नहीं करते, वरन हम दुर्बलता से जूझते हैं। दुर्बल व्यक्ति के लिए पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का कोई अर्थ नहीं होता। कायरतापूर्ण शांति से वीरतापूर्ण युद्ध अच्छा है, अतः गांधी का सत्याग्रह युद्ध शक्तिहीन अध्यात्मवाद नहीं, प्रत्युत सक्रिय आध्यात्मिक शक्ति है (वीरेन्द्रप्रताप सिंह)। गांधी ने स्वयं कहा है अहिंसा वीरों का गुण है और इसे हम निष्क्रिय, दुर्बल और असहायपूर्ण अधीनता की संज्ञा नहीं दे सकते।

भारत में हिंसा के दो रूप हैं भावहिंसा तथा द्रव्यहिंसा। क्रोधादि से प्रेरणापूरक हिंसा द्रव्यहिंसा है तथा कलुषित चित्त रागद्वेषादि से प्रेरित हिंसा भावहिंसा है। अहिंसा का वास्तविक अर्थ इन दोनों का न करना है। १६१६ में गांधीजी ने कहा—तुम किसी मनुष्य का चित्त न दुःखाओ और जो मनुष्य तुम्हें अपना शत्रु समझता हो, उसके विषय में कभी कोई बुरा भाव न रखो। (महाप्रभुलाल गोस्वामी)। गांधीजी ने आन्तरिक दृष्टि से अहिंसा की प्रतिष्ठा में प्रेम तथा क्षमा की स्थापना की तथा घृणा की निवृत्ति पर बल दिया है पर व्यावहारिक जीवन में अहिंसा की स्थापना की गति में भेद है, इस प्रकार जहाँ अहिंसक स्थिति की ओर झुकाव यदि दिखाई देता है तो वह भय प्रयुक्त ही है। कहीं भी विश्व के सबल राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण की ओर अग्रसर होना प्रेम-प्रेरित न होकर भय-प्रेरित है (प्रो० रघुनाथगिरि)। इसी प्रकार गांधी का सत्य भी अधिक आदर्श रूप है जब कि शंकराचार्य व्यवहार के लिए सत्यानृत का मिथुनीकरण स्वीकार करते हैं। गांधी इन दार्शनिक तथ्यों की विवेचना करते हुए भी मानवहित पर अधिक बल देते हैं। फलतः सर्वोदय की कामना, सर्वधर्मसमभाव की स्थापना तथा न्यासिता के सिद्धान्त से लोकहितसम्पादन का अहिंसक मार्ग बतलाते हैं जिसका जीवन में प्रयोग किया जा सकता है।

मानवता की रक्षा के लिए गांधी की अनिवार्यता किंगमार्टिनलूथर ने भी स्वीकारा किया है। गांधी मानवता की रक्षा इसलिए कर सके, क्योंकि वह आत्मशुद्धि पर बल देते थे। आत्मशुद्धि से ईश्वर साक्षात्कार होता है। पूर्ण शुद्धता की स्थिति में स्थितप्रज्ञता आती है, वह परम कारुणिक तथा करुणावतार बोधिसत्त्व है। वह जन जन में ईश्वर का साक्षात्कार करते है, और कहते थे, वह मात्र सत्ता है, वह सबमें है, सबसे ऊपर है, हम सबसे परे है, (डा० रेवतीरमण पाण्डेय)

गांधी केवल आध्यात्मिक ही नहीं जन कल्याण के प्रवर्तक हैं। वह मानव कल्याण के कई रास्ते बतलाते हैं, उनमें उनकी बुनियादी शिक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए उनका हस्तकलात्मक शिक्षण रामवाण है।

है। कोठारी आयोग ने इसे सभी स्तरों पर उपयोगी एवं श्रेयस्कर माना है। **(सुभाषचंद तिवारी)**।

आज के समाज में धर्म एवं परम्परा का नैतिक मूल्य एवं महत्त्व घटता जा रहा है और निरन्तर तर्क संगतता, औपचारिकता, कर्मचारीतन्त्र तथा विधिविधानों का दायरा बढ़ रहा है तो समाज को नैतिक दिशा-निर्देश कहां से मिलेगा? गांधीजी हर परिस्थिति में नैतिक मूल्यों की सर्व्वोच्चता को कायम रखना चाहते थे। वह नैतिक मूल्यों तथा राजनीतिक शास्त्रों के द्वन्द्व में नैतिक मूल्यों की अप्रतिहत श्रेष्ठता की स्थापना करना चाहते थे। वह राजनीतिक जीवन तथा संस्थाओं का अध्यात्मीकरण करना चाहते थे। वह कहते थे कि यदि राजनीति को धर्म से अलग कर दिया जाय तो वह उसी तरह त्याज्य है जैसे मृत शरीर (**श्रीरमेशचन्द तिवारी**)। पर वह धर्म को साम्प्रदाय विशेष के अर्थ में न लेकर आन्तरिक आध्यात्मिक तत्त्वों को धर्म मानते थे। परम्परावादी विश्वविद्यालयों में धर्म रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त होता है पर गाँधीजी की दृष्टि में सार्वभौम धर्मो का नाम ही धर्म है। मनुष्य का यह दायित्व है कि वह सार्वभौम धर्मों का पालन करते हुए अपने अपने दायित्वों का निर्वाह करे **(पं० बदरीनाथशुक्ल)**।

●

[ख]

उत्तरदायित्व का भार यदि परम्परावादी समाज को लेना होता है तो परम्परागतशास्त्रों की नयी व्याख्या करनी पड़ती है। इस सन्दर्भ में कुछ परम्परागत-विद्वान् परम्परागत शास्त्रों के विषयवस्तुओं की व्याख्या नये सन्दर्भ में करने की कोशिश करते हैं तथा कुछ ज्यों की त्यों परिस्थिति बनाये रखने के पक्ष में होते हैं। ऐसी स्थिति में उनका तर्क यह होता है कि शास्त्रीय सिद्धान्त हमेशा एक धारा के तथा सन्दर्भों के क्रम में लगते हैं जो तत्कालीन थे। पर आज के सन्दर्भ भिन्न हैं यदि हम साम्य के आधार पर उनकी व्याख्या बदले तो सम्पूर्ण शास्त्रीय सन्दर्भ बदल जायेगा और सन्दर्भ रहित व्यवस्था में सांकर्यदोष की संभावना है। इसी आधार शिला पर दर्शनों का नया वर्गीकरण नामक संगोष्ठी प्रारम्भ हुई। जिसमें विषयगत आधार पर दर्शनों के नये वर्गीकरण की बात को मूलपरम्परागत, सुधारवादी परम्परागत तथा

पूर्णपरिवर्तनवादी विद्वानों के समक्ष रखा गया। विद्वानों ने भी इसमें गहरी रुचि दिखलायी। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय इस पक्ष में थे कि भारतीय-दर्शन को धर्म से मुक्त होना चाहिए। यदि वह धर्म से मुक्त हो जाता है तो उसकी ऐकान्तिकता का आग्रह छूट जाएगा। उसे विज्ञान का भी पिछलग्गू नहीं होना चाहिए। प्रत्युत उसे धर्म तथा विज्ञान के मध्य में स्थान निश्चित करना है। इस प्रकार निरपेक्ष चिन्तन की दिशा में पहला क्रम होगा भारतीय दर्शनों का विषयानुरोधी नया वर्गीकरण प्रस्तुत करना। इस नये वर्गीकरण से दर्शनों के विकासक्रम का आकलन किया जा सकता है

किन्तु कतिपय परम्परावादी विद्वान इस विषयानुरोधी वर्गीकरण के विभाजन को अनुचित बताते हुए कहते है कि भारतीय दर्शनों में प्रतिपाद्य विषयों की बहुलता है उन दर्शनों में कुछ ऐसे भी विषय हैं जो सभी दर्शनों में समान हैं, यदि विषयपरक विभाजन किया जाएगा तो उन उन दर्शनों में वर्णित ये विषय जो अन्यान्य रूप से अनुबद्ध हैं की समानता के आधार पर छूट जाने का भय उपस्थित होगा (**पं० वदरीनाथ शुक्ल**)। अतः विषयपरक वर्गीकरण का भारतीय दर्शनों का औचित्य नहीं लगता। एक अन्य परम्परागत विद्वान ने कहा—परम्परागत दर्शन पर्याप्त एवं पूर्ण है उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन अपेक्षित नहीं है (**पं० रघुनाथ शर्मा**)। इस प्रकार घोर परम्परावादी एवं घोर नवीन वर्गीकरणवादी दो प्रकार के विद्वान् इस गोष्ठी में उपस्थित हुए। प्रो. राजाराम शास्त्री जैसे विद्वान् परम्परागत तथा विषयगत दोनों ही प्रकार के वर्गीकरण के पक्षपाती थे। उन्होंने कहा—दर्शन के दोनों प्रकार के वर्गीकरण हो सकते हैं साम्प्रदायिक तथा विषयगत। पर यदि सम्प्रदायगत विषयवस्तु को निकाल कर अन्य के साथ जोड़ दिया जाय तथा उसको अध्ययनाध्यापन का विषय बनाया जाय तो उससे समग्रता की जगह स्वरूपता आयेगी। क्योंकि जैसी चुनौती विद्यार्थी को मिलती है उसको ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम बनता है। पर प्रत्येक शास्त्र की समस्याओं के समाधान के लिए अलग अलग दर्शन बनते हैं इसमें दर्शन का मात्र यह काम है कि वह देखे कि जो दार्शनिक परिप्रेक्ष समस्याओं के समाधान के लिए रखा गया है; वह दर्शन की दृष्टि से उचित है या नहीं।

सामाजिक समस्याओं के समाधान का तत्त्व यद्यपि दर्शन शास्त्रों में मिलता है फिर भी प्लेटो, अरस्तू की भांति भारतीय चिन्तन में समाधान प्रस्तुत नहीं है। अतः आज के दर्शन को सामाजिक समस्याओं का भी दर्शन प्रस्तुत करना चाहिए (**प्रो० रामशंकर मिश्र**)। एतदर्थ नयावर्गीकरण होना चाहिए।

प्रस्तावित वर्गीकरण की अपेक्षा दर्शनों के प्रतिपाद्य विषयों के विकासक्रम को समझाकर यदि विभाजन किया जाय तो इससे तत्तद् दर्शनों के आनुषंगिक विषयों में

भी ज्ञान बने रहेंगे और यह परिचय ऐतिहासिक होगा। वर्तमान में जो दर्शनों का ऐतिहासिक इतिहास बताया जाता है, वह दर्शनों का संक्षेप मात्र है न कि क्रमिक विकास का इतिहास। इसलिए विशेष दर्शनों के विशेष प्रत्ययों की सेटिंग को समझ कर प्रत्ययों के विकासक्रम का इतिहास लिखा जाना चाहिए। इसमें साम्प्रदायिक ज्ञान के साथ साथ विकासात्मक ज्ञान भी सम्भव होगा और इस प्रकार के अध्ययन से दर्शन के विद्यार्थी को काफी लाभ होगा (के०एन० मिश्र) तथा कालान्तर में प्रत्ययों के विकास क्रम का बोध रखने के कारण वह नये विचारों के साथ समस्याओं के समाधान के लिए नये दर्शन की संरचना कर पायेगा। इस प्रकार नये वर्गीकरण से नया दर्शन बन सकता है।

●

[ग]

नयी समस्याओं के सन्दर्भ में नया चिन्तन होना चाहिए या नहीं, इस विषयपर त्रिदिवसीय संगोष्ठी में विभिन्न प्रकार के विद्वानों के मत खुलकर बहस के मुद्दे बने। आधुनिक समस्याओं का समाधान भारतीय परम्परागत दर्शनों के अनुगमन से हो सकता है ऐसा कतिपय धर्मधुरीण आचार्य मानते हैं-'मैं समझता हूँ आधुनिक समस्यायें उन प्राचीन शास्त्रों की विवेचना से सुलझ सकती हैं इसलिए नये दर्शन की जरूरत नहीं है (**स्वामी करपात्री जी महाराज**)। पर कतिपय सन्तचरितावलम्बी आचार्य प्राच्य-पाश्चात्य के समन्वय से नये चिन्तन की संभावना से इनकार नहीं करते तथा कहते हैं—भारतीय दर्शन में व्यक्ति को केन्द्र माना गया है, समाज को परिगणित नहीं किया गया। पाश्चात्यदर्शन समाज को विशेष महत्त्व देता है और उस समाज के पोषण से ही व्यक्ति की समर्थता मानता है, अतः दोनों दर्शनों से यह बात स्पष्ट होती है कि समष्टि भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी व्यष्टि तथा समाज का विकास और उत्कर्ष उतना ही आवश्यक है जितना व्यक्ति का (**ठाकुर जयदेव सिंह**)। यह भी विचारक्रम में प्रश्न के रूप में उभरा कि भारतीय दर्शन एक ओर दुःखध्वंस का आश्वासन देता है तो दूसरी ओर समाज में व्याप्त दुःखों से उदासीन हो जाता है। एक ओर समता के आदर्श को उद्घोषित करता है तो दूसरी ओर सब प्रकार की विषमता को घोषित करता है। दर्शन के इस आत्मगत द्वन्द्व के आधार पर यह आशा करना कि वह धर्म और नीति का नियन्त्रण कर सकेगा, बहुत अधिक होगा।

ये तार्किक कठिनाइयां अपने सुलझाव के लिये एक नये जीवनदर्शन की अपेक्षा करती हैं (प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय)। पाश्चात्यदर्शन केवल इसी जीवन की समस्याओं का चिन्तन करता है और प्राच्य दर्शन मनुष्य जीवन की समस्याओं का आत्यन्तिक हल चाहता है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों के लिये काम, क्रोध, लोभ आदि पर विजय प्राप्त करना यद्यपि आधुनिक दर्शन की समस्या नहीं है? पर ये सार्वभौम समस्यायें हैं। अतः यदि इस दर्शन को इसी जीवन की समस्याओं तक सीमित रखा जाय, तब भी आवश्यक हो जाता है कि इन समस्याओं पर विचार करें (डा० रमाकान्त त्रिपाठी)। जैसा कि पूर्व गोष्ठी में नयेचिन्तन के लिए दर्शनों के नये वर्गीकरण पर बल दिया गया है। इस भाग में भी कतिपय विचारक नये वर्गीकरण के आधार पर नया दार्शनिक चिन्तन आवश्यक मानते हैं। इस सन्दर्भ में सन्तदर्शन, राजदर्शन, विज्ञानदर्शन आदि को आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुसार दर्शन मानने की प्रस्तावना भी की गयी (प्रो० रघुनाथ गिरि) तथा विषयपरक वर्गीकरण को आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया। अनेक स्वरूप भी उदाहरण रूप से प्रस्तुत किये गये। कतिपय विद्वानों ने यह बतलाया कि संस्कृति-शून्यता आज के युग का प्रमुख संकट है। इसके कारण मानव जीवन में विसंगतियां उभर रही हैं। संस्कृति शून्यता का ही यह परिणाम है कि आज इस देश के लोगों का नैतिक पतन चरमसीमा तक पहुंच गया है। अतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक ऐसे नवीनदर्शन की आवश्यकता है जो संस्कृति का दर्शन हो, किन्तु संस्कृति का शास्त्र न बने, बल्कि संस्कृति पुरुषों का निर्माण करे। यह दर्शन वस्तुतः जीवन दर्शन होगा, वाक्विलास नहीं (डा० शंभुनाथ सिंह)। मानवहित को यदि संपन्न करना है तो मनुष्य को परम्परावाद की हठवादिता तथा अल्ट्रामाडर्न की नास्तिकता एवं निराशावाद से पिण्ड छुड़ाकर दर्शन को स्वतन्त्र रखना है। और ऐसे दर्शन को विवेकपूर्ण मानवहित, सत्य तथा जिज्ञासा का चिन्तन करते हुए अपना स्वतन्त्र स्थान बनाना है ताकि उसमें न हठवादिता आये और न नास्तिकता (राधेश्यामधर द्विवेदी)। आज दर्शनको ऐहलौकिक सामूहिक मुक्ति, और समग्र मानवता के ऐहलौकिक कल्याण के लिए नूतन दृष्टि का उन्मेष करके ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद, भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की भारत में प्रतिष्ठा करके वाराहमिहिर की उक्ति को साकार करना है-'वृद्धा हि यवनास्तेषु सम्यक्शास्त्रमिदं स्थितम्। इस प्रकार स्वकीय परकीय का भेद हटाकर मानवीय विचारों में समन्वय स्थापित कर एक अखण्डविश्वसंस्कृति का निर्माण किया जा सकता है (पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी)। इस प्रकार दर्शन की मौलिक चिन्तनशीलता तब विकसित होती है जब परम्परागत अतीत की थाती को पूर्णतः पचाया जाय। अतीत का दायित्वपूर्ण आकलन करके भावीनिर्माण संभव है। हमारा दर्शनेतिहास जो मैक्समूलर से लेकर यदुनाथसिनहा तक का है, वह मानव दर्शनसंग्रह है। मौलिकदर्शन

के बिन्दु महाभारत के 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्' में या मार्क्स के To be radical means to go to the root and root is man himelf में मिलता है। मौलिकता का अर्थ है मूल तक पहुँचना, और मूल स्वयं मानव है, वस्तुतः आज मानव मूलक-दर्शन ही चल सकता है (**डा० हर्षनारायण**)। इस प्रकार का नया दर्शन तभी प्रतीष्ठित होगा जब पुराने दर्शनों के दबदबे का और उनके शास्त्र और शब्द का प्रामाण्य ध्वंस होगा। पुराने दर्शन एवं शास्त्र मात्र संदर्भ के लिए होंगे। पुराने शास्त्र ध्वंसावशेष की जमीन ईंट, पत्थर का काम करेंगे, लेकिन अभिनिवेश बदला हुआ होगा, सरंजाम, संयोजन नया होगा। यह एक सृजनात्मक ध्वंस का काम है ध्वंस से सृजन होगा। पुराने वीज की खोल फटने से नया अंकुर निकलेगा (**प्रो० कृष्णनाथ**)। कुछ विद्वान् नूतन चिन्तन के इतने अधिक पक्षधर थे कि वे पुनर्जन्म न स्वीकारते हुए भी कर्मफल के सिद्धान्त को बनाने के हामी रहे। और कहते रहे—कर्मफल सम्बन्ध आवश्यक है नीति के लिए, धर्म के लिए। लेकिन पुनर्जन्म आवश्यक नहीं है। पुनर्जन्म स्वीकार न करते हुए भी कर्मफल की व्यवस्था होनी चाहिए। किन्तु इसके लिए पुनर्जन्म का खण्डन न किया जाय। जो विश्वासानुसार कुछ लोग पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं, करते रहें। लेकिन यह व्यवस्था दर्शन में हो कि पुनर्जन्म न स्वीकार करके भी कर्मफल का सिद्धान्त बन जाये (**प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय**)। विज्ञान के नये आविष्कारों ने मनुष्य को इतना सबल बना दिया है कि वह समझने लगा है कि जो पहले नहीं था वह भी किया जा सकता है। विज्ञान ने ईश्वर में, धर्म ग्रन्थों की अनादिता में संदेह पैदा किया है, अतः हमारा दायित्व बढ़ा है प्राचीन विचारक कर्मफल, दैवविधान आदि समझ कर लोगों को दुःखी बने रहने का कारण प्रस्तुत करते थे, पर आज योग्यवस्तुओं की सुलभ उपलब्धि ने नयाकर गुजरने का साहस पैदा किया है (**प्रो० देवराज**)। परम्परावादी विद्वानों में भी समाज में व्याप्त असमानता तथा दुःख को मिटाने की कसक है। वे एकबार दर्शन के परम्परागत स्वरूप के कारण करनी कथनी में भेद देखकर संदेह करते हैं तथा कहते हैं—दर्शनों ने जिस प्रकार का जीवन प्रतिपादित किया है वह हमारे व्यवहार से नहीं है, विषमता हमारे चिन्तन में नहीं दीखती है पौराणिक आख्यानों में, धर्मशास्त्रों में विषमता अवश्य है। यह विचारणीय है कि दर्शन का काम समत्व की प्रतिष्ठा करना है पर समाज में विषमता है इसके विरुद्ध दार्शनिक लोग क्यों नहीं बोलते हैं? क्या यह हमारे चिन्तन की कोई त्रुटि तो नहीं है (**प्रो० बदरीनाथशुक्ल**)। पर कुछ अन्य परम्परावादी शास्त्रों में उल्लिखित व्यवस्था से टस से मस नहीं होना चाहते हैं और कहते हैं—यदि शास्त्रं चक्षुः उपेक्षितं स्यात् तर्हि तद्धीनो मनुजोऽज्ञः मदान्धः किं किं न कुर्यात् सांप्रतम्। अतोऽप्येतद्दोषनिरासाय शास्त्रं चक्षुस्थानीयं दर्शनं भूषणं मन्तव्यम्। इत्येवं शास्त्रस्य पारमार्थिक-व्यावहारिकभेदेन दर्शनत्वं द्विविधम् इति

इति स्थितम (**विश्वनाथशास्त्री दातार**)। इसी प्रकार की परम्परावादी प्रवृत्ति एक अन्य पंडित में भी दिखलाई पड़ती है जो मति की वकालत तो करते हैं पर वह नीति शास्त्रात्मक निर्दिष्ट मति को ही मानते है। इस प्रकार कहते हैं—अतो गुरुपरम्परा-प्राप्तवैदिकदर्शनानामुल्लंघनं कदापि हितावहं न भवेदिति (**पं० राजराजेश्वरशास्त्री**) इस प्रकार प्राचीन एवं नवीन तथा सुधारवादी-परम्परा के विद्वानों के मत समाज दुःख को समाप्त करने के पक्ष में है पर उनकी सरणी में अन्तर है, लगता है कि यह सारा भेद कल्पित मात्र है। सच में तो सभी प्राणियों के साथ समत्वभाव एव तदनुरूप भूमि पर आचरण में प्रवृत्ति लगाना आवश्यक है। यह जब तक निष्पन्न नहीं होता तब तक सारे कथोपकथन व्यर्थ हैं अतः समष्टि के साथ समत्व ही क्रिया योग है जो कतिपय मानव मूल्यों अर्थात् अहिंसा एवं अनुष्ठान के द्वारा निजी उत्कर्ष तथा अन्य के उत्कर्ष के भी साधक एवं प्रेरक हैं।

प्रस्तुत परिसंवाद के संपादक तथा संयोजक **श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी** हमारे विभाग के सक्रिय सदस्य हैं और इनकी यह सतत इच्छा है कि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से एक ऐसी चिन्तनधारा प्रवाहित हो जो सम्पूर्ण मानवता की रक्षा में सबके ध्यान को आकृष्ट करे। एतदर्थं इस विषम युग में इतना बड़ा संकल्प लेकर चलना कठिन लगता है, पर साधक को अपने आदर्शों पर दृष्टि एवं आस्था रखकर काम अवश्य करना चाहिए। तुलनात्मकधर्मदर्शनविभाग के छात्र भी इस दिशा में सहायक होंगे। इसी आशा से मैं अपने विभागीय कृति को लोकहित सम्पादन के लिए आवश्यक मानता हूं तथा तदर्थ सब आयोजकों को धन्यवाद देता हूं कि वे लोकहित में और अधिक तत्पर हों।

—महाप्रभुलाल गोस्वामी
अध्यक्ष—तुलनात्मक धर्मदर्शन
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी

सत्य, अहिंसा और उनके प्रयोग

[क]

यह संगोष्ठी दिनाङ्क ३० तथा ३१ मार्च १९८० को सम्पन्न हुई थी

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
महा० शान्ति० १६२.५

अहिंसा सकलो धर्मः हिंसाधर्मस्तथाहितः ।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम् ॥
महा० शान्ति० २७२.२०

अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतेभ्यो हि महाराज, तपो नानशनात् परम् ॥
महा० शान्ति ६१.७

गान्धीदर्शन परिचर्चा की पृष्ठभूमि

श्री राधेश्यामधरद्विवेदी

अखिलभारतीय खादी ग्रामोद्योग आयोग, लखनऊ, के द्वारा विश्व-विद्यालयीय स्तर पर समूह परिचर्चा के लिए समारम्भ कीं बात उठने पर तुलनात्मक-दर्शन के विषयानुरूप मानकर इस गोष्ठी को सम्पन्न करने का भार मुझ को सौंप दिया गया। मैं इसे सहर्ष स्वीकार करते हुए अपने विश्वविद्यालय की परम्परा के अनुकूल गांधी विचारों से सम्बन्धित इस परिचर्चा-गोष्ठी को आयोजित करने की दिशा में प्रयत्नशील हो गया। जिस के परिणाम स्वरूप हम इस भीषण गर्मी में उपस्थित हुए हैं। आज के युग में शिक्षा, समाजसेवा, धर्म, राजनीति तथा अर्थनीति आदि सभी दृष्टियों में गांधी को ध्यान में रखे विना कोई अगला कदम उठाना भारतवर्ष के विद्वानों के लिए कठिन काम लगता है। क्योंकि गांधी की इन सब विधाओं पर अनुपम छाप है। संस्कृतविश्वविद्यालय उस परम्परा का प्रति-निधित्व करता है जिसमें गांधी स्वयं आविर्भूत हुए थे, फलतः गांधी जी के विचार किस प्रकार प्राचीन भारतीय विचारों से प्रभावित हुए तथा वह परम्परागत विचारों से नये सन्दर्भ में समस्त जगत को किस हद तक प्रभावित कर सके इसका आकलन इस परिचर्चा गोष्ठी का मुख्य उद्देश्य है। मैं कतिपय मुद्दों को आप विद्वज्जन के सम्मुख प्रस्तुत कर अपनी परम्परा के विकासक्रम में अवस्थित महात्मागांधी के विचारों से आज की समस्याओं के समाधान के लिए आप सब के सहयोग की प्रार्थना करता हूं।

आज देश में सभी जगह अव्यवस्था फैल रही है। राजनीति का प्रभाव इतना अधिक हो गया है कि बिना उसके दबाव के कोई काम आगे नहीं बढ़ रहा है। धर्म भी पंगु बन गया है, क्योंकि वह परम्परागत जड़ता लिए हुए है। और बदलाव के लिए उसमें प्रयत्न का अभाव है। हम आपस में लड़-कट रहे हैं, और राजनीतिज्ञों के इसारे पर नाच रहे हैं। धार्मिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक सद्‌गुणों के रहते हुए भी हम निष्क्रिय क्यों हैं ? तथा हमारा प्रभाव जनता पर क्यों नहीं पड़ रहा है,

इसकी विधि **गांधी** से सीखनी होगी। बड़ी बड़ी क्रान्तियों की बात सभी करते हैं, पर हमारे देश की समस्याओं के समाधान के कुछ अहं मसले ऐसे हैं जो चाह कर भी समाहित नहीं हो पा रहे हैं, इन के समाधान का रास्ता **गांधी** से सीखना होगा। **वोट** के लिए धार्मिक भावनाओं को जगाना, जातिवाद को उकसाना, स्थानीयतावाद को प्रश्रय देना, राष्ट्र को बीमार डालना है। पर हम अपने स्वार्थों के लिए यह सब करते जा रहे हैं। धर्म के लोग **धर्म** की नही, अपने **संप्रदाय** की रक्षा पर बल देते हैं। फलतः सड़क का आदमी मार डाला जाता है और हम **मन्दिर, मस्जिदों** में बैठ, पूजा करके कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। **गांधी** इसमें हमारी सहायता कर सकते हैं। राजनीति भी आज के युग में सर्वप्रमुख भूमिका अदा करती है **गांधीजी** ने राजनीति में जिस तप, संयम एवं अहिंसा आदि का परिपालन करके उसे शुद्ध करने का पथ प्रशस्त किया, उसका अनुसरण किया जाना चाहिए। **धर्म** के लोग **अध्यात्म** की बहुत चर्चा करते हैं। उनको समाज सेवा के अध्यात्ममार्ग का उद्घाटन करके आज की विषम परिस्थितियों को काबू में करने की अत्यन्त आवश्यकता है। पर यह काम तभी संभव होगा, जब राजनीतिक लोग ईमानदारीपूर्वक धर्म के क्षेत्र से संन्यास ग्रहण कर लें।

कहा जाता है कि **शिक्षा संस्थायें**, **शिक्षा शास्त्री** एवं **साहित्यिक** केवल कक्षाओं या सेमिनार कक्षाओं में बैठ कर समस्याओं पर विचार कर लेते हैं और उतने मात्र से वह अपने कर्तव्य परिपालन की पूर्णता मान लेते हैं। मैं समझता हूँ कि आज के सन्दर्भ में शिक्षा जगत के व्यक्तियों को कक्षाओं से बाहर आकर समीपस्थ मुहल्लों के दुखदर्द की ओर भी ध्यान देना चाहिए, वरना हमारी शिक्षा संस्थाओं से जनता का विलगाव सुफल नहीं प्रदान करेगा। **गांधी** जी के इस सन्दर्भ में भी कुछ प्रयोग हैं उनका भी मनन करना होगा और अनुगमन करना होगा। यह विश्वविद्यालय **स्वदेशीय संस्कृति** का पूजक माना जाता है, गांधी जी भी स्वदेशी के उपासक थे। पर आज जो समाज में सर्वत्र परायापन व्याप्त है, उसका समापन कैसे हो? इसके लिए वातावरण के निर्माण पर बल दिया जाना चाहिए। अपनी संस्कृति की अच्छाइयों पर बल देने के साथ-साथ कुसंस्कारों के समापन पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। दहेज का उन्मूलन, छूआ-छूत का समापन, सन्तति निरोध, स्वदेशीय संस्कृति में गौरवाधान आदि कुछ ऐसे ठोस कार्य हैं, जिसके सम्पादन में इस परिसर का समाज के लिए काफी बड़ा योगदान हो सकता है।

हम **'वसुधैव कुटुम्बकं' 'यत्पिण्डे तदेव ब्रह्माण्डे'** तथा **'सर्वभूतेषु चात्मानं'** की भावना की बात करते हैं, और इससे व्यक्ति और समाज की एकता की साधना

भी होती है। पर इस लक्ष्य की प्राप्ति का हमारा पथ तब तक साफ नहीं हो सकेगा. जब तक हम सम्पूर्ण मानव जाति के हित की रक्षा के लिए अहिंसक उपायों का अवलम्बन न करें। महात्मा गांधी अहिंसा के पुजारी थे, यह अहिंसा हमारी विरासत है, उसकी पुनः स्थापना के लिए हमको गांधी जी की भाँति दत्तचित्त होना होगा। और सत्य के मार्ग से असत्य का प्रतीकार करना होगा। कहा जाता है कि हम अहिंसक मार्ग का कम अवलम्बन करते हैं पर बात ऐसी नहीं है, हम अब भी अपेक्षाकृत सरल हैं. इसलिए हम होने वाली घटनाओं की सरलता के साथ शीघ्र प्रतिरोध कर देते हैं, जिससे लगता है कि हम व्यावहारिक सत्यता को बनावटी रूप न देते हुए परमार्थ रूप ही दे देते हैं। इससे हमारे प्रति लोगों की कुछ अन्यथा दृष्टि पनपती है। हमें इस पर ध्यान देना चाहिए तथा सत्यमार्ग में गाँधी के रास्ते का अनुगमन करना चाहिए। गांधी जी ने अहिंसा की शक्ति का संगठन किया और उसका सामाजिक विनियोग किया। वह **व्यक्ति** तथा **समाज** का **अविनाभाव** सम्बन्ध मानकर सम्पूर्ण समाज में व्यक्ति के अहिंसक वृत्ति की प्रतिष्ठा पर बल देते थे, जिससे वह व्यक्ति तथा समाज में समान रूप से लागू हो सके।

शास्त्रों में समाज की रागात्मक वृत्तियों के समापन के उपाय बहुत सुझाये गये हैं, पर वे उपाय व्यक्तिनिष्ठ होते हैं। इन उपायों का सामाजिक विनियोग गांधी ने बतलाया था फलतः वह जनजीवन से कष्ट के अपनोदन के लिए **एकादश व्रतों** पर ध्यान देते हैं, वे हैं—

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥

सर्वधर्मसमानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना।
विनम्र व्रत-निष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं॥

हमारे समाज में विशेष रूप से **संस्कृतसमाज** में शरीरश्रम पर अधिक जोर न देकर तप, त्याग, व्रत-उपवास पर अधिक बल दिया जाता है। यह अपने में सही है पर **गांधी जी** की धारणा थी कि जिसका शरीर काम कर सकता है उन सभी पुरुषों को अपना रोजमर्रा का सभी काम, जो खुद करने लायक हो, खुद ही करना चाहिए। और बिना कारण दूसरों से सेवा न लेनी चाहिए। जो खुद मेहनत न करे, उन्हें खाने हक क्या है? इस आधार पर ही **गांधी** जी तप, संयम, अहिंसा, सत्य आदि का परिपालन करते हुए शरीरश्रम भी करते थे। वह नित्यचर्या में कृषिकार्य भी सम्मिलित करते थे तथा स्वयं सफाई कार्य भी किया करते थे। हम

को इसकी ओर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि बौद्धिक बातों पर हमारा ध्यान अधिक रहता है, पर सामान्य दिनचर्या में शरीरश्रम पर हम कम बल देते हैं।

गांधी जी **व्यावहारिक दार्शनिक** थे, वह उन दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते थे जिनका वह व्यवहार में उपयोग कर सकते थे। उनका **पवित्र साधन** से **पवित्र साध्य** की प्राप्ति का सिद्धान्त भारतीय जनमानस में घर कर गया है। वह मानते थे कि अहिंसा रूपी पवित्र साधन से शुद्ध सत्य की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार वह साध्य साधन के अभेद सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में अहिंसा वृत्ति पर बल देने के कारण गांधी जी के सिद्धान्त व्यावहारिक बन गये। उनका विरोधी के प्रति **प्रेम दृष्टि, सक्रिय प्रतिरोध, सत्याग्रह, अहिंसक व्यवहार** आदि ऐसे व्यावहारिक शस्त्र थे, जिन के बल पर **ब्रिटिश** हूकूमत से उन्होंने मुकाबला किया था। **अध्यात्ममार्ग** एवं **भारतीय संस्कृति** के परिपोषक लोगों को **गांधी** जी के दिखलाये मार्ग पर बढ़ने का उत्साह मिल सकता है। सभीं आगत विद्वज्जन वर्तमान परिस्थिति में गांधी जी की उपादेयता पर अपने विचार व्यक्त कर उस रास्ते को स्पष्ट करेंगे, जिनपर चलकर वर्तमान पीढ़ी को रोशनी प्राप्त हो।



गांधीदर्शन

प्रो० राजाराम शास्त्री

गांधीजी का दर्शन उनके **साध्य-साधन** सिद्धान्त में निहित है। यह सिद्धान्त उनकी राजनीतिक पद्धति में ही नहीं, उनके आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और वैयक्तिक सभी विचारों में अनुस्यूत है और इसी के कारण उनके सभी विचारों में एक व्यापकता और सार्वभौमता दिखाई देती है। दर्शन प्रकृत्या सार्वभौम होता है, इसलिये गांधीजी के विचारों का वही अंश उनका दर्शन माना जायेगा, जिसका प्रयोग सार्वभौम हो, और जो विशिष्ट परिस्थितियों से सीमित न होकर, न केवल मानव जीवन के सभी अंगों में प्रत्युत प्राकृतिक नियमों में भी प्रयुक्त हो सके।

साधन, साध्य की सिद्धि के लिये होता है। किन्तु सर्वज्ञ न होने के कारण कोई मनुष्य किसी साधन से जिस साध्य की सिद्धि की कल्पना करता है, वह सदा सिद्ध हो ही जाय, ऐसा नहीं होता। असफलता की स्थिति में **साधक** को यह विचार करना होता है कि उसके साधन में क्या कमी रह गयी, जिससे वह अपने साध्य को सिद्ध न कर सका। फल के रूप का विश्लेषण करके यह देखा जा सकता है कि साधन में कौन सी कमी रह गयी थी। इस प्रकार किसी साधन से प्राप्त होने वाले कल्पित साध्य के स्थान पर जो वास्तविक फल प्राप्त हुआ, वह फल कल्पित साध्य की तुलना में अंशतः या पूर्णतः कितना भिन्न है। इसको देखते हुये मनुष्य अपने **साधनों** का संशोधन करता है। और फिर उनका प्रयोग करके देखता है, जब तक कि उससे अपना वांछित फल न प्राप्त हो जाय। इस प्रकार कर्म करते हुए प्राप्त फलों या साध्यों के अनुभव से **साधनों का परिष्कार** होता है, और साध्यों के अनुभव प्रत्यावर्तित होकर नये साधनों या संशोधित साधनों को उद्भूत करता है। साधन और साध्य के बीच अनुभव का यह आदान-प्रदान बराबर चलता रहता है। इस दृष्टि से केवल इतना कहना सही नहीं है कि **शुद्ध साधन** से ही **शुद्ध फलों** की प्राप्ति हो सकती है अथवा सही साधन से ही वांछित फलों की प्राप्ति हो सकती है। साथ साथ यह भी कहना आवश्यक होगा कि किसी भी कार्य से वस्तुतः जो फल प्राप्त होते हैं उन्हीं का

वह साधन है और यदि दूसरा या उससे अच्छा फल चाहिए तो फिर दूसरे अच्छे साधनों का प्रयोग करना होगा। इस तरह साध्य भी साधन के स्वरूप को निर्धारित करता है न केवल यह कि साधन ही साध्य के स्वरूप को निर्दिष्ट करता है प्रत्युत दोनों परस्परापेक्षी हैं। ऐसी स्थिति में जब गाँधी जी ने यह कहा कि यदि हिंसामय साधनों का प्रयोग किया जायेगा तो अहिंसात्मक समाज नहीं प्राप्त हो सकता, पर यह कोई इलहामी बात नहीं थी, अपनी प्रतिभा से उन्होंने इतिहास की गति से ही यह निर्णय निकाला था। क्योंकि इतिहास में जितने युद्ध हुए वे स्थाई शान्ति की स्थापना नहीं कर सके। उनकी हिंसात्मक प्रतिक्रिया देर या सबेर अवश्य हुई। इसलिए ऐतिहासिक अनुभव के इसी सारांश से गांधीजी ने यह नतीजा निकाला कि कोई भी युद्ध या महायुद्ध अन्तिम युद्ध नहीं हो सकता, और न उससे स्थायी शान्ति की स्थापना हो सकता है। यदि शान्ति स्थापित करनी है तो शान्तिमय अर्थात् अहिंसात्मक साधनों से ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करना होगा।

सैनिक आक्रमक अथवा अन्यायमूलक व्यवस्था के निराकरण के लिए संघर्ष तो करना ही होगा, लेकिन वह संघर्ष अहिंसात्मक रूप में कल्पित किया जाय तभी वांछितफल प्राप्त हो सकता है। जो बात युद्धों के लिए सही है वही बात अत्याचारी अथवा शोषक व्यवस्था के लिए भी सही होनी चाहिए। यदि अपने विरोधी में द्वेष की प्रतिक्रिया उत्पन्न किये विना न्याय प्राप्त किया जा सके, तभी वह न्याय स्थायी होगा। इसी निष्कर्ष के अधीन गांधीजी ने असहयोग, सत्याग्रह, प्रतिरोध, आदि ऐसे साधनों का आविष्कार किया जिनसे भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। और जिनका प्रयोग विश्व में सभी अत्याचार पीड़ित लोग कर रहे हैं। स्वातन्त्र्य आन्दोलन के प्रसंग में देश की कुछ आर्थिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन की भी कल्पना की गयी, जिससे सामान्य जनता का सहयोग भी प्राप्त हुआ। और स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद जमीन्दारी उन्मूलन, राज्यों का विलयन, आदि आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन प्रायः विना हिंसा के सम्पन्न किये गये। और सामाजिक ढ़ाचे में यद्यपि अभी तक कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है किन्तु उस परिवर्तन की बुनियाद पड़ चुकी है।

ऐसा तो नहीं प्रतीत होता कि कोई भी साधन यदि मनुष्य प्रयुक्त करता है तो वह साध्य की ओर विलकुल ही अग्रसर नहीं होता, क्योंकि जो भी साधन मनुष्य किसी कार्य के लिए चुनता है तो उसके पीछे कुछ न कुछ संचित अनुभव अवश्य रहता है। प्रायः यही देखा जाता है कि साधनों की अपूर्णता के कारण साध्य भी पूरे नहीं होते, एक सीमित रूप में ही प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से यह कहना चाहिए कि

साधन अपने स्वरूप से साध्य को सीमित करते हैं। यह एक दार्शनिक सिद्धान्त बन जाता है। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में तो गांधी जी के नेतृत्व में यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ ही। अब देखना यह है कि क्या अन्य क्षेत्रों में भी यह यथावत चरितार्थ होता है। उदाहरण के लिए ज्ञान का क्षेत्र लीजिए--'**यूक्लिड** ने **ज्यामिति** का एक सिद्धान्त बनाया था कि त्रिभुज के तीन कोणों का जोड़ १८० डिग्री होता है' और यह सिद्धान्त उन्होंने अनगिनत त्रिभुजों को देखकर बनाया होगा। किन्तु आगे चल कर यह सिद्धान्त ऐकान्तिक रूप में असिद्ध हो गया। और दूसरे मनीषियों ने देखा कि युक्लिड का सिद्धान्त केवल सीधे धरातल पर लागू होता है यदि गोल वस्तु पर त्रिभुज बनाया जाय तो उसके कोणों का योग १८० डिग्री से अधिक हो जायेगा। तो ऐसा तो नहीं हुआ कि युक्लिड का सिद्धान्त नितान्त मिथ्या सिद्ध हो गया, केवल उसकी सीमा निर्धारित हो गयी। और वह सीधे धरातल तक सीमित हो गया। विज्ञान के विकास में हम यही देखते हैं कि किसी मनीषी ने अपनी **प्रतिभा** और **अन्तर्दृष्टि** से यदि किसी सत्य का अन्तर्दर्शन किया तो प्रगति के प्रवाह में आगे आने वाले मनीषी भी उसे सर्वथा असत्य नहीं सिद्ध नहीं कर सके, केवल सीमित सत्य की कोटि में उसे पहुँचा दिया। और ज्ञान का प्रवाह उत्तरोत्तर इसी प्रकार सम्पन्नतर और शुद्धतर होता गया। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि **यूक्लिड** के सत्य की सीमा उसके साधनों के कारण निर्दिष्ट हुई क्योंकि उसने गोल धरातल पर त्रिभुज बनाकर नहीं देखा था। इसीलिए यह कहना पड़ता है कि यदि मनुष्य अल्पज्ञ न होता और ऐतिहासिक अनुभव काल-सीमित न होता तो हर साधन अपने साध्य को पूर्णतः सिद्ध कर लेता। यही कारण है कि साध्य की सीमा का अनुभव होने पर पलट कर अपने साधनों की जांच करनी पड़ती है। और **साध्य** के द्वारा ही इंगित होने वाली सीमा को देखते हुए **साधन** की त्रुटि को पूर्ण करते हुए पूर्णतर साध्यों की ओर अग्रसर होना होता है।

मानव जीवन में कुछ **आदर्श** और **मूल्य** होते हैं। इसीलिए उसमें शुद्ध और अशुद्ध, उचित ओर अनुचित आदि मूल्यात्मक प्रत्ययों का प्रयोग होता है। ज्ञान के क्षेत्र में **मूल्य निरपेक्षता** ही मूल्य मानी जाती है, केवल सत्य और असत्य, वस्तुनिष्ठ और बुद्धयपेक्ष्य आदि प्रत्ययों का प्रयोग होता है और वस्तुनिष्ठ सत्य पर पहुंचना ही आदर्श माना जाता है। जिस साधन से जितनी मात्रा में वस्तुनिष्ठ सत्य की उपलब्धि होती है वही **साधन** उतनी ही मात्रा में **शुद्ध** माना जाता है। **गांधी** जी स्वयं अपनी **अहिंसा** को पूर्ण नहीं मानते थे, बीच बीच में अपने तात्कालिक उद्देश्यों की विफलता के अवसर पर कहते थे कि यदि मेरी अहिंसा पूर्ण होती तो ऐसा न होता। इस प्रकार प्राप्त साध्यों की मात्रा को देखते हुए साधनों की मात्रा निर्धारित होती है और उनकी

मात्रा को बढ़ाकर और शुद्धतर बनाकर ही साध्यों की प्राप्ति में प्रगति होती है। ज्ञान के क्षेत्र में ऐसा ही होता आया है। प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक **जगदीशचन्द्र बसु** ने जब इस बात का आविष्कार किया कि **वनस्पतियों** में भी प्राणियों की भांति **चेतना** होती है तो अन्य वैज्ञानिकों ने उनकी इस घोषणा को इसी रूप में स्वीकार नहीं किया। उन्होंने यह मांग की कि **जगदीशचन्द्र वसु** किन साधनों से इस नतीजे पर पहुचे हैं और श्रीवसु ने वैज्ञानिकों के सम्मुख उन यान्त्रिक उपकरणों का प्रदर्शन किया, जिनके द्वारा वह वनस्पतियों में प्राणस्पन्दन और प्राणियों की भाँति चेतना का प्रवाह देखते थे। वैज्ञानिकों ने यह टीका की कि वनस्पतियों का स्पन्दन बिल्कुल सर्वथा प्राणियों की ज्ञानवाहिनी नाड़ियों से प्रवाहित होने वाली चेतना के समकक्ष नहीं है। उसे स्पन्दन भले ही कहा जाय, पर चेतना नहीं कहा जा सकता। सारांश यह कि वैज्ञानिकों ने **श्रीवसु** के **प्रमाण** को देखकर उनके प्रमेय के स्वरूप और उसकी सीमा को निर्धारित किया। **ज्ञान** के क्षेत्र में जितना भी **शोध** या **आविष्कार** होता है, उन सब में यही प्रक्रिया चलती है।

अब देखना यह हैं कि जब साध्यों के सन्दर्भ को छोड़ कर साधनों का कोई अर्थ नहीं होता तो फिर **साधनों** को **गांधीदर्शन** में इतना महत्त्व क्यों दिया गया? उन्हें **साध्यों** से भी उपर मान लिया गया। बात यह है कि एक बार जब हम अपने साध्यों को निर्दिष्ट कर लेते तो फिर मनुष्य को अपनी सारी चेष्टाओं को अनुकूल साधनों के विकास में ही करना होता है। यहां पर **श्रीमद्भगवद्गीता** का यह कथन प्रासंगिक है। **"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"** फल तो साध्य है जो हमारे लिए वांछित है, किन्तु वे अपने हाथ में नहीं हैं। यह तो साधनों का विकास और प्रयोग होने के बाद पता चलेगा कि उनसे कैसा और कितना फल प्राप्त होता है? इसलिए हमारा मुख्य कार्य अनुकूल साधनों का आविष्कार और विकास करना ही हो जाता है। इसीलिए **गांधीजी** कहते हैं कि हमें शुद्ध साधनों के प्रयोग पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए, फल तो तदनुकूल ही होंगे। इसलिए आरम्भ में एक बार उनके निर्धारित हो जाने के बाद फिर उनकी चिन्ता करने की आवश्यकता नही है। कर्मक्षेत्र में यह बात यहाँ तक चली जाती है कि साधन और साध्य में कोई भेद ही नही रह जाता। अगर साधन अहिंसा है तो उससे जो फल प्राप्त होगा, वह भी अहिंसा ही होगा अर्थात् **अहिंसात्मक** एवं शान्ति साधनों से जो समाज प्राप्त होगा वह भी, और वही, अहिंसात्मक एवं शान्तिमय समाज होगा। यदि ऐसा नहीं होता या पूर्णरूप से नहीं होता तो यह मानना पड़ेगा कि हमारे साधनों में कमी है और हमें उनको पूर्णतर बनाना पड़ेगा। शायद इसी प्रकार हम अधिकाधिक

शान्ति की ओर अग्रसर होते जायेंगे, चाहे हमारी इस प्रगति का कोई चरम बिन्दु न हो। इतना तो अवश्य ही निश्चित हो जाता है कि मूल रूप में हमारा साधन शुद्ध है और सही है और वह वांछित फल की ओर ही हमें ले जा रहा है विपरीत दिशा में नहीं, यही साधन का स्वाभाविक महत्त्व है।

गांधीचिन्तन की सार्थकता

प्रो० मुकुटबिहारीलाल

गांधी जी धर्मनिष्ठ थे। धर्म पर उनकी अगाध श्रद्धा थी। धर्म का अनुगमन वह अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे। उनका सारा जीवन धर्म की भावना से अनुप्राणित था। धर्म की व्यापकता और सार्वभौमिकता पर उनका दृढ़ विश्वास था। वह जड़ता और संकीर्णता को धर्म की प्रगति के लिए घातक तथा उनका परित्याग जीवनोत्कर्ष के लिये आवश्यक समझते थे। सब धर्मों के प्रति आदर भाव, उदार और व्यापक दृष्टिकोण से विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अध्ययन एवं उनके सर्वमान्य व्यापक तत्त्वों के आधार पर सर्वधर्म समन्वय के लिये प्रयत्न भी, वह धर्म की प्रगति और प्रतिष्ठा के लिये आवश्यक समझते थे। वह चाहते थे कि साम्प्रदायिक आग्रह को छोड़कर हम सब अपने अपने धर्म पर आस्था रखते हुए अन्य धर्मों के सद्गुणों को निः संकोच ग्रहण करें, जीवन के नवीन अनुभवों तथा आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में धर्म का विकास करें अर्थात् नवीन धार्मिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित और प्रतिष्ठित करें। गतिशील संसार में उदार धार्मिक भावना तथा गतिशील धर्म ही जीवनोत्कर्ष में सहायक हो सकता है। धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के लिए गांधीजी के इन सभी विचारों की निः सन्देह बड़ी उपादेयता है।

गांधीजी योग, ध्यान और समाधि के बजाय भक्ति से समन्वित कर्मयोग को आत्मसिद्धि का सर्वोत्तम साधन समझते थे। उनकी धारणा थी कि तपस्या के लिए संसार का परित्याग आवश्यक नहीं है। मानव कल्याण में जीवन का समर्पण तथा समाजहित की पुष्टि और अभिवृद्धि के निमित्त यज्ञीय भावना से समाजोपयोगी व्यवसाय में संलग्नता भी तपस्या ही है। इनके द्वारा ही अभ्युदय और निः श्रेयस् दोनों की सिद्धि सम्भव है। गांधीजी स्वयं पूर्ण निष्ठा से प्रार्थना और स्मरण द्वारा भगवान् की उपासना करने के साथ साथ संसार की निष्काम सेवा द्वारा ईश्वर आराधना करते थे। वह महर्षि कपिल के इस विचार से सहमत थे कि ईश्वर को सब प्राणियों में स्थित तथा सब प्राणियों का आत्मा जानकर सब प्राणियों में दान, मान, मित्रता

और समदृष्टि द्वारा ईश्वर की आराधना मनुष्य का कर्तव्य है। सब प्राणियों के प्रति सद्भावना, मानव व्यक्तित्व का आदर, सबकी निष्काम सेवा, सबके साथ समता का व्यवहार वह प्रत्येक मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य समझते थे। वह **प्रह्लाद** के इस विचार से पूर्णतया सहमत थे कि समता ईश्वर की आराधना है (समत्वमाराधनमच्युतस्य) और वरिष्ठता के अहंकार को वह ईश्वर और मानव के प्रति अपराध समझते थे।

गांधीजी कहते थे कि **सत्य ईश्वर है, ईश्वर सत्य है**। इस तरह वह सत्य को संसार की पारमार्थिक सत्ता, धर्म का शाश्वत सिद्धान्त, जगत् के नैतिक विधान का मूल तत्त्व स्वीकार करते थे। उनके विचार में **सत्य** ही सर्वोत्तम **ज्ञान** है, सत्य का अनुसारण ही सर्वोत्तम **शील** है तथा सत्य का अनुष्ठान ही **पवित्र व्रत** है। वह चाहते थे कि सत्य ही हमारे जीवन का आधार हो, सत्य में ही हमारे सब क्रिया-कलाप केन्द्रित हों, हर परिस्थिति में हम सत्य का दृढ़ता से पालन करें। संसार में सत्य को प्रतिष्ठा ही हमारे जीवन का लक्ष्य हो। सत्य की बलवती शक्ति पर उनका दृढ़ विश्वास था। उनकी धारणा थी कि अन्ततोगत्वा सत्य की विजय निश्चित है, सत्य के आधार पर ही मानव का नैतिक और आध्यात्मिक विकास, समाज का उत्कर्ष तथा संसार की स्थायी शान्ति तथा वास्तविक प्रगति सम्भव है। गांधी जी **नारदमुनि** के इस विचार को स्वीकार करते थे कि **यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यं** अर्थात् **जिससे प्राणिमात्र का अधिक हित हो वही सत्य** है। उनकी दृष्टि में विश्वहित सत्य का मूल मन्त्र है, जनकल्याण की क्षमता ही सत्य की परीक्षा है, जीवनमात्र के प्रति सद्भावना सत्यनिष्ठ का कर्तव्य है। गांधी जी के विचार में यदि **जनकल्याण** सत्य को परख है तो **अन्तः करण** ही उसकी सर्वश्रेष्ठ कसौटी है और **अहिंसा** ही सर्वोत्तम साधन है। वहीं कार्य और विचार सत्य है जो अन्तः करण को जनहितकारी प्रतीत हो। वह उस शब्द प्रमाण को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे सर्वमान्य सिद्धान्तों अथवा जनकल्याण के प्रतिकूल हो। यद्यपि सत्य सनातन है, पर परिवर्तनशील संसार में उसकी नई नई अभिव्यक्ति होती रहती है। नई परिस्थितियों और अनुभवों की पृष्ठभूमि में सद्विवेक और अन्तः करण द्वारा नये विचारों का सर्जन तथा पुराने सिद्धान्तों की नयी व्याख्या उन्नति के लिए अनिवार्य है। इस तरह सत्य विकासशील है। विकास में हीं जीवनोत्कर्ष और कल्याण है।

अहिंसा द्वारा ही सत्य की प्रतिष्ठा सम्भव है। हिंसा तो सत्य के बजाय दम्भ, द्वेष, बैर आदि असद् वृत्तियों की ही वृद्धि करता है। साधन और साध्य का गहरा सम्बन्ध है। सत् साधनों द्वारा ही शुभ साध्य की सिद्धि सम्भव है। अपवित्र साधनों

से साध्य भी अपवित्र हो जाता है। सक्रिय अहिंसा ही सर्वोत्तम सत् साधन है। सत्य की प्रतिष्ठा के साथ साथ अहिंसा का अनुसरण भी मानव का परम धर्म अर्थात् कर्तव्य है। अहिंसा महान् व्रत के साथ साथ अमोघ शक्ति भी है। उसका निष्ठापूर्वक सक्रिय प्रयोग आत्मोत्कर्ष और समाजोत्थान दोनों के लिए श्रेयस्कर है। गांधी जी चाहते थे कि सत्यनिष्ठ हिंसा और निष्क्रिय अहिंसा त्याग कर सक्रिय अहिंसा द्वारा दुष्टों का शोधन करें, त्याग और सत्य प्रतिष्ठित करें तथा दमन अत्याचार, शोषण, आधिपत्य और हिंसा पर विजय प्राप्त करें।

गांधी जी सांस्कृतिक पुरुष थे। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा थी। उसका अध्ययन और उसके सजीव तत्त्वों का जीवन में संचार वह प्रत्येक भारतीय का पुनीत कर्तव्य समझते थे। उन्हें पाश्चात्य संस्कृति की भौतिकवादी प्रवृत्ति पसन्द नहीं थी। पाश्चात्य की अन्धाधुन्ध नकल को तो वह बहुत ही गलत समझते थे। पर उनके विचार में भारतीय संस्कृति की पुरानी प्रथाओं का पुनरुज्जीवन तथा उनके आधार पर संस्कृति का विशुद्धीकरण असम्भव और हानिकर है। उनकी धारणा थी कि हमारे पूर्वजों ने संस्कृति की विभिन्न धाराओं का समन्वय करते हुए संस्कृति को विकसित और पुष्ट किया है और हमें भी सम्मिश्रण और समन्वय द्वारा संस्कृति का विकास करना ही चाहिए। वह चाहते थे कि हम पाश्चात्य संस्कृति के साथ साथ संसार की दूसरी संस्कृतियों का भी अध्ययन करें और उनके सजीव जनोपकारी तत्त्वों को ग्रहण कर उन्हें अपनी संस्कृति का अंग बना लें, तथा भारत में प्रचलित विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के समन्वय की ओर ध्यान दें। भारतीय संस्कृति की एकता की पुष्टि तथा उसके विकास के लिए इन विचारों की काफी सार्थकता है।

गांधीजी नैतिकता को धर्म और सत्य दोनों का महत्वपूर्ण अंग तथा जीवनोत्कर्ष का सर्वश्रेष्ठ उपकरण स्वीकार करते थे। सभी धर्म नैतिकता से विभूषित हैं और नैतिक जीवन ही धार्मिक जीवन हो सकता है। सत्यनिष्ठ के लिये नैतिक नियमों का पालन तथा नैतिकोत्कर्ष के लिये प्रयत्न नितान्त आवश्यक है। नैतिकोत्कर्ष के लिये आत्मनियन्त्रण और मानवकल्याण में संलग्नता दोनों ही परम आवश्यक हैं। संयम नैतिक जीवन का सद्गुण तथा उच्छृंखलता उसका घातक है। मानव कल्याण सर्वश्रेष्ठ नैतिक नियम है। मानव-कल्याण की अभिवृद्धि ही नैतिकता का लक्ष्य है। सामाजिक कर्तव्यों का पालन तथा निष्काम लोकसेवा जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक है। इन विचारों की सार्थकता ध्रुवसत्य है।

गांधीजी व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर तथा उनकी मर्यादाओं के सामंजस्य पर जोर देते थे। उनकी धारणा थी कि **'मनुष्य स्वतन्त्र और अन्योन्याश्रित'** दोनों है। मानव-व्यक्तित्व का आदर और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा समाज का कर्तव्य है। जीवन की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति मानव का अधिकार है। स्वतन्त्र मानव ही समाज की सच्ची ठोस सेवा तथा अपने जीवन का उत्कर्ष कर सकता है। पर समाज में मर्यादित स्वतन्त्रता ही सम्भव है। **अधिकार पर कर्त्तव्य** का बन्धन है। दूसरों की स्वतन्त्रता की रक्षा तथा समाज की मर्यादाओं का पालन प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है उसकी स्वतन्त्रता पर यह अनिवार्य प्रतिबन्ध है। सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन, उनकी सर्वथा उपेक्षा व्यक्तित्व के विकास के लिये भी घातक है। मानव **'सामाजिक प्राणी है'**, अपनी सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास के लिये उसे सामाजिक सहयोग की जरूरत होती है। 'सामाजिक उन्नति की आवश्यकताओं से व्यक्तित्व को समन्वित करके ही मानव अपने मौजूदा पद और प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सका है।' सम्पूर्ण समाज के कल्याण के निमित्त सामाजिक नियन्त्रण का स्वैच्छिक अनुवर्तन मानव और समाज दोनों को समृद्ध करता है। मानव कल्याण को समर्पित सामाजिक सेवा द्वारा व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रेरणाओं को परिपुष्ट तथा नैतिक और आध्यात्मिक विकास की समृद्धि कर सकता है, मानवमात्र से अपना एकत्व प्रतिष्ठित तथा समत्व की सिद्धि कर सकता है।

गांधीजी का विचार था कि संसार और जीवन दोनों गतिशील हैं, परिवर्तन उनका लक्षण है, विकास उनका लक्ष्य है। मानव निरन्तर प्रगति कर रहा है। मानव स्वभाव तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में विकास सम्भव है। "नीच और पतित व्यक्तियों में भी उस ऊँचे से ऊँचे स्थान को प्राप्त करने की क्षमता है जो कभी कोई मानव प्राप्त कर पाया है। उन्नति के लिये प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है।" यदि हम उन्नति करना चाहते हैं तो इसके लिये हमें इतिहास की पुनरावृत्ति करना नहीं है, बल्कि नये इतिहास को बनाना है। आत्मोन्नति और राष्ट्रोन्नति दोनों के लिये साथ साथ प्रयत्न करना आवश्यक है। व्यक्तियों की उन्नति के बिना राष्ट्र की उन्नति तथा राष्ट्र की उन्नति के बिना व्यक्ति की उन्नति सम्भव नहीं है। जो **व्यक्ति समाज का सुधार करना चाहते हैं, उन्हें पहले अपना सुधार करना चाहिए।** तभी समाज पर उनका प्रभाव पड़ेगा और वे समाज की ठोस सेवा कर सकेंगे। नैतिक उत्थान में ही मानव जाति का विकास निहित है। वही मानव-विकास का मापदण्ड है। हमें नैतिक और बौद्धिक विकास के साथ-साथ मानव कल्याण और आनन्द की वृद्धि के लिये भी प्रयत्न करना है। सर्वोदय अर्थात् सबका, निकृष्ट से निकृष्ट का भी उदय और कल्याण हमारे प्रयासों का लक्ष्य होना चाहिए।

गांधीजी स्वतन्त्रता के साथ साथ **समता** और **बन्धुता** को सामाजिक संगठन का मूल मन्त्र स्वीकार करते थे। बन्धुत्व सामाजिक जीवन का प्राण है। बन्धुत्व विहीन समाज जीवन रहित है, निर्जीव अस्थिपंजर है। बन्धुत्व और समता का गहरा सम्बन्ध है। समता से अनुप्राणित बन्धुत्व ही सच्चा बन्धुत्व है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुये गांधीजी समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व की कसौटी पर सामाजिक व्यवस्था को परख कर उसमें समुचित परिशोध कर उनके आधार पर समाज का पुनर्गठन करना चाहते थे। उनके विचार में ऊँच-नीच की भावना पर आश्रित जाति व्यवस्था और जन्मजात अस्पृश्यता का विचार इन सिद्धान्तों के विरुद्ध तथा समाज की प्रगति में बाधक तथा जीवन के विकास में बड़ी रुकावट हैं। उनकी धारणा थी कि जन्मजात अस्पृश्यता 'जातिपांति की सबसे निन्दनीय परिणाम है।' **अस्पृश्यता** बुद्धि, दया, करुणा तथा प्रेम की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है वह मानव जाति के प्रति बड़ा ही भयंकर अपराध है, इसने हिन्दू समाज को पतित और विषाक्त बना डाला है। गांधीजी की धारणा थी कि समाज की सेवा के कारण कोई व्यक्ति पतित और दुःख का भागी नहीं बनाया जा सकता। अतः भंगी, आदि श्रमिकों को उनकी सेवाओं के कारण पतित समझना अनुचित है। गांधीजी तो चाहते थे कि समाज में सभी समाजोपयोगी व्यवसायों को समान आदर प्राप्त हो। हिन्दू धर्म को पवित्रता तथा हिन्दू समाज के विकास के लिए अस्पृश्यता निवारण तथा जाति व्यवस्था का अन्त नितान्त आवश्यक है।

पर गांधीजी **वर्णधर्म** के समर्थक थे। उनका विचार था कि वर्ण जन्म से ही नियत होता है और वह वंश-संस्कार के नियम पर अवलम्बित है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका के लिए अपना पैतृक व्यवसाय ही अंगीकार करना चाहिए। हां, अवकाश के समय प्रत्येक व्यक्ति दूसरे तरीकों से अपनी क्षमता के अनुसार समाज की सेवा कर सकता है। वर्णधर्म के पुनरुद्धार को कठिन समझते हुए भी गांधी जी उसका पुनरुद्धार कर एक ऐसी वर्णव्यवस्था को प्रतिष्ठित करने के पक्ष में थे जो वरिष्ठता के अहंकार से निर्मुक्त हो, जिसमें सब वर्णों और व्यवसायों को समान पद पर और गौरव प्राप्त हों, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवनोत्कर्ष तथा अपनी नैतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति की समान सुविधाएं प्राप्त हों। सब नागरिकों को सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भाग लेने के समान अधिकार हों और विभिन्न वर्णों से सम्बन्धित व्यक्तियों के सामाजिक संसर्ग **समता** पर आश्रित हों।

गांधीजी की वर्णव्यवस्था की व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। वर्णव्यवस्था पर आस्था रखने वाले विद्वान् गांधीजी की व्याख्या को भारतीय परम्परा के प्रतिकूल बताते हुए उसकी बड़ी समीक्षा करते हैं। दूसरी ओर जाति विहीन समसमाज के समर्थकों की राय है कि जातिप्रथा की सैद्धान्तिक जड़े वर्णव्यवस्था में है, एक का अन्त कर दूसरे को प्रतिष्ठित करना या बनाये रखना असम्भव है। जाति-विहीन समाज के लिए वर्णविहीन होना भी आवश्यक है। पर **श्रीमशरूवाला** आदि सर्वोदयी विद्वान् गांधी जी के वर्णधर्म के सिद्धान्त को गांधीजी के चिन्तन और उनकी समाजव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। उधर बहुत से विद्वानों की धारणा है कि यह विवाद निरर्थक है, क्योंकि जातिव्यवस्था से पृथक् वर्णधर्म का पुनरुद्धार कठिन ही नहीं असम्भव है।

समसमाज के पोषक गांधीजी **स्त्री** और **पुरुष** की **समता** के भी समर्थक थे। उन्हें दुःख था कि पुरुषों ने अहंकार में पराभूत हो स्त्रियों को उनके गौरव से वंचित कर उनके साथ-साथ सारे समाज का अधःपतन किया है। गांधीजी की धारणा थी कि स्त्रियों को अबला कहना उनके साथ अन्याय है। **शारीरिक शक्ति** में पुरुषों की तुलना में वे भले ही कमजोर हों, पर **नैतिक शक्ति** में तो वे पुरुषों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। स्त्रियों के गौरव को स्वीकार करके ही 'आंशिक पक्षाघात' के रोग से समाज की रक्षा की जा सकती है। इसके लिए जरूरी है कि हम भारतीय साहित्य और शास्त्रों के उन वाक्यों को भूल जायें, जिनमें अतिरंजित ढंग से स्त्रियों की निन्दा की गयी है, उन सामाजिक रीतियों और प्रथाओं में सुधार करें, उनके उत्कर्ष की समुचित सुविधा की व्यवस्था करें तथा सार्वजनिक कामों में उनके सक्रिय सहयोग का स्वागत करें। गांधीजी चाहते थे कि स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाय कि वे अपने कौटुम्बिक और सार्वजनिक कर्तव्यों का ठीक तौर पर पालन कर सकें। कुटुम्ब ही स्त्रियों का विशिष्ट कार्यक्षेत्र है। **स्त्री-शिक्षा** की व्यवस्था में कुटुम्ब सम्बन्धी शिक्षा की समुचित व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। गांधीजी **परिवारनियोजन** आवश्यक समझते थे। पर उनके में 'आत्मसंयम द्वारा ही परिवार-नियोजन' श्रेयस्कर हो सकता है। इसी में समाज का स्वास्थ्य, गौरव तथा नैतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष है। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के समर्थक स्त्रियों के उत्कर्ष सम्बन्धी गांधीजी के बहुत से विचारों को शास्त्र विपरीत बताकर उनका तिरस्कार कर सकते हैं, पर उनका अनुसरण करके ही भारतीय समाज आधुनिक युग में उन्नति कर सकता है, अपने खोये हुए गौरव को पुनः प्राप्त कर सकता है।

गांधीजी मानव प्रेम से अनुप्राणित तथा देशबन्धुत्व पर आश्रित राष्ट्रीयता के समर्थक थे। वह देशबन्धुत्व तथा मानवमात्र के प्रति सद्भावना को अद्वैत की सिद्धि का आवश्यक साधन मानते थे। जो व्यक्ति **सम्प्रदाय, भाषा** या **वंश** के भेद के कारण अपने देशवासियों के साथ **आत्मीयता** अनुभव नहीं कर सकता, वह भला सारे विश्व से **अद्वैत** की सिद्धि किस तरह कर सकता है। इस तरह गांधीजी के विचार में देशबन्धुत्व पर आश्रित राष्ट्रीयता, अर्न्तराष्ट्रीयता तथा विश्वभावना का सोपान है। गांधीजी जानते थे कि **संकीर्ण साम्प्रदायिक** तथा **आक्रमणशील राष्ट्रीयता** अर्न्तराष्ट्रीय सहयोग, विश्वशान्ति एवं मानवप्रेम में बाधा उपस्थित करती है। अतः वह इनके विरुद्ध थे। राष्ट्र प्रेम के साथ साथ विश्वप्रेम उनका लक्ष्य था। वह चाहते थे कि देश स्वतन्त्र और समृद्ध हो, इसलिए नहीं कि सर्वशक्ति-सम्पन्न भारत आक्रमणशील उपायों द्वारा सारे विश्वपर अपना आधिपत्य अथवा प्रभुत्व प्रतिष्ठित करे, बल्कि इसलिए कि समता और स्वतन्त्रता के आधार पर सारे विश्व के साथ सहयोग को प्रतिष्ठित करते हुए वह मानवमात्र की अभिवृद्धि में अपनी इच्छा से अधिक से अधिक योगदान कर सके। गांधीजी के ये विचार सार्थक हैं। इनका अनुकरण शान्ति, अभ्युदय और अद्वैत की सिद्धि के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

गांधीजी वैज्ञानिकों के मनोयोग के प्रशंसक तथा विज्ञान द्वारा मानव कल्याण की अभिवृद्धि के समर्थक थे। पर वह विज्ञान के हिंसात्मक प्रयोगों तथा ध्वंसात्मक आविष्कारों के विरोधी थे। धनलिप्सा की तुष्टि के लिये वैज्ञानिक तथ्यों और आविष्कारों का प्रयोग वह सर्वथा अनुचित समझते थे। वह मानवताविहीन विज्ञान को अनिष्टकर तथा मानवता से समन्वित विज्ञान को श्रेयस्कर समझते थे। प्राविधिक क्षेत्र में वह विज्ञान की सहायता से छोटे और मझोले उद्योगों की शिल्पविधि में इस प्रकार के सुधारों और आविष्कारों के पक्ष में थे जिनसे शिल्पकार अधिक आसानी से अपना जीवनोपार्जन कर सकें। पर विज्ञान द्वारा उन यन्त्रों या बड़ी बड़ी मशीनों के आविष्कार के विरोधी थे। जिनके द्वारा आर्थिकशक्ति के केन्द्रीकरण में तथा श्रमिकों के शोषण एवं उनकी बेकारी में वृद्धि हो। बड़ी-बड़ी मशीनों द्वारा औद्योगीकरण की सनक को वह मानवजाति का अभिशाप समझते थे। वह **आधुनिक उद्योगवाद** के विरोधी थे, फिर भी गांधी जी उन उद्योगों और कार्यों में बड़ी बड़ी मशीनों का प्रयोग उचित समझते थे जिनका निष्पादन उनके द्वारा ही आसानी से ठीक तौर पर हो सकता है या जिनसे छोटे और मझौले उद्योगों को ठीक तौर पर सरलता से चलाने के लिये छोटे और मझौले यन्त्र या अन्य प्राविधिक सुविधाएं प्राप्त

हो सकती हैं। मिसाल के तौर पर वह बिजली द्वारा संचालित मझौली शिल्पविधियों के पक्ष में थे और बिजली के उत्पादन के लिए बड़ी मशीनों के प्रयोग को उचित समझते थे। इस तरह जनता के हित की पोषक मशीनों का प्रयोग ही वह ठीक समझते थे।

अहिंसा के उपासक गांधीजी अहिंसा के आधार पर आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे। वह जानते थे कि प्रत्येक व्यवसाय में थोड़ी बहुत हिंसा होती ही है। पर उनके विचार में वह व्यवसाय अहिंसात्मक है जो 'बुनियादी तौर पर हिंसा से मुक्त हो, और दूसरों के शोषण और ईर्ष्या से लिप्त न हो।' उनकी धारणा थी कि जहां कारीगरों द्वारा स्वचलित दस्तकारियां शोषण और दासता से मुक्त होती है, वहां पूंजीपतियों द्वारा संचालित बड़े बड़े उद्योगों द्वारा किसी न किसी मात्रा में श्रमिकों का शोषण होता ही है। उनके विचार में आत्म-निर्भर गांवों के आधार पर ही अहिंसात्मक आर्थिक व्यवस्था का निर्माण हो सकता है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए गांधीजी व्यक्तिगत होड़ और लाभ के स्थान पर अहिंसा, सामाजिक न्याय, जनकल्याण तथा ग्रामीण आत्मनिर्भरता के आधार पर एक ऐसी विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था प्रतिष्ठित करना चाहते थे जो शोषण और आर्थिक आधिपत्य के दोषों से मुक्त हो, और जिसमें सब लोगों को भरपूर मानवोचित रोजगार तथा निर्वाह योग्य रोजी प्राप्त हो सके। और सब सुख से समता और स्वतन्त्रता का जीवन बिताते हुए अपनी सांस्कृतिक और नैतिक अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति कर सकें। यह व्यवस्था स्वतन्त्र सहकारिता पर अवलम्बित ग्रामीण अर्थतन्त्र पर आधारित होगी, और इसमें बड़े-बड़े उद्योगों का सीमित तथा गौण स्थान होगा।

बड़े-बड़े उद्योगों में लगी सम्पत्ति राष्ट्र की सम्पत्ति है। इस पर पूजीपतियों का एकाधिकार अनैतिक है। उसका राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है। पर गांधीजी पूंजीपतियों की इच्छा के विरुद्ध उसका राष्ट्रीयकरण करने के बजाय उनकी मानसिक भावनाओं में आवश्यक परिवर्तन करके उनकी रजामन्दी से उनकी मिल्कियत के दावे को ट्रस्टीशिप अर्थात् न्यासिता में बदल देना चाहते हैं। वह चाहते हैं कि पूंजोपति लोग एक ट्रस्टी अर्थात् न्यासी की हैसियत से श्रमिकों तथा समाज के हित में अपने बड़े-बड़े उद्योगों का संचालन और प्रबन्ध करें, अपने परिवार के भरण पोषण के लिए उचित कमीसन लेकर बाकी आमदनी समाज और श्रमिकों

के हित में सुरक्षित रखें। उनकी न्यासिता राज्य नियन्त्रित होगी। **गांधीजी** के भक्त **श्रीप्यारेलाल** जी के एक नोट के अनुसार नियन्त्रित न्यासिता में राज्य को सम्पत्ति की मिल्कियत के सम्बन्ध में कानून पास करने का अधिकार होगा, उत्पादन का स्वरूप समाज के हित में निश्चित होगा, श्रमिकों के लिए जीवन निर्वाह योग्य मजदूरी की व्यवस्था होगी, उच्चतम आय की सीमा निर्धारित की जायेगी तथा उच्चतम और निम्नतम आमदनी का अन्तर धीरे-धीरे कम करते हुए **समता** की ओर लाया जायेगा।

गांधीजी **वितरण के सम्बन्ध में समता** के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। वह चाहते थे कि आय का इस तरह समान वितरण हो कि अपनी 'स्वाभाविक आवश्यकताओं' की पूर्ति के लिए सबको समुचित साधन उपलब्ध हों, पर किसी को व्यर्थ की कृत्रिम आवश्यकताओं पर धन का अपव्यय करने का अधिकार न हो। वह कहते थे कि 'जब तक श्रमिकों को जीवन निर्वाह योग्य वेतन नहीं मिलता तब तक नैतिकता और क्षमता की पुष्टि भी नहीं हो सकती। वह यह भी कहते थे कि समाज के साधनों का ध्यान रखे बगैर जिन लोगों ने अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा लिया है वह अपनी कृत्रिम जीवन-विधि की सन्तुष्टि की समाज से मांग करने के हकदार नहीं हैं।' गांधीजी यह स्वीकार करते थे कि समाज में बहुत से लोग हो सकते हैं कि जो जीवन निर्वाह से अधिक आमदनी करने की क्षमता रखते हैं। वह शक्ति भर काम करें, जीवन निर्वाह योग्य साधन अपने पास रखें, बाकी समाज हित में समर्पण कर दें।

उनका सिद्धान्त था—

सम्पदं लोकयात्रार्थं लोकः सर्वः समर्जयेत्।
अधिकं यदि सामर्थ्यं तल्लोकार्थं समर्पयेत्॥

यह सिद्धान्त श्रीमद्भागवत् के इस श्लोक में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुकूल है।

'यावद्भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत सः स्तेनो दण्डमर्हति।

आर्थिकव्यवस्था के सम्बन्ध में गांधीजी द्वारा प्रतिपादित बहुत से विचार सभी प्रगतिशील विद्वानों की दृष्टि में सार्थक हैं। सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा और निजी लाभ पर आश्रित बृहद् आर्थिक व्यवस्था से देश का काम नहीं चल सकता। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में अन्ततोगत्वा बड़े बड़े

उद्योगों पर मुट्ठीभर पूंजीपतियों का एकाधिपत्य कायम हो जाता है, श्रमिकों का शोषण तथा उनकी समता और स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। सभी स्वीकार करते हैं कि जनकल्याण से प्रेरित श्रमिकों के हित तथा समता की भावना से सम्पन्न आर्थिक व्यवस्था ही देश के लिए उपयुक्त हो सकती है। सभी स्वीकार करते हैं कि जीवननिर्वाह योग्य मजदूरी तथा भरपूर काम की व्यवस्था करके ही श्रमिकों के नैतिक स्तर को, और उनकी क्षमता को ऊंचा उठाया जा सकता है। सभी प्रगतिशील विद्वान् आर्थिक असमानताओं को दूर करने के निमित्त निम्नतम और उच्चतम आय के अन्तर को घटाने के पक्ष में हैं। सभी स्वीकार करते हैं कि औद्योगिक व्यवस्था की सफलता के लिये श्रमिकों और प्रबन्धकों के बीच में सद्भावना तथा दोनों मे सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना नितान्त आवश्यक है। सभी स्वीकार करते हैं कि खेती के काम में तथा छोटे और मझोले उद्योगों के संचालन में **सहकारिता** को प्रोत्साहित करना लाभप्रद है।

पर दो तीन बातों में गांधीजो द्वारा प्रतिपादित आर्थिक व्यवस्था के समर्थकों और दूसरे प्रगतिशील विद्वानों में गहरा मतभेद है। जहां गांधीवादी विद्वान् **ट्रस्टीशिप** अर्थात् न्यासिता के सिद्धान्त को हिन्दुस्तान की एक बहुत बड़ी देन मानते हैं, वहां दूसरे विद्वानों का विचार है कि सम्पूर्ण पूंजीवर्ग के स्वभाव में इतना बड़ा परिवर्तन नहीं हो सकता कि वह स्वेच्छा से अपने को अपनी मिल्कियत का मालिक समझने के बजाय न्यासी (ट्रस्टी) समझने लगे। मनोवृत्ति के इस परिवर्तन के बिना तो नियन्त्रित न्यासिता की दशा नियन्त्रित पूंजीवाद जैसी ही रहेगी। इन विद्वानों का विचार है कि जिस तरह गांधीजो ने ट्रस्टोशिप के प्रति जमींदारों की उपेक्षा देखकर सन् १९४२ में ही जमींदारी को खत्म कर देने का समर्थन कर दिया था। इसी तरह पूंजीपति वर्ग की उपेक्षा को ध्यान में रखते हुए **राष्ट्रीयकरण** द्वारा पूंजीवाद को खत्म करने का भी समर्थन होना चाहिए।

गांवों की आर्थिकदशा को सुधारने की आवश्यकता सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। देश की अधिकांश जनता गांवों में रहती है। गांवों की दशा को सुधार कर जनता की दशा सुधारी जा सकती है। पर नगरों की औद्योगिक व्यवस्था तथा बड़ी मशीनों से संचालित उद्योगों की समुचित व्यवस्था की इतनी उपेक्षा नहीं की जा सकती, जितनी गांधीजी की आर्थिक व्यवस्था में की गयी है। बड़ी बड़ी मशीनों द्वारा बृहद् उद्योगों का समुचित प्रबन्ध किये वगैर जनता और समाज की नवयुगोन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। गांधीजी के ग्रामीण अर्थतन्त्र में जैसा जीवन स्तर

सम्भव है, उससे इस युग की जनता को सन्तोष नहीं हो सकता। युग की पुकार को भुलाया नहीं जा सकता। **पूंजीवादी** व्यवस्था को हिंसा से ग्रसित व्यवस्था समझा जा सकता है। पर जनहित में संचालित शोषणविहीन राष्ट्रीकृत उद्योगों को भी हिंसा पर आश्रित समझना उचित नहीं होगा। औद्योगिक लोकतन्त्र की व्यवस्था द्वारा राष्ट्रीकृत उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों को हिस्सेदार बनाया जा सकता है।

वास्तव में गांधीजो वैयक्तिक प्रणाली को हिंसात्मक समझते थे और कहते थे कि '**यदि पूंजी शक्ति है तो श्रम भी शक्ति है. श्रम पूंजी से श्रेष्ठ है अतः पूंजी को श्रम का नौकर होना चाहिए, न कि उसका मालिक**।' वे यह भी कहते थे कि समाज के बहुत से लोगों के सहयोग से जमा किये धन को मुख्यतः व्यक्तिगत लाभ के लिए इस्तेमाल करने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। इन कारणों में 'मिल मालिक अपनी इच्छा से मजदूर को ··उद्योगों का वास्तविक मालिक समझें।' सन् १९४७ में तो उन्होंने घोषित किया कि 'मैं उन सभी उद्योगों का **राष्ट्रीयकरण** चाहूंगा, जिनमें बहुत सारे लोग काम करते हैं। उनकी कुशल और अकुशल मेहनत से जो कुछ उत्पन्न होगा, उस पर राज्य द्वारा उन्हीं मजदूरों का स्वामित्व होगा।'

फिर भी **ट्रस्टीशिप** की धारणा ही आर्थिक व्यवस्था में गांधीजी की सबसे बड़ी देन थी। उनकी दृढ़ धारणा थी कि कोई, आर्थिक व्यवस्था उस समय तक ठीक तौर पर नहीं चल सकती और पूरी तौर पर समाजोपयोगी नहीं हो सकती, जब तक उससे सम्बन्धित सभी लोग ट्रस्टीशिप की भावना से काम करने को तैयार न हों। वे तो कहते थे कि हमें अपने शरीर को 'मानव की सेवा के निमित्त अपने को सौंपी हुई धरोहर समझना चाहिए' और पूछते थे कि यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तियों का प्रयाग वैयक्तिक स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि सब के कल्याण के लिए करे तो क्या उससे समाज की सुख समृद्धि में वृद्धि नहीं होगी?'

गांधीजी सहयोगिक प्रणाली को अहिंसात्मक बनाने के पक्ष में थे, और चाहते थे कि 'जहां तक सम्भव हो गांव समाज के सब काम सहयोग के आधार पर किये जायें, तथा **सहकारी खेती** प्रोत्साहित की जाय, स्वामियों द्वारा जमीनें सहकारिता में धारण की जायें और सहकारिता में ही जोती, बोयी जायें ···मालिक सहयोग में श्रम करें, और सहयोग में पूंजी, उपकरण, मवेशी, बीज आदि के मालिक हों।' वे पूछते थे कि 'गांव की खेती सौ टुकड़ों में बंट जाय, उसकी बजाय क्या यह अच्छा नहीं होगा कि

सौ कुटुम्ब सारे गांव की खेती में सहयोग से करें, और उसकी आमदनी आपस में बांट लिया करें। 'गांधीजी यह भी चाहते थे कि सहयोग की पद्धति द्वारा गउओं का पालन हो तथा दूध के उत्पादन के लिए सहकारी डेरी' (दुग्धशालाएं) स्थापित की जायें। वास्तव में आत्मनियन्त्रित स्वतन्त्र सहकारिता की भावना ही उनके **ग्रामस्वराज** की कल्पना का आधार है।

गांधीजी समाज और राज्य में भेद करते थे। **समाज** को प्रेम और **राज्य** को हिंसा पर आश्रित बताते थे। अतः वह राज्य को विलीन कर समाज को बनाये रखना चाहते थे। इस तरह वे राज्यविहीन समाज के समर्थक अराजकतावादी थे। उनकी अराजकता अहं के बजाय प्रेम पर आश्रित है। प्रेम आदि मानवीय शक्तियों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति ही उसका लक्ष्य है। गांधीजी जानते थे कि अहं, ईर्ष्या, द्वेष आदि निकृष्ट अर्थात् तामसिक प्रवृत्तियों पर आत्मनियन्त्रण के बाद ही प्रेम आदि उदात्त भावनाओं की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति सम्भव है। वह यह भी समझते थे कि अन्याय से समन्वित समाज के लिए हिंसा का सर्वथा परित्याग असम्भव है। समता तथा सामाजिक न्याय पर आश्रित समाज ही अहिंसात्मक हो सकता है। ऐसे समाज में ही मानव अपनी सहज सामाजिक प्रवृत्तियों द्वारा स्वच्छन्द स्वतन्त्र सामाजिक जीवन बिता सकता है। इसीलिये वह कहते थे कि जब 'राष्ट्रीय जीवन इतना परिशुद्ध हो कि वह आत्म नियन्त्रित हो जाय' तभी राज्य विहीन समाज सम्भव है। उनकी यह भी धारणा थी कि **ग्रामीण समाज** ही **अहिंसात्मक** हो सकता है। सरल ग्रामीण जीवन के लिए ही हिंसा का परित्याग सम्भव है। वह जानते थे कि केन्द्रित व्यवस्था की तुलना में विकेन्द्रित राज्य व्यवस्था का अहिंसात्मक विलीनीकरण अधिक सम्भव है तथा **अधिनायकतन्त्र**, **नृपतन्त्र** आदि राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना में **विकेन्द्रित लोकतन्त्र** के लिए कम हिंसात्मक होना अधिक सम्भव है।

इसीलिए भारत को राजनीतिक स्वराज्य मिल जाने के बाद उन्होंने राज्य के विलयन की बात न करके परामर्श दिया कि (१) शुद्ध लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय राज्य का गठन किया जाय तथा शान्तिमय लोकतान्त्रिक उपायों द्वारा बेकारी, विषमता, दरिद्रता, भ्रष्टाचार आदि दुर्गुणों का निराकरण कर भारतीय जीवन और समाज को सुखमय और समुत्कृष्ट बनाया जाय, (२) स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा आर्थिक और सामाजिक स्वराज्य के लिए प्रयत्न किया जाय, (३) गांव स्वराज्य की रचना की जाय, (४) राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ता अपने

व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन को आत्मनियन्त्रित कर अपने व्यवहार से जनता को आत्मनियन्त्रण की प्रेरणा दें, (५) सात वर्ष की बुनियादी शिक्षा द्वारा बच्चों को चरित्र गठन तथा श्रम के गौरव की शिक्षा दी जाय, उनके शरीर, बुद्धि और भावनाओं का समन्वित विकास किया जाय एवं उनमें किसी समाजोपयोगी उद्योग द्वारा सादा सच्चरित्र जीवन बिताने की क्षमता पैदा की जाय।

अराजकता अर्थात् **राजविहीनसमाज** की कल्पना बहुत पुरानी है। चिरकाल से इसकी चर्चा होती आयी है। पर अब तक किसी देश में यह कल्पना व्यावहारिक रूप धारण नहीं कर पायी है। बहुत से विद्वानों का यह विचार है कि व्यक्ति और राष्ट्र का जीवन इतना परिशुद्ध और इतना आत्मनियन्त्रित हो कि फिर सामाजिक और सार्वजनिक जीवन को राज्य के नियन्त्रण की कोई आवश्यकता ही न रहे। यह एक ऐसा विचार है कि जिसकी व्यावहारिकता संदिग्ध है। व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में कुछ न कुछ अपूर्णताएं बनी ही रहेंगी और उनके द्वारा सामाजिक जीवन में अशान्ति पैदा न हो इसके लिए राज्य के नियन्त्रण की थोड़ी बहुत आवश्यकता भी रहेगी। विद्वानों का यह भी कहना है कि सार्वजनिक सेवा भी राज्य का एक लक्षण है और वह आधुनिक जगत् में धीरे-धीरे सार्वभौमिक समाज का 'समाज सेवा संस्थान' बनता जा रहा है। देशव्यापी सार्वजनिक कार्यों के लिए राज्य जैसी देशव्यापी संस्था की आवश्यकता सदा बनी ही रहेगी। अतः राज्य के विलयन की बात न करके जीवन और राष्ट्र की परिशुद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए, ताकि राज्य समाज नियन्त्रण के स्थान पर समाज सेवा के कार्य में अधिक संलग्न हो सके। गांव स्वराज्य का विचार बहुत उत्तम है। उसकी नींव पर ही भारतीय लोकतन्त्र का सबल निर्माण हो सकता है। पर देश को विकेन्द्रीकरण के साथ साथ एक ऐसे केन्द्र की भी आवश्यकता है जिसका देश की सारी जनता से सीधा सम्बन्ध हो, जो सारे राष्ट्र को अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी हो, और जिसमें इतनी शक्ति और क्षमता हो कि वह सारे राष्ट्र को एक सूत्र में बांधे रख सके, बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा कर सके तथा राष्ट्र की देशव्यापी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। **बुनियादी शिक्षा** की व्यवस्था भी कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित है। मन, बुद्धि और शरीर के समन्वित विकास द्वारा ही मानव का सर्वांगीण विकास सम्भव है। चरित्र का गठन जीवन और समाज की परिशुद्धि के लिए नितान्त आवश्यक है। बाल्यकाल में ही आत्मनियन्त्रण और सामाजिक चरित्र की शिक्षा-दीक्षा देना जरूरी है। **राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक चरित्र** का निर्माण शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। समाजोपयोगी उद्योग शिक्षा का उत्तम माध्यम हो सकता है। बहुत से शिक्षाशास्त्रियों ने

क्रिया द्वारा शिक्षा देने का समर्थन किया है। उनकी धारणा है कि निष्क्रिय अध्ययन द्वारा विद्यार्थी संचित ज्ञान का उपार्जन कर सकता है, पर उसके द्वारा उसके मस्तिष्क की क्रियात्मक शक्ति का ठीक तौर पर विकास नहीं हो सकता। और वह अपने ज्ञान को ठीक तौर पर कार्यान्वित नहीं कर सकता। पर शिक्षा को गांव समाज की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति तक सीमित रखना अनुचित है। राष्ट्र की सभी आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति की क्षमता को बढ़ाना शिक्षा का महान् उत्तरदायित्व है। प्राथमिक शिक्षा के साथ साथ **माध्यमिक और उच्च-शिक्षा** का प्रबन्ध भी राष्ट्र का कर्तव्य है। राज्य को ही राष्ट्र के इस उत्तरदायित्व को ग्रहण करना होगा। इस तरह गांधीजी की राजविहीन समाज की कल्पना को अक्षरशः स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर गांधीजी ने राजनीतिक कार्यकर्ताओं और ग्रामसेवकों को जो शिक्षा-दीक्षा दी है, वह अक्षरशः सार्थक है। उसे ग्रहण कर उस पर चलकर ही हम भारत में लोकतान्त्रिक समाज और सार्वजनिक जीवन को स्वस्थ बना सकते हैं, समता, स्वतन्त्रता, सहकारिता, सामाजिक न्याय और देशबन्धुत्व के आधार पर सुखी सम्पन्न समाज का निर्माण कर सकते हैं तथा अपने जीवन को समाजोपयोगी तथा समुत्कृष्ट बना सकते हैं।

उत्कृष्ट सार्वजनिक चरित्र, न्याय तथा सामाजिक सेवा की भावना, सहकारिता के प्रति निष्ठा कर्तव्य परायणता तथा अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचार के प्रतिरोध के संकल्प को गांधीजी स्वस्थ सार्वजनिक जीवन के लिए आवश्यक समझते थे। वह चाहते थे कि सार्वजनिक कार्यकर्ता इन गुणों से सम्पन्न हो, व्यापार बुद्धि से नहीं, बल्कि निःस्वार्थ सेवा भावना से अपने सार्वजनिक उत्तरदायित्व का पालन करें। गांधीजी सार्वजनिक समीक्षा को सार्वजनिक जीवन के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक समझते थे, और चाहते थे कि सार्वजनिक कार्यकर्ता स्वस्थ समीक्षा का स्वागत करें तथा उस पर ध्यान देते हुए अपने व्यवहार में उचित सुधार करें। वह कहते थे कि बहुश्रुत, विचारशील, सौजन्यपूर्ण तथा रचनात्मक समीक्षा ही समाजहितकारी हो सकती है और व्यक्तिगत वितण्डा का परित्याग करते हुए इस प्रकार की समीक्षा ही कार्यकर्ता का कर्तव्य है। गांधीजी स्वस्थ सार्वजनिक जीवन के लिए तितीक्षा की भावना को भी आवश्यक समझते थे और असहिष्णुता, व्यक्तिगत ईर्ष्या, विद्वेष को विनाशकारी हिंसा बताते थे। वह सहकारिता को सार्वजनिक जीवन का प्राण मानते थे तथा वितण्डा, स्वार्थ एवं विद्वेष से उसकी रक्षा आवश्यक समझते थे और कहते थे कि जो व्यक्ति अपने विवेक और अन्तःकरण का परित्याग कर जनमत और जनप्रशंसा के पीछे भागता है, वह समाज का सही नेतृत्व नही कर सकता। पर वह **अन्तःकरण और स्वार्थप्रेरणा** में भेद करते थे, और सबको

सचेत करते थे कि अन्तःकरण के नाम पर स्वार्थ सिद्धि का प्रयत्न अनुचित है। वह कहते थे कि जो व्यक्ति हर बात में अन्तःकरण के प्रश्न को उठाता, वह वास्तव में अन्तःकरण को जानता ही नही है। उनका कहना था कि अन्तःकरण से सम्पन्न व्यक्ति '**विनम्र**' होता है, अपनी भूल को स्वीकार करने को सदा तैयार रहता है तथा दूसरों के विचारों पर उचित ध्यान देता है। गांधीजीं चाहते थे कि सभी कार्यकर्ता समझें कि संयमविहीन आन्दोलन निरर्थक ही नहीं विनाशकारी है तथा देश की उत्तेजना के बजाय 'ठोस कार्य' तथा 'आत्म-नियन्त्रण' की स्थिरता तथा लक्ष्य के प्रति दृढ़ता की आवश्यकता है। सार्वजनिक अधिकार सामाजिक उत्तरदायित्व है, सब सार्वजनिक संस्थाएं ट्रस्ट है, जनकल्याण की अभिवृद्धि के लिए सत्प्रयत्न द्वारा ही मनुष्य ऊँचा उठ सकता है और जो व्यक्ति जितना ही ऊँचा है, उतना ही अधिक उसका सामाजिक उत्तरदायित्व है। गांधीजी चाहते थे कि कार्यकर्ता अनुभव करें कि **राजनीतिक शक्ति** स्वयं लक्ष्य नहीं, बल्कि समाजसेवा का एक **साधन** है। सब कार्य राज्य तथा राजनीति द्वारा नहीं हो सकते, राजनीति से अलग रह कर भी रचनात्मक कार्यो द्वारा समाज की ठोस सेवा हो सकती है। रचनात्मक कार्य के लिए जनता का स्वैच्छिक सहयोग, विभिन्न संस्थाओं की पारस्परिक सद्भावना तथा सर्वोदय की भावना से अनुप्राणित सामाजिक कार्यकर्ताओं की निस्वार्थसेवा आवश्यक है। वही कार्यकर्ता समाज की ठोस सेवा कर सकता तथा रचनात्मक कार्यो में जनता का स्वैच्छिक सहयोग प्राप्त कर सकता है जो स्वयं सदाचारी हो, सामाजिक संयम के नियमों का पालन करता हो, जिसको सत्य, अहिंसा तथा मानव स्वभाव के सद्गुणों पर पूर्ण विश्वास हो और जिसने अपने जीवन को जनजीवन से आत्मसात कर लिया है तथा जो सब धर्मो के प्रति आदर तथा सद्भावना रखता है एवं दलित की सेवा अपना विशेष कर्तव्य समझता है और अपने सब कामों में सत्याग्रह के नियमों का पालन करता है।

सत्याग्रह गांधीजी की सबसे बड़ी देन है। यद्यपि अति प्राचीनकाल से अहिंसात्मक सत्प्रयत्नों द्वारा रचनात्मक कार्य होता रहा है, और समय समय पर कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों ने अहिंसात्मक प्रयोगों द्वारा राज्य के अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध किया है, पर सम्भवतः गांधीजी ने ही सबसे पहले सत्याग्रह के रूप में साम्राज्यशाही आधिपत्य और अन्याय के विरुद्ध देशव्यापी अहिंसात्मक जनसंघर्ष और जनविद्रोह का संचालन किया है। **रचना** और **संघर्ष** दोनों ही सत्याग्रह के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और समाज के नवनिर्माण के लिए दोनों का समन्वित प्रयोग आवश्यक है। संघर्ष विहीन रचना पुराने सामाजिक ढांचे में कुछ सुधार कर सकती है,

पर उसमें आमूल परिवर्तन के लिए तो स्थिर स्वार्थो से संघर्ष की जरूरत पड़ती है। रचनाविहीन संघर्ष नये समाज का निर्माण कैसे कर सकता है, उसके लिए मार्ग भले ही प्रशस्त कर दें। रचना और संघर्ष के समन्वय द्वारा ही अत्याचार और अन्याय का विनाश तथा न्याय पर आश्रित समाज का निर्माण हो सकता है। अहिंसात्मक संघर्ष में अत्याचार और अत्याचारी में भेद किया जाता है। अत्याचार का अत्यधिक विरोध तथा अत्याचारी के प्रति अत्यधिक सद्भावना सत्याग्रह का मूलमन्त्र है। सत्याग्रही अत्याचारी का विनाश नहीं चाहता, बल्कि अपने त्याग और बलिदान द्वारा अत्याचारी का **हृदय परिवर्तन** करना चाहता है, और उसे अत्याचार की भावना और सुविधा से निर्मुक्त कर उसका नैतिक उद्धार करना चाहता है। सत्याग्रही की दृष्टि में वही संघर्ष सर्वश्रेष्ठ है जो न्याय से प्रेरित सत्य और मानवता से समन्वित, दम्भ और द्वेष से विहीन तथा अहिंसा से संचालित हो तथा रचना और उत्कर्ष ही जिसका लक्ष्य हो। दीनों और पीड़ितों की अभिवृद्धि संघर्ष और रचना दोनों ही परीक्षा है। जिन कार्य के द्वारा किसी विशिष्ट ऊंचे वर्ग या समुदाय का लाभ हो, पर दीनों और पीड़ितों के हितों की उपेक्षा हो, उसे गांधीजी के विचार में सही **संघर्ष** या अच्छा रचनात्मक कार्य नहीं कहा जा सकता। ग्रामीण नवनिर्माण, विभिन्न सम्प्रदायों में सद्भावना की वृद्धि तथा पिछड़े वर्गो का नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उत्थान गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के विशिष्ट लक्षण हैं।

स्वतन्त्रता के बाद जहां कुछ सत्ताधारी राजनीतिज्ञों की धारणा वन गयीं है कि स्वराज्य में **सत्याग्रह अर्थात् संघर्ष** को कोई स्थान नहीं, वहां कुछ राजनीतिज्ञ संघर्ष को हीं सत्याग्रह समझते हैं। कतिपय रचनात्मक कार्यकर्ता के विचार में रचना ही सत्याग्रह का काम है। पर यह सब धारणाएं अपूर्ण हैं। यदि प्रह्लाद अपने पिता के असत्य के विरुद्ध सत्याग्रह कर सकता है, तो फिर एक स्वतन्त्र नागरिक अपनी सरकार के अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह क्यों नहीं कर सकता? लोकतन्त्र में भी संघर्ष होते ही रहते हैं। भारत में तो इस समय संघर्ष की भरमार है। अहिंसात्मक संघर्ष का मार्ग अवरुद्ध करके संघर्ष का अन्त नहीं होता। बल्कि हिंसात्मक संघर्ष के लिए रास्ता साफ हो जाता है। इसलिए अहिंसात्मक संघर्ष को बन्द करके समाज में शान्ति प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। जरूरत इस बात की है कि जनता को समझाया जाय कि हिंसा के वातावरण में लोकतान्त्रिक भावना और लोकतान्त्रिक व्यवस्था का पनपना सम्भव नहीं है, रचनात्मक उपायों द्वारा आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति सर्वोत्तम है, दूसरे शान्तिमय लोकतान्त्रिक उपायों से दूषित परिस्थिति का परिशोध

न होने पर ही गांधीजी द्वारा निर्दिष्ट विधि से सत्याग्रह के रूप में अहिंसात्मक संघर्ष किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जनता का सही नेतृत्व ही सत्याग्रह पर निष्ठावान् कार्यकर्ताओं और नेताओं का कर्तव्य हो जाता है।

गांधीजी की अपनी राय में लोकतन्त्र में 'सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा का सीमित प्रयोग ही वांछनीय है, धरना दुराग्रह जंगलीपन है, प्रतिरोध को अपराधित अवज्ञा और अराजकता का रूप देना हानिकर है, शान्तिपूर्ण प्रतिरोध ही लाभदायक हो सकता है। उनका कहना था कि लोकतन्त्रवादी को अपनी या अपने दल की दृष्टि से नहीं, बल्कि एक मात्र लोकतन्त्र की दृष्टि से सब कुछ सोचना चाहिए। तभी वह सविनय अवज्ञा का अधिकारी हो सकता है। गांधीजी के विचार में **स्वस्थ असन्तोष उन्नति का मंगलाचरण** है। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की समीक्षा जनता की सतर्कता का सुखद चिह्न है। दुराचार और अन्याय के विरुद्ध नियन्त्रित आन्दोलन राष्ट्र विकास की शर्त है। पर अनियन्त्रित आन्दोलन राष्ट्रहित के लिए हानिकर है। जनता की दुर्भावनाओं को उभार कर लोकतन्त्र को भीड़तन्त्र में बदलने का प्रयास जनता और कार्यकर्ता दोनों को भ्रष्ट करना है, भीड़तन्त्र और हुल्लड़बाजी में से लोकतन्त्र विकसित करना प्रजातन्त्र नहीं है। भीड़ तो मनमानी राष्ट्रीय बीमारी का लक्षण है, उन्हें सत्याग्रह बताना सर्वथा अनुचित है।

गांधीजी सैन्यवाद, साम्राज्यवाद तथा हर प्रकार के अधिनायकतन्त्र को अभिशाप तथा सब राज्यव्यवस्थाओं में लोकतान्त्रिक व्यवस्था को सर्वोत्तम समझते थे। वे चाहते थे कि देश में स्वस्थ लोकतान्त्रिक व्यवस्था प्रतिष्ठित की जाय। उनका कहना था कि सब के सामान्य हित की सेवा में जनता के सब वर्गों के सम्पूर्ण **भौतिक, आर्थिक** और **आध्यात्मिक** साधनों का संग्रहण ही सार में लोकतन्त्र की कला और उसका विज्ञान है.। जिस काम को लाखों करोड़ों लोग मिलकर कर सकते हैं, उस काम में अद्भुत शक्ति आ जाती है। एक शक्तिशाली व्यक्ति के प्रयास द्वारा भी लक्ष्य की पूर्ति सम्भव हो सकती है, पर एक व्यक्ति की सफलता एक करोड़ वाले द्वारा लाखों, करोड़ों को मुफ्त खाना बांटना जैसी होगी। इसलिए लोकतान्त्रिक युग में लक्ष्यों की पूर्ति जनता के **सामूहिक प्रयास** द्वारा ही होना चाहिए।

गांधीजी कहते थे कि **लोकतन्त्र** सब लोगों का राज्य, **न्याय का राज्य है,** 'ऐसा राज्य है जिसमें गरीब से गरीब लोग भी यह महसूस करें कि भारत उनका देश है और उसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्त्व है। वे चाहते थे कि लोकतन्त्र

का नागरिक यह समझे हि वह 'स्वयं अपने भाग्य का विधाता है, अपने प्रतिनिधि द्वारा स्वयं अपना विधायक है"। प्रत्येक नागरिक यह भी समझे कि उसके लोकतान्त्रिक अधिकार सामाजिक कर्तव्य से प्रवाहित होते हैं और उसे अपने को भारत का सेवक समझ 'सेवा की भावना' से भारत के हित में 'स्वतन्त्रता' आत्मानुशासन के साथ अपने कर्तव्यों और अधिकारों का प्रयोग सामूहिक स्वतन्त्रता की पहली शर्त है, इसलिए लोकतन्त्रवादी को आत्म अनुशासी होना ही चाहिए। वे कहते थे कि लोकतन्त्र को ऐसे मतदाताओं की जरूरत है जो सब जातियों धर्मों और सम्प्रदायों में से अच्छे, और सच्चे, तथा ईमानदार क्षमता सम्पन्न और आत्मत्यागी व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुने।

गांधीजी चाहते थे कि **विधानसभा और संसद** को प्रश्नों के सुलझाने का यन्त्र समझा जाय तथा व्यक्तिगत कटाक्ष और ध्वंसात्मक आलोचना से बचा जाय। **'अवसरवादिता'** का अनुसरण न किया जाय। वे चाहते थे कि मन्त्री व्यक्तिगत और सार्वजनिक आचार-विचार के सम्बन्ध में चौकस रहें। सामाजिक और नैतिक उन्नति को ही राजनीतिक कार्य का ध्येय समझे। वे कहते थे कि मन्त्री अपने दल के उद्देश्य को अवश्य बढ़ाएं, पर सारे राष्ट्र की कीमत पर ऐसा कभी न करें, हर कीमत पर वही करें, जो न्यायसंगत हो।

गांधीजी स्वीकार करते थे कि लोकतन्त्र में जीवन का कोई भी अंग राजनीति से अछूता नहीं रहता, पर कहते थे--जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जनता को अपनी दशा सुधारने के योग्य बनाने के उपकरणों में राजनीतिक शक्ति केवल एक है, तथा जो राष्ट्र अपना काम राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही शान्तिपूर्वक और प्रभावपूर्ण ढंग से कर दिखाता है उसे ही सच्चे अर्थों में लोकतान्त्रिक कहा जा सकता है। इस तरह गांधीजी चाहते थे कि विभिन्न सार्वजनिक सेवाओं के लिए स्वैच्छिक रचनात्मक संस्थाएं स्थापित की जाएँ, राष्ट्रीय विकास में संलग्न अभिन्न संस्थाओं में आपस में 'पूर्ण सहयोग' हो, तथा राजनीतिक कार्य और स्वैच्छिक सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा संचालित रचनात्मक कार्यक्रम को विरोधात्मक न समझा जाय।

गांधीजी के ये सभी विचार बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन सब का अनुसरण नितान्त आवश्यक है। इनका पालन करने पर हमारा लोकतन्त्र जो संसार का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है, संसार का सर्वोत्तम लोकतन्त्र बन जायेगा।

अद्वैत, ईश्वर तथा धर्म पर अटल विश्वास, सत्य, अहिंसा, आत्मनियन्त्रण, आत्मोत्कर्ष, आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, मानवमात्र की एकता और समता, देशबन्धुत्व पर आश्रित उदार राष्ट्रीयता, मानव व्यक्ति तथा मानव श्रम का आदर, सब समाजोपयोगी व्यवसायों का समान पद और गौरव, सत्याग्रह द्वारा अन्याय का प्रतिरोध तथा न्याय की स्थापना, भरपूर काम तथा जीवन निर्वाह योग्य जीविका का अधिकार एव समाजोपयोगी श्रम का कर्तव्य, सर्वोदय से प्रेरित स्वतन्त्र सहकार पर आश्रित आर्थिक व्यवस्था, मुनाफे के बजाय जनकल्याण और उपयोग के लिए उत्पादन, कर्तव्यपरायणता, लोकसेवा, सर्वोदय, सबसे सौजन्य-सौहार्दपूर्ण लोकतान्त्रिक व्यवहार, ग्रामस्वराज्य से समन्वित विकेन्द्रित लोकतन्त्र, आत्मनियन्त्रित स्वतन्त्र सहकारिता पर आधृत राज्यविहीन समाज, न्यासिता भावना से परिपूर्ण व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन गांधीजी के जीवन दर्शन के कतिपय मुख्य सिद्धान्त थे।



गांधीजी का नीति-धर्म

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

महात्मागांधी शास्त्रीय अर्थ में धार्मिक नही थे। परम्परा से **धर्म** का अर्थ है एक विशेष प्रकार का **संस्कार** एवं **कर्मकाण्ड**। गांधीजी सिर्फ नैतिक थे। उन्होंने नीति से भिन्न धर्म की सत्ता को स्वीकार नहीं किया। इसलिए उनकी दृष्टि में संस्कारों एवं कर्मकाण्डों के आधार पर धर्म का विभाजन नहीं हो सकता। इसीलिए उनका सम्पूर्ण जोर सभी धर्मों में नैतिकतत्त्वों की एकता के अन्वेषण की ओर था। उनकी दृष्टि में धर्म कोई पूर्व सिद्ध तत्त्व नहीं है, प्रत्युत वह उपार्जनीय एवं अन्वेषणीय मानवीय गुण है। उन्हें धर्म एवं सम्प्रदायों की परस्पर तुलना या खण्डन मण्डन की आवश्यकता नहीं थी, इसलिए उनका प्रयास है 'सब के सत्यों का संगठन कर मानव धर्म प्रस्तुत करना'। गांधीजी स्वधर्म की श्रेयस्करता और परधर्म की भयावहता के पक्ष में नहीं थे। उनकी दृष्टि में **पर-धर्म** का रक्षा भी **स्वधर्म** के लिए आवश्यक है। परधर्म की भयावहता में परनाश की सम्भावना निहित है, जो गांधीजी के अनुसार धर्मों में प्रविष्ट हिंसा-वृत्ति है। इस स्थिति में धर्म के विकास के उद्देश्य से पर धर्म का भी रक्षण अनिवार्य हो जाता है। गांधीजी एक अखण्ड सार्वभौम धर्म की अवतारणा के लिए सीमित धर्मों के उच्छेद या अवमूल्यन करने के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वे परमधर्म या अखण्ड धर्म के लिए स्वधर्म एवं स्वजीवन-निष्ठा को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में विविधता का नाश न तो अपेक्षित है और न हो सकता है। इस आधार पर गांधी जी अपने स्वधर्म और दूसरे के स्वधर्म को अभिन्न बनाना चाहते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि मैं **सच्चा मुसलमान** हूं, क्योंकि **सच्चा हिन्दू** हूं। इसके पीछे नीति धर्मो की एकता का सिद्धान्त है, कर्मकाण्ड, दीक्षा या विशिष्ट संस्कारों का नहीं। श्रद्धा की श्रेष्ठता धर्म के निर्णय के लिए शास्त्रवाद एवं बुद्धिवाद को गांधीजी नितान्त अपर्याप्त मानते हैं। इसके लिए उन्होंने श्रद्धा को निर्णायक तत्त्व माना है। वह सत्यान्वेषण के लिए श्रद्धा को अनिवार्य एवं पर्याप्त मानते है। गांधीवाद में जीवन के प्रति निष्ठा ही श्रद्धा है, क्योंकि जीवन स्वयं में एक ध्रुव सत्ता है। जीवन ही मनुष्य का अन्तिम साध्य और वही आरम्भिक साधन भी है। उक्त प्रकार की श्रद्धा की अपेक्षा शास्त्र और बुद्धि मनुष्य के लिए बहिरंग साधन हैं। यद्यपि शास्त्रवाद एवं बुद्धिवाद का विकास भी जीवन के लिए ही है, फिर भी उसके कारण बाद-विवाद एवं आग्रह प्रधान बन जाता है और जीवन और उसकी समस्यायें गौण। यहां तक कि शास्त्रवादी एवं बुद्धिवादियों को अपने आग्रह विशेष के सरक्षण में ही जीवन का वास्तविक आभास मिलने लगता है। यह इतना तीव्र भी हो जाता है कि वे आत्महीन शरीर की तरह अवास्तव धर्म की पूजा करने लगते हैं।

गांधीजी कहते हैं कि ऐसे हर वचन को जिसे **धर्मशास्त्र** का वचन होने का निर्णय किया गया हो, सत्य की निहाई पर दयारूपी हथौड़े से पीटकर देख लेना चाहिए। अगर वह पक्का मालूम हो और टूट न जाय तो ठीक समझना चाहिए, नहीं तो हजारों शास्त्रवादियों के रहते हुए भी नेति नेति कहते रहना चाहिए। **शास्त्रवाद** के विपरीत **श्रद्धा** आचारानुरोधी होती है। वह विवादों को समाप्त करते हुए एक मात्र कर्माचरण के माध्यम से मनुष्यों के बीच सम्बन्धों का नव-निर्माण करती है और जीवन का उत्तरोत्तर विकास एवं विस्तार करती है। श्रद्धा में असीम नम्रता होती हैं क्योंकि नम्रता का अर्थ है--**समर्पण**। समर्पण ही वह मार्ग है जिस पर चल कर व्यक्ति स्व को पर के लिए मिटाता है। समर्पण सभी प्रकार के भेदक तत्त्वों को लांघ कर अनेकता में एकता का भान कराता है।

गांधीजी के अनुसार श्रद्धा से ही यह भी सम्भव है कि एक ओर उससे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा हो, और दूसरी ओर समष्टि की विशालता का अनुभव हो। गांधीजी कहते हैं कि प्राचीन हिन्दू समाज में श्रद्धा का यह तत्त्व सुविदित था, यही मूल कारण है कि यहां विचार-स्वातन्त्र्य अपनी उच्चता पर पहुंच चुका था। भारतीय सम्प्रदायों और दर्शनों की विविधताओं के अन्दर छिपे हुए इस श्रद्धातत्त्व को गांधीजी ने पहचान कर उसके व्यापक-शक्ति की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रकार गांधीजी की दृष्टि में श्रद्धा, नीति एवं धर्म के अन्वेषण के लिए एक विशिष्ट जीवनविधि है, जो आचार के माध्यम से अग्रसर होती है। गांधीजी अपनी इस **श्रद्धा** को **भक्ति** का रूप देते हैं जो उनके भक्ति प्रवण स्वभाव के साथ समरस हुआ। श्रद्धा के दिशा निर्देशक तत्त्व हैं--**सत्य** और **अहिंसा**। गांधीजी कहते हैं कि सत्य और अहिंसा की कुंजी से जब मैं धर्म की पेटी खोलता हूं तो मुझे एक धर्म का दूसरे धर्म से एकता पहचानने में जरा सी कठिनाई नहीं आती। गांधीजी कहते हैं जब श्रद्धा, सत्य और अहिंसा को पहचानने लगती है तो उत्तरोत्तर उसमें उत्कर्ष आने लगता है। अन्ततोगत्वा इस प्रकार से उत्कट श्रद्धा धर्म बन जाती है।

सत्य एवं ईश्वर

अन्य अध्यात्मवादी विचारकों की तरह **गांधीजी** भी जीवन का एक मात्र ध्येय **परमेश्वर** का साक्षात्कार मानते हैं। **सत्य** और **परमेश्वर** को वे अभिन्न मानते हैं, किन्तु **परमेश्वर ही सत्य है** इतना मात्र कहना वे पर्याप्त नहीं मानते, प्रत्युत उसके साथ **सत्य ही परमेश्वर है,** यह कहना भी अनिवार्य समझते हैं। इस व्याख्या को वे निर्गुण परमेश्वर की व्याख्या मानते हैं। उसका सगुण रूप उस सत्य को मानते हैं

जो व्यक्ति को धर्म्य, न्याय्य, योग्य प्रतीत होता है और जिसे स्वीकार करते हुए उसे लज्जा नहीं आती, प्रत्युत जिसे न करने पर ही सम्मानपूर्वक जी नहीं सकता, वह उसके लिए सत्य है। यह सत्य या परमेश्वर सगुण रूप है। गांधी जी कहते हैं कि सत्य अनन्त है, इसकी खोज का कभी अन्त नहीं होगा। इस स्थिति में सत्य के अन्वेषी को विविधता की उलझन में न पड़कर उसे अपने जीवन में जो बड़ी या छोटी पूर्ण या तुच्छ सी प्रवृत्तियां करनी पड़े, उन्हीं में सत्य का अन्वेषण करें। इस प्रकार सत्य का आग्रह ही परमेश्वर या सत्य का सगुण रूप है, जो मनुष्य के अपने हाथ में है यह रहस्य नहीं यथार्थ है। वह साधन है और वही प्रकर्ष के साथ साध्य का रूप ग्रहण कर लेता है। इस रूप से गांधी-दर्शन में सत्य दो प्रकार का है परसत्य या निर्गुण सत्य = **परमेश्वर**, और अपरसत्य या सगुण सत्य = सत्याग्रह।

सत्याग्रह

सत्याग्रह का आयाम बहुत व्यापक है, जिसमें संगठन और धर्म, संघर्ष और प्रतिरोध के लिए पर्याप्त अवसर है। निर्वाण के साथ साथ सत्याग्रह विरोध का भी मार्ग है। गांधी जी के विचार में अपने आसपास फैले हुए असत्य, अन्याय या अधर्म के प्रति उदासीन भावना रखने वाला व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। अतः असत्य, अन्याय और अधर्म का प्रतिकार भी सत्याग्रह का आवश्यक अंग है। बुराई के प्रति उदासीनता या अप्रतिरोध सत्यान्वेषी के लिए नितान्त वर्जित है। सत्याग्रह सत्य की अविश्रान्त खोज है। जितना ही सत्य जान पड़े उसका आचरण ही सत्याग्रह है। **गांधी जी** के अनुसार यही परमेश्वर के साक्षात्कार का मार्ग है। सत्याग्रही को इसका पूरा भान रहता है कि एक को जो सत्य जान पड़ता है, वही दूसरे को असत्य जान पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में सत्य के अन्वेषी को अपने विरोधी के प्रति हिंसा करने की गुंजायश नहीं रह जाती। अपने विरोधी की गलती को उसे अपने धर्म और सहानुभूति द्वारा ही दूर करना होता है। इस प्रकार सत्याग्रह का निष्कर्ष है विरोधी को पीड़ा देकर नहीं, अपितु स्वयं कष्ट उठाकर सत्य की रक्षा करना। इस प्रकार अहिंसा वह प्रकाश है, जो सत्य को निखारता है। गांधी जी की दृष्टि में **अहिंसा और सत्य** एक ही हैं। अहिंसा की पराकाष्ठा ही सत्य है। अहिंसा सत्य के साक्षात्कार का साधन है जिससे सर्वव्यापी सत्य का आकलन किया जा सकता है। गांधी जी सत्य और अहिंसा के बीच यद्यपि साध्य-साधन का सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु उनमें भेद नहीं मानते। समझने के लिए यदि भेद कहते हैं तो बीज और वृक्ष के समान।

अहिंसा : व्यक्ति और समूह

केवल व्यक्ति जीवन में अहिंसा प्रतिष्ठित हो सकती है, इससे गांधी जी सहमत नहीं थे। वे कहते हैं कि यह मानना इतिहास की गहरी भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए अच्छी है, जनसमूह के लिए नहीं। इस सिद्धान्त से गांधी जी व्यष्टि और समष्टि तथा व्यवहार और अध्यात्म के बीच के अन्तर को बहुत कुछ दूर करते हैं। इस स्थिति में गांधी जी कहते हैं कि जो धर्म व्यक्ति के साथ खत्म हो जाता है वह मेरे काम का नहीं है। मुझे यह विश्वास नहीं है कि उसके पड़ोसी जब दुःख में डूबे हुए हैं, तब किसी व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति होती है। इसलिए गांधी जी मानते हैं कि यदि एक मनुष्य की **आध्यात्मिक उन्नति** होती है, तो उसके साथ सारी **दुनियां की उन्नति** होती है। इसी प्रकार एक आदमी का पतन होता है तो उस अंश में संसार का पतन होता है।

गांधीजी कहते हैं धर्म व्यक्ति की इकाई से प्रारम्भ होता है, इसलिए प्रारम्भ से ही वह व्यवहार्य हो जाता है। धर्म की साधना है अपने को परहित यानी समाज-हित में घुला देना। इस तरह धर्म परमार्थ सत्य के लिए अपनी आहुति करने, अपने को समर्पित एवं विलीन करने का अभ्यास सुझा कर मानों उस कीटाणु को निष्प्राण करता है, जहां अर्थ-लिप्सा और शोषण-वृत्ति का मूल है।

गांधी जी की धार्मिक दृष्टि का स्पष्टीकरण उनके अहिंसा के नये प्रयोगों के द्वारा होता है। गांधी जी के सामने दो बातें स्पष्ट थीं--एक यह कि अहिंसा एक विकसन-शील प्रक्रिया है और सत्य के लिए अहिंसा अनिवार्य है, इसलिए सत्य, अहिंसा और धर्म गतिशील एवं सर्जनशील तत्त्व हैं। दूसरा यह कि अहिंसा का प्रयोग व्यक्ति-गत ही नहीं सामूहिक भी हो सकता है।

जीवन : व्यक्ति और अखण्डता

उक्त दो मान्यताओं से सम्बन्धित दो और बातें भी हैं, जो उनके अहिंसात्मक प्रयोग दर्शन का आधार हैं:—१. **व्यक्ति का महत्व** और २. **मानवजीवन की अखण्डता का सिद्धान्त**। व्यक्ति की दृष्टि से गांधी जी, संस्था की जगह उसके **गुण के महत्त्व को स्वीकार** करते हैं। उनके अनुसार हर एक बड़े ध्येय के लिए जूझने वालों की संख्या का महत्त्व नही होता, वल्कि जिन गुणों से वे बने होते हैं, वे गुण ही निर्णायक होते हैं। गांधी जी जब व्यक्ति पर इतना जोर देते हैं, और साथ ही अहिंसा

को सामुदायिक गुण भी कहते हैं, तो एक विरोधाभास सा लगने लगता है। इसे दूर करने के लिए वे जीवन की अखण्डता के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं, जिस पर उनका गहरा विश्वास है।

तत्त्व की दृष्टि से **गांधीजी** अपने को **अद्वैतवादी** कहते हैं। उनका अद्वैतवाद जीवन की अखण्डता के विश्वास से बंधा हुआ है। उनका अद्वैत जगत् के मिथ्यात्व के आधार पर नहीं, प्रत्युत सत्य जगत् की अखण्डता के आधार पर निर्भर है। अखण्डता के इस अनुबन्ध में गांधीं जी व्यक्ति पर अहिंसात्मक समाज रचना का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व सौंपते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति जिन धर्मों से घिरा है, उसके उच्छेद के बिना उसका **मोक्ष** असम्भव है। व्यक्ति अपने कन्धे पर समस्त संसार का बोझ लेकर घूमता है, उसके पुण्य या पाप का भागीदार एक नहीं, अपितु समस्त हैं। गांधी जी कहते हैं, उसके बिना पिण्ड-ब्रह्माण्ड की समानता का सिद्धान्त अर्थहीन हो जाता है।

कर्म-ज्ञान-समुच्चयवाद

गांधीजी धर्म या सत्य की खोज के लिए अहिंसा को महत्त्वपूर्ण माध्यम स्वीकार करते हैं। इसके लिए गांधीजी अहिंसा से तीन तथ्य स्पष्ट करना चाहते हैं।

(१) जीवन में एक प्रवहमान व्यापक सत्य है, जो अखण्ड है, उसका साक्षात्कार अहिंसा से होता है। व्यवहार में अहिंसा के आचरण से ही प्राणियों की मूलभूत एकता को जाना जा सकता है। इस स्थिति में अहिंसा और सत्य एक दूसरे से ओत-प्रोत रहते हैं। यहाँ व्यवहार और परमार्थ को एक दूसरे से अलग करना सम्भव नहीं है।

(२) अहिंसा का स्वभाव उसकी सक्रियता एवं गतिशीलता है। गांधीजी कहते हैं--धर्म अपूर्ण है इसलिए वह सदा विकसित होता रहेगा, बार-बार उसकी नयी व्याख्यायें की जायेंगी। इस प्रकार की विकसनशीलता के कारण ही सत्य या ईश्वर की ओर प्रगति करना सम्भव है। गांधीजी सत्य शोध के प्रसंग में भूलों की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। उस भूल से उबरने के लिए अहिंसा की सक्रियता को बहुत ही कारगर मानते हैं। मनुष्य अपने ज्ञान एवं अनुभव के अनुसार सत्य का पालन करे, उस सत्यपालन में यदि भूल होती है, तो अहिंसा के कारण

उसकी भूल अपने आप ठीक हो जायेगी, क्योंकि अहिंसा-वृत्ति का प्रतिफलन निराग्रहवृत्ति है।

(३) अहिंसा की शर्त विवेक है। अहिंसाधारित विवेक शास्त्रवादी और बुद्धिवादी विवेक से अधिक व्यापक एवं स्पष्ट है। अहिंसा कर्माचरण है। प्रयोगों से जो विवेक फलित होता है, वह रूढ़ि या आग्रह को पैदा नहीं करता। बुद्धि के सम्बन्ध में गांधी जी कहते हैं कि कुछ ऐसे विषय होते हैं, जिनमें बुद्धि हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती। गांधी जी अहिंसात्मक कर्माचरण से प्रसूत विवेक को ईश्वर की मान्यता देते हैं। वे शास्त्रों द्वारा व्याख्यात **ईश्वर** की मान्यता से सन्तुष्ट नहीं है, क्योंकि इस सम्बन्ध में उनका विचार है कि संसार में अनेक असत्यों का प्रतिपादन करने वाले साधनों में एक प्रमुख साधन यह **शास्त्र** है, जो ईश्वर के स्वरूप का विवेचन करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनके दर्शन की रीढ़ अहिंसा है। अहिंसा एक तीव्र क्रियाशक्ति है, जिसकी सक्रियता एवं गतिशीलता व्यापक तथ्यों की खोज के लिए उसका व्यापक आयाम और उसकी विवेक प्रवणता से स्वतन्त्र निर्णय को सत्य के आकलन का निर्बाध मार्ग मिलता है। प्राचीन शब्दावली में कहना चाहें तो उनकी दार्शनिक विचारधारा को **'कर्म-ज्ञानसमुच्चयवाद'** कहा जा सकता है। कर्म और ज्ञान का एकत्र अविनाभाव अहिंसा में एकत्र संग्रहीत है।



महात्मा गान्धी का प्रयोगदर्शन

प्रो॰ जगन्नाथ उपाध्याय

भारतवर्ष में **तत्त्व का अन्वेषण** प्रायः स्वरूप साक्षात्कार के उद्देश्य से ही होता है। तुम कौन हो? मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ?--इत्यादि प्रश्नों के समाधान एवं विवेचन के प्रसंग में सृष्टि का भीतरी रहस्य उद्‌बुद्ध होता है। अन्तर्जगत् के द्वारा बाह्य जगत् का नियमन तथा इनमें परस्पर कार्यकारणभाव निहित है। ऐसा जानकर एवं 'इन्हीं में मेरा आत्माबद्ध है'—ऐसा अनुभव कर साधक इनसे मुक्ति के लिए उत्तरोत्तर **अध्यात्मतत्त्व** की ओर उन्मुख होता है। भारतीय समाज भी अपने में पूर्णता लाने के लिए एवं अपने को विस्तृत एवं विशाल बनाने के लिए हमेशा देश, काल आदि की संकुचित सीमाओं का उलंघन करता है, दम्भ, पाखण्ड एवं अज्ञान के बन्धनों को काटता है तथा नूतन निर्माण के लिए नए-नए सत्यों एवं नई-नई श्रद्धाओं का आश्रयण करता है।

व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन में पूर्णता एवं सजीवता उत्पन्न करने के लिए **समाजनीति** अध्यात्म का अनुगमन करती है। समाज अपने स्वरूप के परिचय के लिए **धर्म** की अपेक्षा करता है। इसलिए जो धर्म समाज को अपना स्वरूप परिचित कराने में असमर्थ होता है, वह धर्म की कोटि से च्युत हो जाता है। **काम** (इच्छाएं और उनकी पूर्ति का प्रयास) भी मनुष्य जाति के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रमुख साधन है। यह सारी समृद्धि 'काम' द्वारा ही निर्मित है, जिसके लिए पूरा जगत्-चक्र अनिवार्य की तरह प्रतीत होता है। यह सृष्टि समष्टि कर्मों का फल है। व्यक्ति की दृष्टि से यही परिस्थिति कहलाती है। इन परिस्थितियों से व्यक्ति और समाज दोनों का जीवन समानरूप से घिरा हुआ है। इन सबका आधार **अध्यात्म** है। इसी अध्यात्म के आधार पर व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन में समता और समन्वय साधना **'नीतिशास्त्र'** कहलाता है। इसीलिए व्यक्तियों को तथा व्यक्तियों के माध्यम से समाज को विभिन्न परिस्थितियों से ऊपर उठा कर अपने वास्तविक

स्वरूप की ओर उन्मुख करना **धर्मशास्त्र** का उद्देश्य है। इस तरह स्वरूप का बोध कराने के लिए ही धर्मशास्त्र समाज में धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रतिष्ठित करता है। अपने वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ समाज नष्ट हो जाता है। इस नाश से बचाने के लिए आवश्यक है कि **आत्मदर्शी, स्थितप्रज्ञ महात्मा** समय-समय पर विवेकपूर्ण समाजनीति का निर्धारण करते रहें।

इस तरह हम देखते हैं कि अपने स्वरूप के बोध के लिए अध्यात्मदर्शन और समाजदर्शन (धर्मशास्त्र) दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। इसी कारण भारतीय मनीषियों ने भूमिकाभेद से इन दोनों का भेद अंगीकार किया है और इसीलिए उन्होंने केवल अध्यात्म के आधार पर ही एकपक्षीय समाज की व्यवस्था नहीं की, अपितु **अध्यात्म पर आधारित धर्म** की व्यवस्था की। वैज्ञानिक अनुसन्धान जैसे व्यक्ति करता है, किन्तु उसका फल समाज के मंगल के लिए होता है, उसी तरह 'जगत् के मूल का ज्ञान और उस ओर प्रगति'--यह व्यक्ति का स्वतन्त्र उद्देश्य है और यह समाज के मंगल के लिए भी है। इसीलिए आध्यात्मिक प्रयोग प्रायः व्यष्टि जीवन में हुए हैं। समाज की यह कामनदी दोनों ओर बहती है--कल्याण की ओर भी वहती है और पाप की ओर भी। धर्म के प्रभाव से उसका गमन कल्याण की ओर होता है, क्योंकि धर्म के साथ अध्यात्म का योग होता है। अध्यात्म की प्राप्ति के लिए जो यह धर्म का मार्ग है, वह अनेक प्रकार के कर्मरूपी कण्टकों से आकीर्ण है, जिसमें समाजरूपी गाड़ी न केवल प्रायः फँस ही जाती है, अपितु अपना गन्तव्य भी भूल जाती है। फलतः अपने स्वरूप से विस्मृत होकर यह समाज जड़ीभूत हो जाता है। ऐसी स्थिति में कोई महाप्राण महात्मा इस प्रकार के कर्मकाण्डों, धर्म एवं समाज की भर्त्सना करता है और समाज को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कराने के उपायों के अनुसन्धान में प्रवृत्त होता है। **प्रवृत्तिमार्ग** और **निवृत्तिमार्ग** ये दो ही मार्ग समस्त संसारी प्राणियों के लिए हैं। उनमें साधारण लोगों के प्रवृत्तिमार्ग तथा असाधारण व्यक्तियों के लिए निवृत्तिमार्ग है। किन्तु मुमुक्षु लोग माया के डर से समाज से बहिर्भूत निवृत्तिमार्ग को ही अभय का स्थान समझ कर उसका आश्रयण करते हैं, जबकि बाकी के सभी लोग आत्मतुष्टि एवं इच्छापूर्ति के लिये प्रवृत्तिमार्ग में ही निमग्न रहते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह विरोध यद्यपि **उपनिषद्, गीता** एवं **मनु** तथा **याज्ञवल्क्य** में दिखलाई नहीं पड़ता, किन्तु उत्तरकाल में यह बढ़ गया है। आज के मनुष्य-जीवन में तो यह विरोध अपने विकास की अन्तिम सीमा को छूने लगा है तथा जनजीवन के लिए आवश्यक अध्यात्मवाद की भी अवहेलना करते हुए बाह्य जड़सभ्यता को ही श्रेष्ठ समझने लगा है। आज

कल **समाज** और **धर्म** को अध्यात्म के अनुकूल बनाने का तो कोई प्रयास नहीं करता. उलटे समाज व्यवस्था से धर्म को ही बाहर करना श्रेयस्कर समझता है। पहले आध्यात्मिक साधना की प्रयोग भूमि व्यक्ति था किन्तु आज धर्म को भी व्यक्तिगत माना जाने लगा है। धर्म की यह स्थिति अध्यात्म से पराङ्मुख होने के कारण ही हुई है।

जब **धर्म** अध्यात्म से च्युत होकर देश, सम्प्रदाय, वर्ग, जाति व्यक्ति आदि की संकुचित सीमाओं में आबद्ध हो जाता है तथा सभी में व्यापक अखण्ड तत्त्व को खण्ड-खण्ड करके दम्भ और पाखण्ड के पोषण में संलग्न हो जाता है, तब नीति-शास्त्र किसका आलम्बन करके खड़ा रहे? कैसे मनुष्य अपने जीवन का पवित्र लक्ष्य निर्धारित करें? लोकहित का निर्धारण कैसे करें? तथा उसके लिए अपने स्वार्थ का त्याग कैसे करें? इत्यादि प्रश्न समस्या बन कर उपस्थित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में करुणाशील महात्माओं एवं सत्पुरुषों द्वारा अपनी अमृतवाणी और सदाचरणों द्वारा यद्यपि समाज बार-बार उद्‌बोधित किया जाता है, किन्तु समाज उनसे थोड़ा सा सचेतन होकर पुनः जड़ता कीं स्थिति में पहुँच जाता है। आज तक ऐसी समाजव्यवस्था नहीं बन सकी है, जिसमें सत्य, अहिंसा, दया, आर्जव आदि गुणों के द्वारा ही मानव सुखी हों—ऐसा मान कर समाज में न्याय, सुविधा आदि की प्राप्ति के लिए हिंसा, क्रोध, ईर्ष्या आदि का संग्रह और प्रयोग नीतिशास्त्रकारों ने विधि सम्मत न माना हो। मानवता के ह्रास का वस्तुतः यही निदान है। लगातार ह्रास को प्राप्त हो रही समाजव्यवस्था के इस रहस्य को जानकर **महात्मा गांधी** ने **सत्य, अहिंसा** आदि शाश्वत साधनों के द्वारा ही हीन मानव समाज के उद्धार के लिए एक नूतन प्रयोग-पद्धति का आविष्कार किया, जो (पद्धति) अध्यात्म और अधिभूत तथा स्वार्थ एवं परार्थ के बीच भेद पैदा करने वाले विरोधी तत्त्व को नाश करने में तथा साथ ही अध्यात्म के साथ योग करके विशुद्ध नैतिक आधार पर समाज का नव निर्माण करने में समर्थ है। प्राचीन युग में **ईशामसीह, महात्मा बुद्ध** और **महावीर** आदि ने जीवनसंघर्ष की उपेक्षा करके मानव के लिए उत्कृष्ट आदर्श की स्थापना की। **कृष्ण, मोहम्मद** आदि ने घनघोर जीवनसंघर्ष करते हुए भी चित्त में समता एवं हिंसा, क्रूरता आदि से मन को निर्लिप्त रखने की कुशलता प्रदर्शित की। **महात्मा गांधी** ने संसार से हिंसा आदि दोषों को हटाने के लिए न केवल कौशल अर्जित किया, अपितु उसका उपदेश भी किया। इतना ही नहीं, उन्होंने हिंसा का समाज से समूल उन्मूलन के लिए मन और क्रिया में तादात्म्य करके **सत्याग्रह** नामक अभूतपूर्व **आध्यात्मिक चमत्कार** को प्रस्तुत किया।

महात्मा गान्धी किसी सिद्धान्त विशेष के या दर्शन विशेष के प्रवर्तक आचार्य नहीं थे। उन्होंने तो केवल हिंसा, घृणा, द्वेष आदि के द्वारा लोकमंगल का ध्वंस करनेवाले जो क्रूर संघटन बन गये थे, उनका विघटन करने के लिए सनातन काल से विद्यमान सत्य, अहिंसा आदि तत्त्वों को विश्वविजयी शक्ति से सम्पन्न अमोघ शस्त्र के रूप में प्रस्तुत किया। इसलिये वे सफल प्रयोगशास्त्री थे और इसीलिए **गांधीवाद** एक **प्रयोगात्मक दर्शन** है।

आज का मानव जीवन चारों ओर से राजनीति से घिरा हुआ है। **राजनीति** के बारे में आम धारणा है कि वह वेश्या के समान बहुरूपिणी एवं अन्याय, झूठ, धोखा आदि की प्रसविणी है। 'प्रधान शत्रु को ही सबसे पहले समाप्त करना चाहिये'—इस नीति के अनुसार (प्रधान मल्लनिबर्हणन्यायेन) उन्होंने राजनीति के दोषों को हटाने के लिए सर्वप्रथम अपना कार्यक्षेत्र उसे ही बनाया। राजनीति में भी यम, नियमों के पालन को आवश्यक बतलाकर उन्होंने त्यागी, तपस्वियों के लिए भी **समाजसेवा का आध्यात्मिक पथ** उद्घाटित किया। अध्यात्म की साधना का यह अंश अथवा अध्यात्ममूलक नीति का यह प्रयोग सर्वथा नवीन था, इसलिये सनातन सत्य की तदनुकूल गांधीवादी व्याख्या सत्य की प्रचलित प्राचीन व्याख्याओं से बहुत कुछ भिन्न हो जाती है। इसलिए सत्य आदि शब्दों का अपने पुराने संस्कारों के कारण जो अर्थ भासित होता है, उसे छोड़कर भिन्न व्याख्या करना चाहिए। उसके दिङ्‌निर्देश का यहाँ प्रयास किया रहा है।

जो सब देश और सब काल में सत् है, वह **सत्य** है। असत् का किसी भी तरह अस्तित्व नहीं होता। इसलिए सत् ही विश्व का आधार एवं उपादान है। इस प्रकार के सत्य का शुद्ध चेतनरूप होना और ज्ञानरूप होना भी अनिवार्य है। ऐसे सत्य का देश और काल से परिच्छिन्न देह के साथ सम्बन्ध होता असम्भव है। इसलिए **सत्य** या **ईश्वर** का वाणी और मन से अगोचर, अनादि, अनन्त, सत्, चित्, आनन्द एवं निर्गुण स्वरूप निश्चित होता है। इस सत्य का साक्षात्कार ही मनुष्यों का परम पुरुषार्थ है वही जीवन का लक्ष्य है। यही परम सत्य भी कहलाता है। क्योंकि सत्य ही विश्व का अधिष्ठान है इसलिए असत्य की दृश्यमान सत्ता भी सत्य को आलम्बन करके ही खड़ी होती है। इसी कारण असत्य के अन्तस्तल में भी सत्य ही विराजमान रहता है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने दैनिक जीवन में सत्य के अन्वेषण के लिए लगातार धैर्यपूर्वक अभ्यास करता रहे। सत्य का यही व्यावहारिक

रूप **'अपर सत्य'** कहलाता है। धर्म्य, न्याय्य एवं उचित कर्मों का बोध, वचन, आचरण और अनुष्ठान इस 'अपर सत्य' का साकार रूप है। यही **'साधन सत्य'** भी कहलाता है। सत्य के अनुसन्धान का अभ्यास तथा तद्विपरीत असत्य से उदासीनता परम आवश्यक है। इस साधनमार्ग में संलग्न साधक सारी विपत्तियों को अपने ऊपर झेलकर सत्य का अनुसन्धान करता है। इस प्रकार साधक अज्ञानवश असत्य मार्ग का आलम्बन करके उससे भी निवृत्त होकर पुनः सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। क्योंकि सत्य का अन्वेषण ही उसके जीवन का लक्ष्य है। इसलिए अनृत से निवृत्त होकर सत्य का ग्रहण करना उसके लिए अवश्यम्भावी हो जाता है, क्योंकि वह सत्यान्वेषण में प्रवृत्त है।

महात्मागांधी सत्य को ही ईश्वर मानते हैं और उसे ही जगत् का मूल स्वीकार करते हैं। जगत् के सारे चिन्तक सत्य के अन्वेषक हैं, अतः इस अंश में उनमें कोई विरोध नहीं है। विरोध तो तब खड़ा होता है, जब इस प्रकार के सत्य को कोई भौतिक अथवा कोई आध्यात्मिक स्वीकार करता है। किन्तु सत्य की इस तरह की सैद्धान्तिक अवस्था तत्त्वान्वेषण व्यापार कीं समाप्ति पर कहीं अन्त में आती है। अथवा इस प्रकार के सिद्धान्त में विरोध की सम्भावना ही कहाँ है? विरोध तभी सम्भव है, जब सत्य की पूर्णता में सन्देह हो। आज तक जितने भी सिद्धान्त-वादी हुए हैं, उन्होंने सत्य के विभिन्न अंशों का ही निर्णय किया है। सम्पूर्ण सत्य का दर्शन आवश्यक है। यही कारण है कि आज तक का एतद्विषक सारा प्रयास निष्फल रहा है।

ऐसा लगता है कि सत्य की प्राप्ति के साधनों में ही कुछ त्रुटि रह गई है। उस त्रुटि को दूर करने के लिए तथा सम्पूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण अहिंसा को ही साधन के रूप में महात्मागांधी ने प्रस्तुत किया। गान्धी जी के विचारों में **अहिंसा की पूर्णता** व्यक्ति के जीवन में उसके प्रतिष्ठित हो जाने मात्र से सम्पन्न नहीं होती, क्योंकि व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता से अतिरिक्त नहीं है। इस अहिंसा के मूल में यह निहित है कि साधक स्वयं अपने दोषों का निरीक्षण करे। अपने दोषों का दर्शन और उसके लिए स्वयं ही प्रायश्चित्त करना जिस अहिंसा में निहित है, उस अहिंसा की उपासना-पद्धति में साधनावस्था में भी किसी के साथ विरोध सम्भव नहीं है। इसलिए यह एक अविरोधी मार्ग है।

सत्य की साकार उपासना व्यवहार में होती है। व्यावहारिक सत्य भी व्यक्ति की मिथ्या धारणाओं से आच्छन्न रहता है। इसलिए सत्य और मिथ्या में

विवेक ही दुष्कर हो जाता है। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने सत्य की प्राप्ति के लिए **साधन की सत्यता** पर विशेष बल दिया। यह प्रायः अनुभव में आता है कि सत्य को उद्देश्य बना कर भी यदि उसको प्राप्त करने के लिए असत्य साधन उपयोग में लाये जाते हैं तो व्यक्ति लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। साधन में निहित विकारों से प्राप्त सत्य भी कलुषित हो जाता है। सत्य साधन ग्रहण करने से प्राप्त सत्य उत्तरोत्तर स्फुट एवं प्रकाशवान् होता है। इस प्रकार अपर सत्य (व्यवहार सत्य) पर आग्रह रखने से अन्त में वह सत्य का रूप ग्रहण कर लेता है। इसलिए '**साध्य साधन का अभेद**' तथा **पवित्र साध्य के लिए पवित्र साधन का ही ग्रहण**' ये सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुए। यद्यपि 'साध्य साधन का अभेद' यह सिद्धान्त अन्य दार्शनिक मतों में सर्वथा स्वीकृत नहीं है, फिर भी सभी अध्यात्म-विद्याओं में पामर मनुष्यों तक में स्वाभाविक रूप से माना जाता है। दीक्षा और कृपा द्वारा जब यह सिद्धान्त उद्‌बुद्ध किया जाता है तो साधक क्रमशः उत्तरोत्तर भूमिकाओं में आरोहण करता है। नैतिक आचारों से सम्पन्न **महात्मागांधी** ने तो मनुष्यों में सामान्य रूप से विद्यमान हिंसावृत्ति का दमन करके अहिंसावृत्ति को ही बुद्धि और इन्द्रिय व्यापारों के अनुकूल करते हुए तथा परा अहिंसा का आलम्बन करते हुए परम सत्य का आश्रयण किया था।

'**जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है**' तथा **समस्त प्राणियों में एकात्मबुद्धि रखना**'—ये सिद्धान्त व्यक्ति और समाज में एकता साधते हैं। 'एक ही अखण्ड सत्य समस्त प्राणियों में व्याप्त है' इस सिद्धान्त से सभी जीवों में एकत्व सिद्ध होता है। इसलिए सत्य के शोधन के लिए जितनी आत्मशुद्धि अपेक्षित होती है, उतना ही उसके विरोधी अधर्म का उच्छेद भी आवश्यक होता है। सत्य क्योंकि अधर्मों से आच्छन्न रहता है, अतः उनके उच्छेद के बिना 'सत्य प्राप्त हो गया' ऐसा मान लेना साधक के लिए आत्मविडम्बना मात्र ही है। इसलिए '**अपर सत्य**' के अथवा '**सत्याग्रह**' के दो आवश्यक कर्त्तव्य हैं—(१) अपने जीवन में सत्य को उतारना (आचार) तथा (२) बाह्य असत्यों का प्रतीकार करना।

सत्य को लक्ष्य बनाकर भी जब साधक असत्य के प्रतीकार के लिए ध्वंस या हिंसा के मार्ग को अपनाता है तो पहले से परिचित एवं घृणित असत्य को ही सामने देखकर वह बाह्य से अन्तर्मुख हो जाता है। हिंसा से परावृत्त होकर वह अपने भीतर ही क्रमशः समस्त बाह्य उपद्रवों का समाधान प्राप्त कर लेता है। अन्तःकरण की यही उदात्त वृत्ति अहिंसा कहलाती है, जिसके द्वारा मनुष्य शुद्ध सत्य में प्रतिष्ठित

होता है। इसलिए अत्यन्त क्रूर अत्याचारी के हृदय में भी सत्य की परम पवित्र मूर्ति स्थित होती ही है। दूसरों के पापों के प्रभाव से मेरा भी व्यक्तित्व आवेष्टित है—ऐसा आकलन करके दूसरे के संकट समूहों को वह स्वयं सहन करता है तथा व्यापक असत्य के प्रतीकार के लिए उद्यत हो जाता है। वस्तुतः यही **अहिंसा का मार्ग है।** अहिंसा का परिणाम अहेतुक प्रेम, असीम नम्रता और अहंकार का आत्यन्तिक विनाश है। अहिंसा अपने में पूर्ण, नित्य एवं स्वाभाविक स्थिति है।

क्योंकि **अहिंसा** स्वाभाविक स्थिति है, इसीलिए **महात्मागांधी** ने कहा "सभी प्राणी अहिंसा में ही अभिनिविष्ट हैं, किन्तु अज्ञानावस्था में रहते हुए जीवन और मृत्यु में सतत युद्ध चल रहा है, किन्तु इसकी परिणति जीवन में है मृत्यु में नहीं"। इसलिए सत्य का शोध अहिंसा को छोड़कर सम्भव नहीं है। **सत्य और अहिंसा** आपस में इतनी ओत-प्रोत हैं कि एक को छोड़कर दूसरे की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। परम सत्य और परम अहिंसा में कुछ भी भेद नहीं है, फिर भी महात्मागांधी **साधन** के रूप में **अहिंसा** को तथा **साध्य** के रूप में **सत्य** को स्वीकार करते हैं। क्योंकि साधन मनुष्य के कब्जे में होता है, अतः वही परम कर्त्तव्य एवं परम धर्म होता है। **सत्य** तो साक्षात् **परमेश्वर** ही है।

'प्राप्त **अपर सत्य** का परिष्कार तथा अप्राप्त **परम सत्य** का अन्वेषण' यही **सत्य का शोध** है। इसलिए सत्य का शोध करनेवाले के लिए अहिंसा के प्रति श्रद्धा जरूरी है। **श्रद्धा** का अभिप्राय है—**आत्मविश्वास**। आत्मविश्वास का तात्पर्य है—**ईश्वर में विश्वास**। इसलिए महात्मा गांधी ने कहा कि अहिंसा केवल बुद्धि का विषय नहीं है अपितु वह श्रद्धा और भक्ति का विषय है। यदि साधक का विश्वास अपने में नहीं है तो अहिंसा उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं कर सकेगी।

अहिंसा की शक्ति को संघटित करना महात्मा गांधी के **प्रयोग-दर्शन** का का परम उत्कर्ष है। उन्होंने अहिंसा की शक्ति को संघटित किया और सामाजिक धर्म के रूप में उसका अपूर्व प्रयोग किया। महात्मा गांधी ने कहा—"मनुष्य केवल व्यक्ति ही नहीं है, वह पिण्ड होते हुए ब्रह्माण्ड भी है। वह अपने ब्रह्माण्ड का भार अपने कन्धों पर रखकर घूम रहा है। जो धर्म केवल व्यक्ति के ही लिए है, वह मेरे काम का नहीं है। मेरा तो यह मानना है कि सम्पूर्ण समाज अहिंसा का आचरण कर सकता है और स्वभावतः करता भी है। अहिंसा एक सामाजिक धर्म है और सामाजिक धर्म के रूप में ही उसका विकास होगा"। क्योंकि महात्मागांधी मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्वरूपों को अविनाभूत

मानते हैं, इसलिए वे दोनों की उन्नति के लिए समानरूप से बल देते हैं। क्योंकि अहिंसा व्यक्ति और समाज दोनों क्षेत्रों में समानरूप से व्याप्त है, अतः अन्त में पूर्ण सत्य का दर्शन करा कर वह सामाजिक धर्म हो जाती है।

मनुष्य हमेशा अपने को सुखी करने की चेष्टा करता है। दूसरों को पीड़ा देना उसकी सहज वृत्ति नहीं है, इतना ही दूसरों के लिए अपना उत्सर्ग कर देना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए गांधी ने त्याग और तपस् की ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति को सजीव बनाने का प्रयत्न किया। प्रतिहिंसा जीवधारी का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह जीवन की विधि नहीं हो सकती। इसीलिए शासन करनेवाले और आदेश देने वाले समस्त शास्त्रों में प्रतिहिंसा अनिवार्य नहीं मानी गई, अपि तु हिंसा क्षम्य मानी गई। हिंसा किसी परिस्थिति में सहज वृत्ति मान भी ली जाए, फिर भी वह बाह्य परिस्थिति से जन्य एवं प्रतिघात से उत्पन्न होती है, इसलिए विकारमात्र है, वह कथमपि संस्कार नहीं है।

अहिंसा निवृत्ति कर्म अथवा अक्रिया नहीं है, अपितु वह बलवान प्रवृत्ति और प्रक्रिया है। हिंसा का मूल अहंकार है। अहंकारमूलक कर्म सीमित होता है। इसलिए अहिंसा की शक्ति अपरिमित होती है और वह सतत बढ़ती ही रहती है। प्रतिघात में उतनी शक्ति नहीं है, जिससे दुष्कर्मों का विनाश और सज्जनों की रक्षा पर्याप्तरूप से की जा सके। प्रतिघात सजातीय दूसरे प्रतिघात को पैदा करता हुआ क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि को तीव्रता से उत्तरोत्तर शक्तिशाली होता जाता है। शक्तिशाली प्रतिघात स्वयं प्रयोग करने वाले और जिसके ऊपर प्रयोग किया जाता है, दोनों को नीति और धर्म से च्युत कर देता है। नाश से अभिन्न यह प्रतिघात नाश से नाश को पैदा करता हुआ अन्त में नाश में ही पर्यवसित होता है। प्रतिघात का यही बड़ा भारी दोष है, जिसके कारण उसने महापुरुषों के द्वारा धर्म के रक्षण तथा लोक के कल्याण के लिए बार-बार किए गए प्रयासों को विफल कर दिया। यद्यपि उन प्रयासों ने कुछ कालके लिए सज्जनों को राहत प्रदान की, किन्तु चिरकालिक शान्ति और सुख के लिये वे धर्म का विधान नहीं कर सके। महात्मा गांधी ने प्रतिकार की अहिंसक पद्धति का आविष्कार करके जो नैतिक क्रान्ति पैदा की, वह क्रान्ति सम्पूर्ण मानव समाज की हिंसामूलक जीवन-व्यवस्था का तथा उसके आधार पर प्रवर्तित नीतिशास्त्रों का समूल नाश करके शाश्वत शान्ति देनेवाली नवीन व्यवस्था को जन्म देने में समर्थ होगी।

हिंसा से रहित यह प्रतीकार निर्माण है, जो विपक्षी के हृदय का परिवर्तन करता है। जिस दिन से यह अहिंसक प्रतीकार प्रारम्भ होता है, उसी दिन से यह

प्रयोग करने वाले के समक्ष विपक्षियों के हिंसक हथियारों को उत्तरोत्तर कुण्ठित करने लगता है। अहिंसा सर्वप्रथम सजातीय अभय को उत्पन्न करता है और विजातीय क्रोध आदि का शमन करता है। अभय के प्रतिष्ठित हो जाने पर जैसे-जैसे अहित की आशंका क्षीण होने लगती है वैसे-वैसे अविरोध का भाव बढ़ने लगता है। विरोधी भावना के नष्ट हो जाने पर अहिंसक रीति से किया जाने वाला संघर्ष शिव और सत्य का निर्माण करने लगता है। हिंसा का आदि, मध्य और अवसान सभी भय में पर्यवसित होते हैं, इसलिए हिंसक प्रतीकार किसी भी पक्ष के भय का नाश नहीं करता। **प्रतिघात** अपने सजातीय प्रतिघात को उत्पन्न करता हुआ सबसे पहले प्रयोग करने वाले व्यक्ति के भीतर ही भय एवं त्रास आदि से उत्पन्न दैन्य एवं कातरता को पैदा करता है जिसकी वजह से प्रेम, त्याग आदि सद्गुण उत्तरोत्तर क्षीण होगे लगते हैं। इसके विपरीत साधक जब **अहिंसा** को जीवनविधि के रूप में स्वीकार करता है, तब अकुशलों और पापों से संघर्ष ही उसका जीवन बन जाता है। उसी समय **धर्मयुद्ध** का वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है। जैसे हिंसक प्रतीकार से पूर्व विपक्षी के प्रति क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदि का होना अनिवार्य होता है और हिंसा करने के लिए अस्त्र-शस्त्र आदि का प्रयत्नपूर्वक संग्रह और प्रयोग करना अपेक्षित होता है, ठीक उसी प्रकार अहिंसक प्रतीकार से पूर्व सत्य के प्रति जिज्ञासा, सत्याग्रह, मानवों के प्रति समताभाव एवं भूतदया आदि का होना अपेक्षित होता है। साथ ही सहिष्णुता और मानवमात्र के प्रति प्रेम तथा उनके लिए प्राणोत्सर्ग एवं मृत्यु के आलिंगन की कला का प्रशिक्षण भी आवश्यक होता है।

अहिंसा का प्राचीन प्रयोग **प्रतिरोध न करने** तक ही सीमित था, इसलिए उसका विकास व्यष्टिजीवन में ही सम्भव हो सका और समाज में आहार आदि तक ही उसका प्रयोग मर्यादित रहा। किन्तु अहिंसा समाज का कल्याण साध सकती है और अन्धे; लंगड़े व्यक्ति तक का वह अमोघ अस्त्र हो सकती है तथा समाज-सेवा के माध्यम से स्वरूपलाभ भी करा सकती है—इस प्रकार की अहिंसा में निहित विश्वविजयिनी शक्ति प्रायः उच्छिन्न हो गयी। **महात्मा गांधी** की पद्धति अध्यात्म का अपूर्व प्रयोग है, क्योंकि उनकी पद्धति, आर्थिक और भौतिक सहायता की बिना अपेक्षा किए सभी प्राणियों में प्रतिष्ठित सत्य और अहिंसा की शक्तियों को संघटित करते हुए समाजकल्याण विरोधी तत्त्वों को और अपनी बुराइयों को पराभूत करने में समर्थ है।

क्योंकि **गांधीवाद प्रयोगदर्शन** है, अतः वह साधन को ही पर्याप्त मानता है। इसलिए इस सिद्धान्त में सत्यशोध को छोड़कर केवल विवेक के आधार पर सत्य को प्राप्त कर लेना अपर्याप्त समझा जाता है यह ज्ञातव्य है कि समस्त **ईश्वरवादियों** की भाँति महात्मा **गांधी** भी **मोक्ष** को परम पुरुषार्थ मानते हैं। उनके अनुसार मोक्ष का अर्थ है—सत्यस्वरूप हो जाना। शरीर की स्थिति अहंकारमूलक है। अहंकार-रहित साधक की अपरोक्ष स्थिति ही उसकी सत्यस्वरूपता है। यही साधक की त्रिकालदर्शिता है। इस तरह **सत्यमूर्ति** हो जाना ही **जीवन्मुक्ति** है। महात्मा गांधी साधक की इस अन्तिम अवस्था को **शून्यवत्** स्थिति कहते हैं। शून्यवत् स्थिति का यह अर्थ नहीं है कि कोई साध्य वस्तु ही नहीं है, जैसा की **अनात्मवादी** लोग मानते हैं; अपितु साधक की आत्यन्तिक निरहंकार स्थिति उसका अर्थ है। निरहंकारता की स्थिति में समष्टि और व्यष्टि में एकत्व दर्शन ही **आत्मदर्शन** है। एकत्वदर्शनमूलक आचरण और तद्विशिष्ट सत्यशोध ही सत्य का लाभ है। इस तरह तत्त्वदर्शन के लिए आचरण शून्य किसी स्थिति को **गांधी जी** स्वीकार नहीं करते। इसलिये उनके मत में आचारधर्म जीवमात्र के लिए आवश्यक है। यह अचार-धर्म आत्मशुद्धि के साथ जगत् का भी नवनिर्माण करता है। प्राचीन **योगशास्त्र** भी साधन के रूप में यम, नियम आदि का उपदेश करता है किन्तु उन योग मार्गियों ने **समाज सेवा** के महत्त्व को नहीं समझा। इसलिए **आत्मलाभ** के लिए **समाज सेवा के प्रति निष्ठा** गान्धी जी की अपूर्व देन है।

गान्धीवाद **कर्म, भक्ति** और **ज्ञान** का अपूर्व **समन्वय** है। इन तीन में से किसी एक की प्रधानता को वे स्वीकार नहीं करते। सभी का सम्पूर्ण उदय उनका तत्त्व-ज्ञान है, **रचनात्मक कार्यक्रम** उनका **कर्मयोग** है तथा नाम स्मरण के द्वारा परमेश्वर की सहायता प्राप्त करते हुए अहिंसा आदि एकादश व्रतों का आचरण **भक्तियोग** है। गांधीवाद के ये तीन सम्यग्-दर्शन हैं, जिनके द्वारा समष्टि-आत्मा परिशुद्ध होता है। इस निखिल समष्टि का केन्द्र उनके मत में स्वजीवन अर्थात् व्यष्टिजीवन है।

महात्मा गांधी के मत में बुद्धि कर्म का अनुसरण करती है तथा कर्म का आदि स्रोत वे श्रद्धा को मानते हैं। उनके अनुसार श्रद्धा विशुद्ध ज्ञानमयी है और वह मन को शुद्ध करती हुई हृदय को पुष्ट करती है। हृदय की पुष्टि के द्वारा आत्मबोध होता है। फलतः हृदय में रहनेवाली बुद्धि अपने आप अनायास परिशुद्ध हो जाती है। इसलिए उनकी दृष्टि में केवल बुद्धिवाद कोरा भ्रम है, क्योंकि वह आत्मशक्ति को अवरुद्ध करता है। इसलिए वे कहते हैं—**"जो बुद्धि से परे है, वह श्रद्धा**

का क्षेत्र है जो बुद्धि का विषय है,वह कभी भी श्रद्धा का क्षेत्र नहीं है, इसलिए अन्ध श्रद्धा कभी भी श्रद्धा नहीं है, अन्धत्व बुद्धि का धर्म है'। 'बुद्धि और अन्तः-शुद्धि में परस्पर कार्यकारणभाव कतई नहीं है।' श्रद्धा से आत्मज्ञान बढ़ता है, श्रद्धा ही जगत् को धारण करती है"। अतः उत्कट श्रद्धा ही धर्म है।

क्योंकि गांधीवाद में सत्य और अहिंसा ही स्वतःप्रमाण हैं, अतः उनके अनुसार वे ही परम धर्म हैं। सत्य और अहिंसा के अनुकूल वचन ही धर्मशास्त्र है। ईश्वर केवल श्रद्धा द्वारा वेद्य है। जब पापों का नाश किया जाता है, तब पाप समूहों के साथ जो संघर्ष होता है, उस समय ईश्वर का आभास मिलता है। इस संघर्ष के समय अत्याचारी के प्रति क्रोध का लेश भी उत्पन्न न हो, यही सच्ची ईश्वरनिष्ठा है। सत्य, अहिंसा आदि के नियम ही सत्य या ईश्वर का साकार विग्रह हैं, क्योंकि नियम और नियन्ता में अभेद है। नियम के साथ अभेद स्थापित कर लेना ही 'जप' है।

गान्धीवाद का उपर्युक्त विवेचन केवल दिङ्निर्देशमात्र है। यहाँ मैंने अधिकतर प्रतिज्ञाएं ही की हैं, इसलिए निबन्ध की पर्याप्त आलोचना अपेक्षित है, जिससे यह धर्म, दर्शन, समाजशास्त्र आदि की दृष्टि से भलीभाँति आलोचित हो जाए।



"सत्य की व्याख्या"

आचार्य पं० रामप्रसाद त्रिपाठी

गांधी जी की दृष्टि में

गांधीजी ने उन नैतिक नियमों का विवेचन किया है जिनका पालन मनुष्य को व्रत की भाँति करना चाहिये। इन नैतिक नियमों का पालन आत्मानुभूति का सच्चा मार्ग है। व्रत का अर्थ है—जो कार्य करना उचित है, विघ्नों को सहन करते हुए उसे करना[1], व्रत शक्ति के स्रोत हैं। वे नैतिक नियमों पर चलने के लिए अविचल निश्चय के द्योतक हैं।

व्रत लेने की इच्छा न होना दुर्बलता की सूचना है। उनकी दृष्टि में व्रतों में सत्य का प्रथम स्थान है। वह गांधीजी के जीवन और दर्शन का ध्रुवतारा है।

गांधीजी दो प्रकार का सत्य बताते थे (१) **साधनरूप सत्य**—जैसा कि व्यक्ति परिस्थिति विशेष में उसे जान पाता है। (२) **साध्यरूप सत्य**—निरपेक्ष, सार्वभौम, पूर्णसत्य—जो देश तथा काल से परे है, ईश्वर स्वरूप है। जिसका वास्तव में अस्तित्व है जिसमें समस्त ज्ञान सम्मिलित है; जो शाश्वत आनन्द का स्रोत है। इसीलिये सत्य को सच्चिदानन्द रूप में कहा जाता है।

गांधीजी ईश्वर के **सत्यरूप** के ही पुजारी थे, उसके अतिरिक्त अन्य किसी के नहीं, उनका विश्वास था कि सत्य की विजय होती है असत्य की नहीं[2] क्योंकि असत्य का अस्तित्व ही नहीं होता तो विजय की क्या आशा? सत्य की अनुभूति के लिये मनुष्य को सत्याग्रही बनना चाहिये।' जब शुद्ध आचरण अज्ञान को दूर कर देता है, तो सत्य स्पष्ट प्रकाशित होता है।

आत्मीयों पर पक्षपात करना, धोखा देना, वास्तविकता से घटा बढ़ाकर बताना, या दबाना, टालमटोल करना, आदि के लिये सत्य में कोई स्थान नहीं है।

(१) आत्म शुद्धि पृ० ६२.६३।
(२) आत्मशुद्धि पृ० २ आत्मकथा भाग १ पृ० ७।

मनुष्य अपनी भूल मानने मे न डरे। यह भी सत्य है, कि मनुष्य जिस सत्य को देख सकता है, वह आंशिक एवं आपेक्षिक है। गांधी जी का कहना था कि कठोर सत्य शिष्टता और नम्रता से कहे जांय लेकिन पढ़ने में तो शब्द कठोर ही होंगे, सत्यवादी होने के लिये आपको झूठे को झूठा कहना ही होगा। शायद शब्द कठोर हैं, लेकिन उनका प्रयोग अनिवार्य है।,[१] इस बात को गांधी जी ईसा के उदाहरण से स्पष्ट करते थे "ईसा तो धूर्तों को जानते थे, उनके वर्णन में उन्होंने झूठी विनम्रता नहीं वरती, किन्तु उनके लिये दया की याचना की।[२]

गांधी जी ने स्वयं १९३३ ई० में कहा था सत्याग्रह का विज्ञान मुझे वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा प्राप्त हुआ।[३]

गांधी जी सत्य को ईश्वर रूप में समझते थे। बात सही है, विचार किया जाय तो वेदों, स्मृतियों, पुराणों में सर्वत्र सत्त्व का महत्त्व सर्वातिशायिरूप में कहा गया है–जैसा कि वेद ने आज्ञा दी है–सत्यं वद, धर्मंचर-अर्थात् मानव! तुम सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। यद्यपि "धर्म का आचरण करो" ऐसा कहने से ही सत्य बोलो, यह अंश गतार्थ हो जाता है, क्योंकि सत्य बोलना' धर्माचरण ही है। फिर भी ब्राह्मण-वशिष्ठ-न्याय से उसकी विशेषता बतायी गयी है। इसीलिये अन्त में सत्यमेव जयते-नानृतम्' ऐसा भी वेद का वचन मिलता है। जिससे असत्य पक्ष की अपेक्षा सत्य की विजय बताई जाती है। राजर्षि मनु से निर्मित मनुस्मृति में 'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः' कहते हुये प्रिय सत्य बोलने का संकेत किया गया है। जिसका आशय है कि कठोर सत्य से हिंसा होती है, अतः अहिंसोत्पादक प्रिय सत्य का प्रयोग उचित है। अन्य स्मृति में मिलता है कि—'सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्' दया से मिश्रित अनृत (असत्य) भी सत्य है। इसी अंश का पोषक वचन है कि—

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गो ब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सतम्॥

---

(१) ह० ५।२।२५। पृ० ४१४।
(२) ह० १६।१२।३६। पृ० ३६२।
(३) कनवर्सेसन्स पृ० ४१।

अर्थात् स्त्रियों के सम्बन्ध में, हँसी में, विवाह में, जीविका के विषय में, गाय और ब्राह्मण के हित में, किसी की हिंसा के निराकरण में यदि असत्य भी बोलना पड़े तो निन्दित नहीं है।

तात्पर्य यह कि असत्य का दोष तो होगा, पर इन कार्यों से पुण्य भी होगा, जिसकी मात्रा अत्यधिक होगी। अतः उस पुण्य राशि से पाप की अत्यल्प मात्रा शान्त हो जाएगी। जैसे जाड़े से ठिठुरा हुआ पाँव आग पर रख दिया जाता है, आग की कणिका पाँव में लगती है, पर उससे किञ्चित भी कष्ट नही होता। एक **पुराण** में ऐसी कथा मिलती है कि एक बधिक ने किसी मृग को वाण से मारा; बाण लगने से मृग दौड़ता हुआ एक ऋषि के आश्रम में छिप गया, बधिक आया ऋषि को प्रणाम पूर्वक पूछा कि महाराज! इधर आपके आश्रम में एक मृग आया है आप कृपया बता दें कि वह कहाँ है? ऋषि ने उत्तर दिया कि—ऐ बधिक!

या पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति।

अर्थात् जो व्यक्ति देखता है वह तो बोलने में समर्थ नहीं हैं, तथा जो जिह्वा बोलती है, वह देख नहीं सकती। इस प्रकार हिंसा का बचाव करते हुये उन्होंने सत्य का पालन किया। कभी-कभी गांधी जी भी अपने अन्तरङ्ग व्यक्तियों से कह देते थे कि आप इस वात को न पूछें, इस विषय में हम कुछ नहीं कहेंगे। यह भी सत्य का पालन ही है।

सत्यनारायण की कथा **स्कन्दपुराण** के रेवाखण्ड में कही जाती है, उसमें नारायण अर्थात् ईश्वर को सत्यरूप में याद किया गया है। वहाँ कलियुग के लिये सत्यरूपी जनार्दन ही सर्वस्व बताये गये हैं, जो गांधी जी की अविचल विश्वास भूमिका है। इस कथा में **देवर्षि नारद** श्रोता हैं, **वैकुण्ठाधिपति भगवान** वक्ता हैं। **"केनोपायेन चैतेषां दुःखनाशोभवेद् ध्रुवम्"** इसी उद्देश्य से नारद जी का प्रश्न है। गांधी जी भी मानवों के दुःख से संतप्त चित्त होकर ही सत्य रूपीं ईश्वर की शरण लेते हैं, सत्याग्रह करते हैं। सर्वत्र व्याप्त सत्य रूपी ईश्वर ने उनकी अर्थात् उनके सत्य पक्ष की विजय घोषणा कर दी। इधर **देवर्षि नारद** भी प्राणियों के सन्ताप-निवारण के लिये सत्यनारायण की कथा का प्रचार तथा सत्य व्रत लेने की घोषणा करते हैं। **काशीपुरी** का एक ब्राह्मण उस व्रत में दीक्षित होता है, फिर लकड़ी बेचने वाला काष्ठ विक्रेता, फिर सपत्नीक राजा तथा वैश्य आदि सज्जन वृन्द इस व्रत में दीक्षा लेते हैं। आज कल इसका भारत भर में अविच्छिन्न प्रचार है। इतना ही नहीं विदेशों में भी इस कथा का श्रद्धापूर्वक प्रचार है। यहाँ

पर यह स्मरणीय है कि **नारं ददातीति नारदः** अर्थात् मानवता का दान करने वाला या नृणां नराणां वा भावो नारम् "प्राणभृज्जातिवयो वचनाद् गात्रादिभ्योऽञ्" इस पाणिनि सूत्र से नृ अथवा नर शब्द से प्राणभृज्जाति वाचक होने से भाव अर्थ में अञ् प्रत्यय होकर नार शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है "मानवता, उसका देने वाला, अर्थात् मानवता की शिक्षा देने वाला। स्वयं भी नारं दयते, रक्षति इस व्युत्पत्ति से मानवता की रक्षा करने वाला, यह भी अर्थ है। परोपकार व्रती ही ही मानवता का रक्षक होता है। देखिये **'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्, परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।'** अर्थात् अठारहों पुराणों का निष्कर्ष यह है कि—पुण्य की इच्छा हो तो परोपकार कीजिये, पाप की इच्छा हो तो परपीडा-दीजिये। गोस्वामी तुलसीदास ने भी यही कहा है – **'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई।'** नारद शब्द का यह भी अर्थ है कि—नारं मानवतां द्यति खण्डयति अर्थात् मानवता का खण्डन करने वाला। इसका तात्पर्य यह है कि मानव जब अपने पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है तब वह (नरो-नारायणो भवेत्) अर्थात् नारायण हो जाता है, उस सिद्धान्त का प्रचार करने से नारद जी में यह भी अर्थ चरितार्थ होता है। मानवता से दानवता की ओर ले जाना यद्यपि मानवता का खण्डन है, तथापि यह अर्थ यहाँ इस लिये नहीं माना है कि वह अन्य अर्थों से विरुद्ध है। प्रकृत में तात्पर्य यह है कि **परानुग्रहेच्छा** से प्रेरित इस कलियुग में **गांधी जी** के सत्याचरण पर ध्यान दिया जाय तो अवश्य यह समझ में आ जायेगा कि वे **देवर्षि नारद** के मार्ग का अनुशीलन करते हुये ईश्वर तत्त्व को सत्य रूप में देखना चाहते थे। समस्त विश्व को सत्याचरण में प्रवृत्त करते थे, साथ ही उसका उपाय सर्वोच्च रूप में प्रवृत्त अहिंसा को बताते थे। उन्होंने मानवता की रक्षा करते हुये सभी को मानवता की शिक्षा दी है।

आज का मानव सत्य के लक्ष्य से विचलित होता हुआ देखा जा रहा है। वह एक रुपये की वस्तु को १०) दस रुपये में बेचने का प्रयत्न करता है, किसी भी विशिष्ट पद को प्राप्त करके अधिकाधिक उत्कोच (घूस) द्रव्य लेकर अपना तर्पण करना चाहता है। सर्वत्र **मात्स्यन्याय** की व्याप्ति देखी जा रही है। सभी का उद्देश्य एक मात्र वैषयिक सुख की प्राप्ति बन गयी है यही तो पाशविक प्रवृत्ति अथवा चार्वाक प्रवृत्ति है।

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

इस सिद्धान्त की घोषणा हो रही है। इससे बचने का एक मात्र उपाय है **सत्याचरण**। इस आचरण को जीवन में उतारने पर शुद्ध घी में डालडा नहीं मिलाया जाएगा। एक रुपये की वस्तु दस रुपये में नही बेची जाएगी। उत्कोच नहीं लिया जाएगा। किसी को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं दी जायगी। क्योंकि सभी का लक्ष्य सत्य प्राप्ति हो जाएगा, असत्याचरण से सभी को भय होगा, कर्मफल एवं पुनर्जन्म पर सभी को विश्वास होगा। जैसा कि गांधी जी को था। ऐसे महान् पुरुषों के द्वारा परिशीलित सत्यानुष्ठान की पद्धति मानवता का सर्वातिशय रूप में पोषण करती है, उसका अनुष्ठान विश्व के लिये परमोपयोगी है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

शान्तिः शान्तिः शान्तिः



भारतीय दर्शन में गान्धी की अहिंसा

आचार्य पं॰ विश्वनाथ शास्त्री दातार

बन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥

गान्धीजी की अहिंसा आदि पद्धतियों के प्रति दार्शनिक सिद्धान्तों का मतैक्य किस अंश में है तथा किस अंश में नहीं, इन दो प्रश्नों पर विचार व्यक्त किया जा रहा है।

वर्तमान समाज गान्धी जी के अहिंसादिसिद्धान्त से परिचित है। उसी सिद्धान्त के निरूपण में मेरे कथन की विधेयता न होगी। इसलिये भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त की रूप रेखा को व्यक्त किया जा रहा है।

भारतीय दर्शन की दृष्टि दो विभागों में विभक्त हैं। एक स्वसिद्धान्त का निरूपण करना। दूसरा सामाजिक स्थिति को देखते हुए वर्णाश्रमियों की मूल-स्थिति को दृढ़ बनाने के लिये सन्मार्ग का प्रदर्शन कराना।

उनमें कतिपय दर्शन ऐसे हैं जो अहिंसादि महाव्रत को अपनाने के लिये उपदेश देते हैं। उक्त उपदेश को प्रत्येक व्यक्ति इष्ट समझता है तो यह तभी सम्भव होगा जब कि प्रत्येक व्यक्ति निराकांक्ष हो बोध में ही रमता रहे तथा काम तत्त्व से वह सर्वथा असंस्पृष्ट हो। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति वैसा न हो तो कतिपय व्यक्ति ही अहिंसादिमहाव्रत के संकल्प को अपनाकर दार्शनिक सिद्धान्त का आदर्श उपस्थापित करते हैं। दार्शनिकों ने अहिंसादिधर्म को महाव्रत इसलिये कहा है कि देशकाल की सीमा से ये आवद्ध नहीं हैं। यह व्रत दार्शनिकों के मत में सफल माना जाता है जब सभी पशु-पक्षि आदि प्राणी व्रती के सान्निध्य में बैर त्यागते हों।

इस सिद्धान्त में अहिंसालु व्यक्ति वैसे नहीं हैं जो कि अपने को पीड़ित करने हों, क्योंकि स्वयं को अनशन आदि निमित से पीड़ा पहुँचाना भी दार्शनिकों के मत में हिंसा ही समझी जाती है।

जब समाज में व्यक्ति अहिंसादि व्रत के उपयुक्त नहीं रहते, तब दार्शनिकों ने हिंसा और अहिंसा को विधि से मर्यादित किया है। इस मर्यादा में सामाजिक परंपरा निरापद है तथा पारस्परिक विश्वास आबद्ध है।

इस निबन्धन का फल दूसरा यह भी हुआ कि कण्टक शोधन का मार्ग प्रशस्त है। समाज में अविद्या का आवरण जब दुरपनेय हो प्रसृत है तब वह तृष्णा का गुलाम हो पारंपरिक शृंखला से विस्खलित होता रहता है। उस अवस्था में समाज की स्थिति भी शोचनीय दृष्टिगोचर होती है। ऐसी बिगड़ती दशा में दर्शन के सामने दो दृष्टियाँ हैं। (१) समाज को स्वकर्तव्य का यथावत्परिपालन करने में प्रेरणा करना। (२) पर के आक्रमण से स्व एवं देश की सुरक्षा करना। एतदर्थ शौर्य एवं युद्धाभ्यास की अपेक्षा होती है। पूर्व दार्शनिकों का कथन इतना ही है कि असत्य एवं हिंसा को अधर्म के नाम पर यदि सर्वथा रोका जाए तो समाज अपना रक्षण नहीं कर पायेगा। क्योंकि अपने वर्ग पर आक्रमण करने के लिये पर सन्नद्ध है। इसीलिये शास्त्र-कारों ने प्रबल कण्टक भूत पर का दमन करने के लिये कूट युद्ध विहित कर रक्खा है। आक्रामक है तो शौर्य विजय भी अभ्यर्हित है। अतः दण्ड की व्यवस्था भी पूर्णतया अपनायी जानी चाहिये। वध आदि दण्ड का प्रयोग शास्त्रोक्त सिद्धान्त का योग्य अनुगमन करता है तो दार्शनिकों की राय में वह अधर्म नहीं है।

दण्ड की युक्तता रहने से ही दौरात्म्य समाज में नहीं रहता, तभी दर्शन समाज को स्वकर्तव्य में प्रेरित कर सकते हैं। बुद्धिमानों की बुद्धिमत्ता इसी में है कि दण्डभय से अपने जीवन के पौर्वापर्य को समझे।

काशीराजदिवोदास को पुरुषार्थ सिद्ध होने पर काशीराज्य से अहिंसा का का उपदेश देकर दार्शनिकों ने उनको राज्य से विरत किया था।

वैष्णव आदि अहिंसाव्रतियों ने अहिंसा पर ही पूर्ण बल दिया है इनकी परंपरा भी वेद से अनुमोदित है। फिर भी समाज की उपर्युक्त स्थिति को देखते हुये व्यवस्थापक के स्वरूप दण्डधर का अनुमोदन करते हैं, उनका यश भी गाते हैं! अज्ञजीवों को अहिंसा का उपदेश दे कर दिङ्मूढ कराना इष्ट नहीं मानते। अपने

में शौर्य रखना ही वैष्णवता का चिह्न है। राग द्वेष पर जब तक नियन्त्रण नहीं होता तब तक अहिंसा का घोष दौर्बल्य का साधक है।

प्रबल पक्ष के विरोध में उसको दण्डित करने के लिये असहयोग करना, यह भी हिंसा का एक प्रकार है जो कि कूट युद्ध विकल्प में गिना जा सकता है। दुर्बलों को अपना कार्य प्रबल कण्टकों के द्वारा साधने के लिए दुर्गलम्भोपाय (सत्याग्रह) है।

इस पर अंकुश रखने के हेतु से धर्म से आबद्ध कर रखा है। नहीं तो समाज में इसी रास्ता का उपयोग अनार्यों के द्वारा प्रस्तुत हो कर प्रजा में व्यसन समृद्धि के रूप में परिणत होगा।

प्रश्न है कि मर्यादित हिंसा भी स्वरूपतः हिंसा ही है, तो वह भी गर्ह्य ही है। उसके समाधान में दार्शनिकों का मत यही है कि समाज के मूर्धन्य आर्य जिस कृति की प्रशंसा करते हैं, वह धर्म के अन्तर्गत है। लोक कण्टक व्याघ्र की मृत्यु को सुन कर मारने वाले को निन्दित नहीं करते, अतः कण्टक हनन धर्म है।

यमार्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः।
सधर्मो यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते॥

त्रयी के द्वारा मर्यादित व्यवस्था के लिये समाज में स्थित शृङ्खला को दुष्ट, हनन करने में सचेष्ट होते हैं तो साम आदि चार उपायों के अन्तर्गत दण्ड का विधान है, उसमें उक्त असहयोग है। वह यदि शिष्टों पर प्रयुक्त होता है तो प्रतिलोम कहा जाता है। प्रतिलोम के लिये दार्शनिकों के यहाँ मान्यता नहीं है। इसी दृष्टि से धर्म-स्थीय, कण्टक धन आदि प्रकरण सुचिन्तित हैं।

उपर्युक्त कथन का सारांश यही है कि यदि समाज का सर्वाङ्गीण वर्ग मित्र-भाव में हैं तो अहिंसा कही जा सकतीं है, दार्शनिकमत में वैसा होना अधर्म-वातावरण में सम्भव नहीं। किं बहुना अहिंसा के आलम्बन में शौर्य समाप्त हो कर बल-हीनता ही दृष्टिगोचर होगी। पर्यन्त में आन्दोलन सफल होगा, यह नहीं कहा जा सकता। कामना के रहते पुनः विरोध का होना परस्पर में अपरिहार्य है। पर पक्ष हिंसा पर उतारू है तो जैसे व्याघ्र बध्य है वैसे ही पर पक्ष भी बध्य है। यदि परपक्ष गुणवान् है तो वह आदरणीय या उचित रीति से पालनीय है। अतः कहना होगा कि मन की असंयतता में अहिंसावाद शौर्य या नाशक हो सकता है।

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः ।

अहिंसा की आड़ में असहयोग आन्दोलन जैसे शस्त्र का प्रयोग वास्तविक दुष्ट के दमन में न होकर रागमानमदान्धता में हो रहा है। अर्थात् अदुष्ट भी इससे दण्डित होते हों तो नीति की असफलता ही समझी जायेगी। इसलिये दार्शनिकों ने अहिंसा का आश्रय उच्चतर ब्रह्मनिष्णात और उच्चतर भक्तिसंपन्नों में होने के लिये कहा है। औरों के लिये हिंसा एवं अहिंसा को मर्यादित कर सामाजिक व्यवस्था को उन्नत बनाते हुए संघटना की नीव को दृढ़मूल किया है। इस रीति से गान्धीजी का अहिंसावाद भी समन्वित किया जाये तो वह भी दार्शनिकों के मत में ग्राह्य है अन्यथा नहीं है।



गांधी : अहिंसा का व्यवहार पक्ष

श्री वीरेन्द्रप्रताप सिंह

महात्मागांधी ने जिस अहिंसा का व्यापक प्रचार किया, वह अन्य सम्प्रदायों एवं व्यक्तियों की अहिंसा से अधिक व्यापक और व्यावहारिक है। यद्यपि अहिंसा का सिद्धान्त गांधी जी का कोई नया सिद्धान्त नहीं है। भारत तथा विश्व के अनेक देशों के लोगों ने अहिंसा के पालन पर जोर दिया है। अहिंसा के महान शिक्षकों और आदर्श उदाहरणों—पार्श्व, महावीर, बुद्ध, जीससक्राइस्ट, पाल आफ टारसस, पटर वाल्डो, विलियम पैन, थोरो, टॉल्स्टाय आदि में अहिंसा की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। सन्तों और पैगम्बरों के नामों में महात्मा गांधी का नाम बड़े ही साहस और धैर्य के साथ सम्मिलित करते हैं। उन्होंने हिंसा को अहिंसा के माध्यम से समाप्त करने की वीणा बजाई थी। उनका कहना था कि अहिंसा की शक्ति से ही हिंसक प्रवृत्तियों को सन्मार्ग पर लाया जा सकता है, क्योंकि यदि हिंसा से ऐसा सम्भव होता तो समाज की बुराइयों को दूर करने की दिशा में हमारी उन्नति एक हमेशा ऊँचे उठते हुए हिंसा के पैमाने के साथ-साथ होती और कम हिंसा का इलाज करने के लिये अधिक हिंसा की आवश्यकता होती।

महात्मागांधी की अहिंसा के विकास की कल्पना का आधार आदर्श और यथार्थ दोनों है। महात्मा गांधी स्वयं को व्यावहारिक आदर्शवादी[1] कहते थे। इसीलिये अन्य लोगों की अपेक्षा उनकी अहिंसा की कल्पना कुछ अधिक नमनीय है। वे जैनियों आदि की तरह अहिंसा के कठोरतावाद से अनावश्यक रूप से ग्रसित नहीं हैं। जैन दार्शनिकों ने अहिंसा की कठोर व्याख्या की है जो कि सभी मनुष्यों के लिए, सभी परिस्थितियों में ग्राह्य नहीं है। उनके अनुसार सभी परिस्थितियों में प्राणियों के लिये मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा का वर्जन है। इसीलिये जैन भिक्षुओं के किये गये फल-मूल जैसे निरामिष भोज्य पदार्थों का आहार ही निर्धारित किया गया है। इतनी कठिन अहिंसा की व्याख्या करने के बाद भी परिग्रह, जो कि गांधी के विचार में हिंसा है, को आज भी अपने अन्तःकरण में अपनाये हुए हैं। उसको

१. यंग इण्डिया, ११-८-१९२०

छोड़ना शायद उनके बश के बाहर है। यदि वे अपने को अहिंसा का बहुत बड़ा पुजारी मानते हैं तो दूसरे लोग जो आज भूखों मर रहे हैं. जिनके पास अपने तन को ढकने के लिये वस्त्र नहीं है, उनकी सेवा और उनकी आवश्यकताओं कीं पूर्ति को जैनी भाई क्यों नहीं करते? यह वे नहीं कर पाएगें क्योंकि उनकी दृष्टि में यह हिंसा नहीं है जबकि यह गांधी जी की दृष्टि में हिंसा है। इसके अतिरिक्त भी **उपनिषद**, **मनुस्मृति** आदि के अनुसार अहिंसा का अर्थ साधारणतः किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाना या किसी प्राणी का प्राण न लेना ही है। यद्यपि **मनुस्मृति** में यज्ञ-विधानों में हिंसा की खुली छूट प्रदान की गयी है। प्रायः यह भी कहा जाता है कि मनुस्मृति में प्राणी विशेष के बध की इजाजत है। गांधी जी कहते हैं कि बध की आज्ञा नहीं है। उसके बाद विचार में उन्नति हुई और यह तय हुआ कि कलिकाल में अपवाद न रहे। इसलिये वर्तमान रिवाज हिंसा-विशेष को क्षतव्य मानता है और मनुस्मृति की कितनी ही हिंसा का प्रतिबन्ध करता है, शास्त्र ने इतनी छूट रखी है। उससे आगे बढ़ने को दलील स्पष्टतः गलत है, **धर्म** संयम में है, स्वच्छन्दता में नहीं। जो मनुष्य शास्त्र की दी हुई छूट से लाभ नहीं उठाता, वह धन्यवाद का पात्र है। संयम की कोई सीमा नहीं। संयम का स्वागत दुनिया के तमाम **शास्त्र** करते हैं। × × अहिंसा धर्म का पालन करने वाला निरंतर जागरूक रहकर अपने हृदय बल को बढ़ावे और प्राप्त छूटों के क्षेत्र को संकुचित करता जाय। भोग हरगिज धर्म नहीं है। संसार का ज्ञानमय त्याग ही **मोक्ष-प्राप्ति है**। संसार का सर्वथा त्याग हिमालय के शिखर पर भी नहीं है। हृदय की गुफा सच्ची गुफा है। मनुष्य को चाहिए कि वह इसमें छिपकर सुरक्षित रहकर संसार में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहकर अनिवार्य कामों में प्रवृत्त होते हुए वितरण करें।[१] जगत के मनीषियों और तत्त्वज्ञों ने **साधन** को पकड़ कर **साध्य** को प्राप्त किया है, किन्तु गांधी जी की विचित्र बात यह है कि सत्य उनके जीवन में सहज रूप में आया और अहिंसा बाद में बड़े प्रयत्न से आयी। यद्यपि कि बाह्य दृष्टि से उनकी यह खोज विचित्र सी लगती है, परन्तु आन्तरिक दृष्ट से साध्य या साधन का अभेद होने से दोनों ही स्थितियाँ एक ही हैं। इसीलिये गांधी जी के दर्शन में **सत्य और अहिंसा** प्रायः साथ-साथ ही पाये जाते हैं।

यद्यपि मेरा उद्देश्य अन्य धर्मों की अहिंसा का इतिहास बताना नहीं है। मेरा उद्देश्य गांधी जी की अहिंसा का मात्र व्यावहारिक रूप दिखाने का प्रयास है। महात्मा **गांधी** की **अहिंसा** कोई अव्यावहारिक वस्तु नहीं है, परन्तु यह एक मानवीय स्वभाव और मानवीय हृदय में जीवित जाग्रत क्रियाशील **सद्गुण** है।

---

१. हिन्दी नवजीवन ३० अगस्त १९२५

यह मनुष्यों को तुच्छ और व्यक्तिगत स्वार्थों के बन्धनों से मुक्त करके उन सहानुभूतियों के प्रति चैतन्यशील बनाती है जो मनुष्य को ऊँचा उठाती हैं। जीवन का अर्थ तब सार्थक होता है, जब उसकी गति सामान्य प्रवृत्तियों में तरगित दिखाई देती है और सर्व सामान्य के हृदयों को उद्वेलित करती है। उनकी अहिंसा केवल महात्माओं और विरागियों की अहिंसा नहीं है और न उनकी अहिंसा केवल विशुद्ध धर्मोपदेश ही है जिसका उपदेश करके सन्त और महात्मा तृप्त हो जाया करते हैं। उनकी अहिंसा विशुद्ध अलभ्य आदर्श के रूप में जगत् के सम्मुख उपस्थित नहीं हुई है। उनकी अहिंसा की कल्पना में केवल प्राणी-मात्र के प्रति दया अथवा जीवहिंसा मात्र न करना ही समाविष्ट नहीं है। उनकी अहिंसा इन सबसे कहीं अधिक व्यापक, कहीं अधिक सजीव और कहीं अधिक सक्रिय है। महात्मा गांधी ने व्यक्ति और समूह के लिये, समाज के संघटन और सामाजिक तथा व्यक्ति और समूह के लिये, समाज के संघटन और सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन व्यापार के लिये जिस भित्ति का प्रतिपादन किया, वह उनकी अहिंसा में समाविष्ट है।

गांधी जी अहिंसा की कल्पना में केवल सीधी-सादी जीव दया हो नहीं, वरन् **अहंत्व** के परित्याग की कल्पना भी मिश्रित है। उनकी दृष्टि में वह सब हिंसा है जिसका जन्म अहं के भाव से होता है। स्वार्थ, प्रभुता की भावना, असंतुलित और असंयमित भोग-वृत्ति, विशुद्ध भौतिकता की पूजा, शस्त्र और शक्ति के द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति अपने अधिकार को बनाये रखने के लिये बल का सहारा तथा दूसरों के अधिकारों का अपहरण आदि समस्त बातें हिंसा ही हैं। उनके अनुसार हिंसा एक मनःस्थिति है जो विशेष प्रकार की प्रवृत्ति में उत्पन्न होती है। उनकी अहिंसा इन सबसे विपरीत मनःस्थित प्रवृत्ति, पथ और कार्य की द्योतिका है, वह स्वार्थ अहंकार, भौतिक भोगों की लोलुपता से ऊँचे उठकर, अपने व्यक्तित्व का विसर्जन विराट के हित में कर देने में अपना विकास, अपनी प्रगति और अपना निःश्रेयस देखे। इस प्रकार की अहिंसा को वे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का मूल आधार बनाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि अहिंसक के समीप हिंसा टिक ही नहीं सकती। अपनी प्रौढ़ावस्था में वह महर्षि पञ्जलि द्वारा प्रतिपादित कि **"अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर साधक के समीप सबका बैरभाव नष्ट हो जाता है।"**[1] में विश्वास करते थे।

---

१. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ बैरत्यागः—साधनपाद, ३५

१-क हिन्दी नवजीवन, १ मार्च १९२८

महात्मा गांधी ने स्वयं कहा है कि मेरी अहिंसा कोई किताबी सिद्धान्त नहीं है जो अनुकूल अवसर देखकर बतलायी जाय। यह वैसा सिद्धान्त है जिसे मैं सभी कार्य क्षेत्रों में लाने के प्रयत्न अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में कर रहा हूँ। आगे महात्मा गांधी ने लिखा है कि **अहिंसा क्षत्रिय का धर्म है।** महावीर क्षत्रिय थे, बुद्ध क्षत्रिय थे। वे सब थोड़े या बहुत अहिंसा के उपासक थे। हम उनके नाम पर भी अहिंसा का प्रवर्तन चाहते हैं। लेकिन इस समय तो अहिंसा का ठेका भीरु **वैश्य** वर्ग ने ले लिया है, इसलिये वह धर्म निस्तेज हो गया है। अहिंसा का दूसरा नाम है क्षमा की परिसीमा। लेकिन क्षमा तो वीर पुरुष का भूषण है। अभय के बिना अहिंसा नहीं हो सकती। × × × जीव लेना हमेशा हिंसा नहीं है। या यों कह लीजिये कि अनेक अवसरों पर जीव न लेने में अधिक हिंसा है।[१] इसीलिये **सनातन हिन्दू** होने के बावजूद भी गांधी जी ने मृत्यु के मुख में पड़े गाय के बछड़े को डाक्टर से कहकर जहर की सुई दिलवाकर मरवा दिया। × × × किन्तु जो भी हो, उनकी आत्मा में करुणा तो इससे प्रकट होती ही है। इस तरह मानवीय करुणा और मानवीय तर्क से ओत-प्रोत गांधी जी की अहिंसा अधिक व्यावहारिक दीख पड़ती है।[२] इस प्रकार यह बात प्रमाणित होती है कि गांधी जी की अहिंसा व्यावहारिक जीवन से काफी अंशों में जुड़ी हुई सी लगती है।

गांधीजी अहिंसा में व्यापक प्रेम और करुणा की भावना सन्निहित है। **रोमा रोला** ने इसी को अनन्त धैर्य और असीम प्रेम कहा है। उनके असहयोग आन्दोलन में जिनके प्रति असहयोग किया जाता था, उनके लिये घृणा नहीं वरन् प्रेम ही था।[३] यह अहिंसा की भावात्मक व्याख्या है जिसमें भगवान **बुद्ध** का मैत्री और करुणा, **महावीर** की मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ और **हिन्दू धर्म** की जीव दया या भूत-दया की भावनाएँ हैं।[४] इसी को **ईसा मसीह** भी अपनी भाषा में कहते हैं—दुश्मनों से प्यार करो।[५] विश्व को **गांधी जी** की अहिंसा की सबसे बड़ी व्यावहारिक देन है यह स्थापना कि संगठित हिंसा की भाँति ही हिंसा के निवारण के लिये अहिंसा को भी संगठित किया जा सकता है। युद्ध से युद्ध का निवारण नहीं हो सकता है।

---

१. हिन्दी नवजीवन, २८ अक्टूबर १९२६
२. गांधी दर्शन मीमांसा, डा. रामजी सिंह, बिहार ग्रन्थ अकादमी, पृ० ७९
३. यंग इण्डिया ६।८।१९२५
४. गांधी दर्शन मीमांसा डा० रामजी सिंह, पृ० ८१
५. सेंट मैथ्यु ५-४४

इससे प्रतिहिंसाओं का क्रम चल पड़ता है। दक्षिण अफ्रीका खेड़ा, चम्पारन इत्यादि में अहिंसक प्रतिकार के लिये जनमत को संगठित करके उन्होंने प्रयोग किये। सतत परीक्षण और प्रयोग से वह इस निश्चय पर पहुँचे कि अन्याय कि स्थिति भय के कारण ही सम्भव होती है। उन्होंने देखा कि अहिंसा में मानव जाति के प्रति एक ऐसी प्रबल शक्ति पड़ी हुई है जिसका कोई पार नहीं। मनुष्य की बुद्धि ने संसार के जो प्रचण्ड से प्रचण्ड अस्त्र-शस्त्र बनाये हैं उनसे भी प्रचण्ड यह अहिंसा की शक्ति है। अतः यह विफल तो कभी होती ही नहीं है।

अहिंसा के विषय में सामान्य लोगों में यह भ्रम पैदा हो गया है कि अहिंसा दुर्बलों का अस्त्र है। किन्तु गांधी जी हमेशा कहा करते थे कि जहाँ भय है वहाँ अहिंसा हो ही नहीं सकती है। अहिंसा अभय की चरमावस्था है। निर्भयता और आत्मबल के बिना अहिंसा चल नहीं सकती।[1] उनकी अहिंसा में प्रतिहिंसा की भावना नहीं, अपितु क्षमा की भावना रहती है। प्रतिहिंसा भी एक प्रकार की दुर्बलता का ही द्योतक है किन्तु क्षमा वीरों का भूषण है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अहिंसक प्रतिकार में हम वस्तुतः हिंसा का प्रतिकार नहीं करते, वरन् हम दुर्बलता से जूझते हैं। दुर्बल व्यक्ति के लिये पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का कोई अर्थ नहीं है।[2] कायरतापूर्ण शांतिवाद से वीरतापूर्ण युद्ध कहीं अच्छा है। इसीलिये गांधी जी का सत्याग्रह किसी प्रकार का शक्तिहीन अध्यात्मवाद या निष्क्रिय प्रतिकार नहीं, वरन् अत्यन्त सक्रिय आध्यात्मिक शक्ति के रूप में प्रकट हुई। यंग इण्डिया में उन्होंने कहा है कि अहिंसा वीरों का गुण है और इसे हम निष्क्रिय, दुर्बल और और असहायपूर्ण अधीनता की संज्ञा नहीं दे सकते। इसलिये उन्होंने लोगों से स्पष्ट कहा कि यदि अहिंसक अन्तिम बलिदान को तैयार न हो, वहाँ आत्म-रक्षा ही धर्म है।[3] अतः यह कहना कि गांधी जी की अहिंसा कायरों एवं दुर्बलों के लिये है, नितान्त गलत और भ्रमपूर्ण है।

महात्मा गांधी को अपने जीवन के अनुभवों में सत्याग्रह और अहिंसा का प्रयोग एक गुलाम देश के सम्बन्ध में ही करना पड़ा, परन्तु अपने अनुभवों के क्षेत्र को फैलाने और प्रभु-सत्ता सम्पन्न स्वशासित देशों में अहिंसा की शक्ति को अजमाने की सम्भावना उनके विचार में नहीं थीं; सम्भवतः ऐसी बात नहीं है। उन्होंने कई

१. यंग इण्डिया, ४-११-१९२६

२. रोमा रोलां: महात्मा गांधी : पृ० १२७

३. यंग इण्डिया : ४-८-१९२०

अवसरों पर यह घोषणा की है कि एक देश जो ब्रिटिश साम्राज्य जैसी शक्तिशाली संस्था के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है वह ठीक उन्ही तरीकों द्वारा जिनके प्रयोग से स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, उसे कायम भी रख सकता है। गांधी जी का यही सीधा-सादा ध्येय है कि हिंसा और खून खराबी को अपना धर्म समझने वाली युद्ध-सेनाओं के स्थान पर शान्ति-सेनाओं की स्थापना की जानी चाहिए। देश में जब सम्प्रदायिकता की आग भड़की, तब भी उन्होंने अपनी अहिंसा से ही उसे दबाया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, "खून का बदला खून से या हरजाने से नहीं लिया जा सकता। खून का बदला लेने का केवल एक ही रास्ता है कि हम बदले की भावना न रखते हुए स्वयं को बलिदान करें।"[१] गांधी जी ने स्वाराज्य से लेकर युद्ध के संदर्भों तक में अहिंसा का प्रतिपादन किया। इस प्रकार अहिंसा जीवन की एक विकसित कला है। अहिंसा जीवन का एक शक्तिशाली मार्ग है जिसे रचनात्मक कार्यों के माध्यम से अभियुक्त होना चाहिए।[२]

अहिंसा का प्राचीन सिद्धान्त गांधी जी को पाकर मौलिक हो गया। उनकी अहिंसा परम्परागत अहिंसा की मित्र हो गयी, क्योंकि उसमें व्यवहारिकता समाहित है। गांधी जी ने उसको व्यवहारोपयोगी बनाकर अहिंसा के पुरातन अर्थों की सीमाओं का विस्तार किया। उन्होंने अहिंसा के वैयक्तिक तत्त्व में सामाजिकता का प्रवेश कराया तथा उसके निष्क्रिय एवं सैद्धान्तिक पक्ष को अत्यन्त सक्रिय बना दिया। उनकी दृष्टि में अहिंसक कार्य भी हिंसक हो सकता है और हिंसक कार्य भी अहिंसा की सीमा में आ सकता है। क्योंकि महत्त्व उस मनःस्थिति का है जिसे ग्रहण करके मानव कार्य विशेष करता हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि नाजियो के विरुद्ध शस्त्र उठाकर पोलों द्वारा जो युद्ध हुआ, वह अहिंसक था। अहमदाबाद में पागल कुत्तों को उनका मरवाना भी अहिंसक मनःस्थिति का द्योतक है। इस प्रकार की अहिंसा की भावना विश्व के किसी भी धर्म या सम्प्रदाय में नहीं पायी जाती है। गांधी जी ने इस प्रकार अहिंसा को व्यवहार के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया, जिसे अन्य महापुरुषों ने नहीं कर पाया था।

अब प्रश्न आज के संदर्भ में गांधी जी की अहिंसा के सिद्धान्त के पालन का है? मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि आज व्यक्ति समाज, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसे प्रयोग में लाने का प्रयास कर रहा है। यह जरूर कहा जा सकता

१. हरिजन सेवक १८ अगस्त १९४६

२. ग्रेग, रिचर्ड बी० ए० डिसिप्लिन फार नान-वाहलेंस, पृ.३

है कि इसके लिये कोई भी सरकारी एजेन्सी नहीं है। फिर भी व्यक्ति अपने अन्तःकरण से इसे व्यवहार में लाने के लिये प्रयत्नशील है। मुस्लिम देशों में हाथ के बदले हाथ काटने का दण्ड दिया जाता है परन्तु हमारे देश में इस तरह की दण्ड व्यवस्था नहीं है। इसे यदि गांधी जी का प्रभाव नहीं कहा जायेगा तो हम और क्या कह सकते हैं? अभी कुछ वर्षों पहले माननीय जयप्रकाश बाबू के सामने बीहड़ डाकुओं ने आत्म समर्पण किया। इसके लिये सरकार उनके सुधार का प्रयास कर रही है। इसे आप क्या कहेंगे? इस प्रकार हम इतना जरूर कह सकते हैं कि पूर्ण रूप में अभी भले ही अहिंसा व्यवहार में न आयी हो, पर आंशिक रूप में जीवन के हर क्षेत्र में इसका व्यवहार होने लगा है। अगर इतना भी न हो तो मानसिक रूप से व्यक्ति अहिंसा के पालन के लिये अवश्य ही तैयार हो रहा है।



सत्य और अहिंसा : गांधी की दृष्टि में

आचार्य डॉ० महाप्रभुलाल गोस्वामी

अध्यात्मिक भूमि पर बहिर्मुखी चिन्ता एवं लौकिक कर्मकलापों का अनुष्ठान पुरुषोत्तम की भूमिका है। स्वाध्याय की सबलभित्ति पर व्यवहार और प्रवचन भारतीय संस्कृति है। आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार ये जीवन के चार चरण हैं। अगमकाल जीवन का उषाकाल है। जहाँ प्रभाकर की दृष्टि से अध्यापन-विधि प्रयुक्त गुरूपनिषद् से ज्ञान एवं आचार की शिक्षा मिलती है। जीवन के चार काल में यह अग्रज है, अग्रज का अवमान अनुज की क्रोध सृष्टि का साधन होता है। आगम के बिना स्वाध्याय आदि की स्थिति का प्रश्न ही नहीं रहता है। आत्मशून्य आधिभौतिक स्थूल तत्त्व के अनुसार चिन्ता धारा एवं कर्तव्य निर्धारण व्यवहार और प्रवचन को छिन्न-भिन्न कर देता है। ऋषि सेवित भारत वसुन्धरा की विमल प्रभा ने दिग्दिगन्त को प्रोद्भासित एवं कर्तव्य के मार्ग का निर्देश किया था। जीवन के उषाकाल में विहङ्गकाकली के साथ गुरुकुल के बालकों के कोमल कण्ठ से निःसृत गीत नवीन जीवन संचार के साथ कर्तव्य की शिक्षा देती थी। किन्तु, आज निदाघ सन्तप्ता स्रोतस्वती के समान भारती का अजस्र ज्ञान अस्तोन्मुख सूर्य की म्लान रेखा के साथ अमाकी निशा के आगमन की सूचना दे रही है। आज जीवन का अन्तिम चरण विच्छेदोन्मुख शरीर से सम्बन्ध रखता हुआ उसकी स्थिरता का नाटक कर रहा है। ज्ञान और विज्ञान के बाह्य सम्पद्, भोग, विलास, सदाचार. मन को चंचल एवं पथभ्रष्ट कर रहे हैं। हं हो ? पाश्चात्य शिक्षा के साथ उसका आदर्श भी गृहीत होती तो बाह्य अनुष्ठान की चकाचौंध ओढ़नी से आछन्न उभयपथ परिभ्रष्ट जीवन व्यतीत करने की अनिवार्यता न रहती। आज के उपदेष्टा भूतानुग्रह के आधार पर आत्मानुग्रह में आसक्त न होते।

किसी भी उपदेश का मूलाधार आचार होना चाहिए। आचारसम्पन्न व्यक्ति ही अपनी प्रज्ञा से कर्तव्य की दीक्षा दे सकता है। ज्ञान और आचार सर्वथा अन्यो-

न्याश्रित रहते हैं। ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं, व्यवहार और प्रवचन के लिए है। भारत में निवृत्ति मार्ग के अनुयायी एवं अनासक्त महर्षियों का अभाव नहीं रहा है। इन लोगों ने जन्म ग्रहण का भारतीय जनमन को विरक्ति के लिए प्रवुद्ध किया। प्रजा वर्ग ऐहिक उन्नति और सम्पत्ति साधन में आग्रह से शून्य था। इस विरक्ति ने उस दिन अपनी मर्यादा का अतिक्रमण किया, जब भारत के प्रबल प्रतापी राजागण वैराग्य साधन में तत्पर उपदेष्टाओं के आसन को राजसिंहासन की अपेक्षा अधिक आदर के साथ देखने के लिए बाध्य हुए। वैराग्य सम्पन्न राजाओं का प्रभुत्व छिन्न-भिन्न हो गया और आध्यात्मिक शक्ति भी उसके साथ ही क्षीणतर हो गयी। अध्यात्मिक समृद्धि के आवेश में राजधर्म इतना उपेक्षित हुआ कि स्वयं ही अपने रक्षक के बिना विनष्ट हो गया।

एकान्त वैराग्य प्रधान निवृत्तिमार्ग परायण धर्म ने अनधिकारी लोगों को वैराग्यसाधनों में प्रवृत्त किया। आध्यात्मिक शक्ति क्षात्रशक्ति दोनों का समन्वय ऐहिक और आध्यात्मिक अभ्युदय का कारण होती है।

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं वर्द्धते तपः।

परस्पर समन्वय से दूर परम पुरुषार्थ की आकांक्षा दुराकांक्षा से अभिभूत होने पर ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही सम्पत्तियाँ अस्तव्यस्त हो जाती हैं। ऐहिक धूलिसात हो जाता है और मुक्ति का मार्ग कण्टकाकीर्ण हो जाता है।

भारतीय दृष्टि सार्वभौम विकास की दृष्टि से दर्शन एवं तन्मूलक आचार का विश्लेषण प्रस्तुत करती है विशेष जाति या समुदाय विशेष की और कल्याण की दृष्टि भेद को सम्बल देती है। समुदाय का हित ही व्यक्ति का हित है, यह नीतिशास्त्र का सामान्य प्रतिपादन है। मिल, वेन्थम और इंग्लैण्ड के हितवादी नीतिज्ञ व्यक्तियों ने बहुत आदमियों की भलाई को ही व्यक्तिगत भलाई का कारण सिद्धान्तरूप से माना है। नीतिशास्त्रकार एवं धर्मशास्त्रकारों ने इसी तत्त्व का पुनः प्रतिपादन किया है।

भारतवासी प्राचीन काल से अहिंसा धर्म के गौरव और कल्याणकारिता का प्रचार करते रहे हैं। वेद, उपनिषद् से लेकर पुराण, इतिहास, काव्य साहित्य सभी में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्मों की महिमा गाई हैं एवं कोने-कोने में इसका प्रचार प्रसार किया है। सम्प्रति महात्मा गांधी ने अहिंसा और सत्य की नीव पर भारतवर्ष की स्वतन्त्रता का निर्माण किया। किन्तु अहिंसा और सत्य का स्वरूप सहजबुद्धि से

निरूपण करना कठिन हो जाता है। साधारण जनता के सामने ऊँचे आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रचार करने में अनेक विपत्तियाँ हैं।

उच्च आध्यात्मिक तत्त्वों की अवगति के लिए उचित अधिकारी अपरिहार्य है। यदि इन तत्त्वों को विवृतरूप में बोध कर लिया जाय तो वे ही तत्त्व महान् अर्थ के साधन होंगे। महात्मागांधी ने जिस राष्ट्र के स्वरूप की कल्पना की थी वह शुद्ध भारतीय था, उसमें सैन्य, रक्षक, पुरुष और बाहुबल के प्रयोग का अवकाश न था। महाभारत के अध्ययन के आधार पर प्राचीनतम सत्ययुग इसे कहा जा सकता है। जहाँ शासन की व्यवस्था न थी। सब धर्मपरायण क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य शून्य यदृच्छालब्ध अन्न वस्त्र से सन्तुष्ट, अनासक्त थे। यह सत्ययुग अनासक्त सत्य पर प्रतिष्ठित था, और अधर्म के प्रादुर्भाव के साथ अवसन्न हुआ। मात्स्यन्याय के अनुसार राजनिर्वाचन और राजधर्म के निर्माण की आवश्यकता हुई। यह मानव-मात्र की अनुभूति है कि वह समय अब नहीं आ सकता। सभी गांधी, शंकर या बुद्ध नहीं हो सकते हैं। अब यह स्वीकार करना होगा कि यह समय पुनः नहीं आएगा। मानव चित्त काम, क्रोध, लोभ आदि निकृष्ट वृत्तियों से प्रभावित रहेगा एवं अपने स्व की सार्वभौम प्रतिष्ठा के बिना स्वार्थसिद्धि में तत्पर दूसरों को ठगते रहेंगे। जब तक हिंसा, छल, कपट, मिथ्या का आश्रयण करने में कुण्ठित न होंगे तब तक दुर्बल मनुष्यों के हितसाधन के लिए एवं दुराचारों को अवरुद्ध करने के लिए दण्ड की अनिवार्यता बनी रहेगी। अहिंसा के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान का अभाव ही इन विपत्तियों का साधन है। आध्यात्मिक या दैवी शक्ति के प्रभाव से आततायी के मन में यदि सत्त्वगुणों के उद्रेक पैदा हो जाय तो प्रेम और अहिंसा की सत्य मूलक क्रान्ति प्रतिष्ठित हो सकती है।

चैतन्य देव ने आततायी को प्रेम से अहिंसा के आधार पर वशीभूत अवश्य किया, किन्तु यह भी एक व्यक्ति सापेक्ष था। श्रीकृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईशु आदि ने आध्यात्मिकता की मूल भित्ति पर जीवन को प्रतिष्ठित करने के लिए योग प्रभाव से पाशविक शक्ति का प्रतिरोध किया। वे चित्त को प्रेम रस से परिप्लुप्त ही कर सकें, इसमें इतिहास साक्ष वहन कर रहा है।

महात्मागांधी ने राजनीतिक्षेत्र में बाह्य और आभ्यन्तर सर्वतोमुखी अहिंसा की स्थापना करने का मरणपर्यन्त प्रयत्न किया, किन्तु सफलता का अनुभव सभी व्यक्ति कर रहे हैं।

हिंसा के **बाह्य** और **आभ्यन्तर** दो स्तर हैं। रागद्वेष, लोभ, मोह मात्सर्य आदि अन्तःशत्रु से प्रेरित होकर जीवहिंसा करना सच्ची हिंसा है। शरीरच्छेद आदि उसका बाह्य प्रकाश है। **महावीर** के द्वारा प्रतिष्ठित अहिंसा में जैनदार्शनिकों का प्रबल पक्षपात उनके शास्त्रों के अध्ययन के आधार पर सिद्ध होता है। किन्तु उन्होंने भी **द्रव्यहिंसा** और **भावहिंसा** के रूप में हिंसा के दो भेद वर्णित किये हैं। क्रोधादि से प्रेरणाशून्य हिंसा द्रव्य हिंसा है—यह वास्तविक हिंसा नहीं है। इस दिशा में दैवागतकीटादि की हिंसा अपरिहार्य है। संयतात्मा साधु भी इससे निवृत्त जीवन व्यतीत करने में असमर्थ हैं। अतः इस हिंसा की प्रतिषेधात्मिका अहिंसा की प्रतिष्ठा किसी ने भी नहीं की है। कलुषित चित्त रागद्वेषादि से प्रेरित हिंसा ही हिंसा है जो अधर्म जनक एवं प्रतिषिद्ध भी है। यह मानवहिंसा है। मीमांसकों ने भी वैदिक हिंसा को रागद्वेषादि की भित्ति पर प्रतिष्ठित हिंसा न होने से उसको हेय नहीं माना है। वह एक तरह बलिदान, आत्मविसर्जन, सहिष्णुता है। बलिदान भी हिंसा ही है किन्तु वह परिहार्य नहीं, दोषावह नहीं।

रन्तिदेव की कथा में जहाँ **गोमेध** की चर्चा है वह सभी को ज्ञात है। **महाभारत** के उस अध्याय को देखने से यह सिद्ध है कि गौओं ने स्वयं अनासक्त रूप में लोक-समृद्धि के लिए अपने को बलिदान किया था। वे अनासक्तरूप में अपना बलिदान करती थी। इसके उपसंहार से यह स्पष्ट है, एक गौ जब अपने बच्चे के शब्द से आसक्त ममता के भाव को अभीप्सित रूप में अभिव्यक्त करती है, उसी समय यह यज्ञ समाप्त हो जाता है। बलिदान में अनासक्ति है, अभेद है, लोकहित कामना एवं सर्वे भवन्तु सुखिनः की भावना है। यज्ञ में बलि होता है हिंसा नहीं। यज्ञादि में पशु हिंसा रागद्वेषादि से प्रेरित होकर नहीं होती है, अतः भावहिंसा के अन्तर्गत नहीं है। धर्मयुद्ध में हिंसा को जैनियों ने भी द्रव्यहिंसा के रूप में माना है। सत्य एव भाव की विशुद्धि रहने पर द्रव्यहिंसा होगी, और वह हेय नहीं है। कालिदास ने भी स्पष्ट शब्दों में अहिंसा का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।

निरापराधप्राणियों के सताने के शस्त्र ग्रहण निषिद्ध है त्राण के लिए नहीं, वैयक्तिक सुख-दुःखादि भोगने की उच्चाकांक्षा से प्रेरित युद्ध ही धर्मयुद्ध है।

भारतीय परम्परा, ज्ञान की भूमि पर जाति का महत्त्व नहीं देती है भेद का ज्ञान शिला पर विश्वस्त होने के उदाहरण उपलब्ध हैं। वैश्य और शूद्र इनमें

जो भी राजा हो, उनके लिए नियम से भेद नहीं है। मनु की व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट ने कहा है--**तच्च तत्कार्यकारिणां विप्रवैश्यशूद्राणामविशिष्टमेव।** आज जो यह सोचना कि भारत में शूद्रों की बड़ी दुर्गति थी, उनको **मनु, याज्ञवल्क्य, महाभारत** एवं **रामायण** का अध्ययन निरपेक्ष दृष्टि से करना चाहिए।

विदुर के चरित्र की ओर दृष्टिपात से यह सहज अवगति होती है कि विदुर का स्थान **धृतराष्ट्र** और **पाण्डु** से कम नहीं था। पाण्डु ने अपनी यात्रा के प्रसंग में विदुर को ही धृतराष्ट्र से अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया था। अतः ज्ञान और आचार के आधार पर ही व्यक्ति का महत्त्व स्वीकार किया गया है। **अहिंसा** का अर्थ है अपने **शत्रु** से भी **प्रेम करना**! जिसके साथ प्रेम करता है, मनुष्य उसको न तो धोखा देता है और न उससे भयभीत होता है। जीवन दान सबसे बड़ा दान है और अहिंसा के लिए निर्भयता और साहस एकान्त रूप से अपेक्षित हैं। **अम्बरीष** का उदाहरण देते हुए सिद्ध किया जा सकता है कि वह अपने स्थान पर खड़ा रहा, और **दुर्वासा** ने जो कुछ बुरा से बुरा करना चाहा, वह सब कुछ कर डाला पर उसने अङ्गुली नहीं उठायी। **अम्बरीष** का साहस प्रेमजन्य था। उसके अनेक भाषणों से जो अहिंसा का तात्पर्य व्यक्त होता है, वह द्रव्य हिंसा या मैत्रीं है— **'करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'** योग० (१।३३), अतः पर पीड़ा का निषेध ही अहिंसा का तात्पर्य है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि यह **हिंसा** निकृष्ट चित्तवृत्ति का निरोध है। जो साधन चतुष्टय की सम्पत्ति के बाद अभेद की भूमि पर प्रतिष्ठित होने पर या तन्मयता सम्पन्न व व्यक्ति या शरणागति के बाद स्व पर भेद शून्य अनाशक्त जीवन व्यतीत करने वालों के लिए सहज आचरणीय है।

भारतीय दर्शन-परम्परा अनेक को एक में उपसंहृत करती हुई उस सत्य की भूमि पर प्रतिष्ठित है। **अद्वैत भूमि** में न द्वेष है, न राग है, न आशा है, न आकांक्षा है, न भय है, न जरा है, न मृत्यु है। अतः **गांधी** का सिद्धान्त **गीता** के द्वितीय अध्याय के अर्थ के अनुसार ज्ञान एवं नित्यानित्यवस्तुविवेकसम्पन्न व्यक्ति की निष्ठा पर प्रतिष्ठित है। अधिकारी के बिना इसके द्वारा अनर्थ साधन की अधिक सम्भावना है। सत्ययुग को उस सत्य का प्रतीक मानकर, उस आश्रय पर प्रतिष्ठित सांसारिक व्यक्तियों के लिए ही यह परपीड़ा शून्य क्रान्ति चल सकती है। अतः मानव चित्तवृत्ति को दर्शन के द्वारा संयत करने पर ही **गांधी जी** ने बल दिया है, जिससे अभेद का

प्राधान्य है। विरुद्ध प्रचार के फल स्वरूप ही यह धारणा स्थान प्राप्त करती है। शुद्रा-गर्भजात महामति विदुर का कहीं भी अपकर्ष महाभारत में प्रदर्शित नहीं है। महाभारत के वैशिष्ट्य में जिन तीन व्यक्तियों की चर्चा है उनमें विदुर का भी स्थान है—

विस्तरं कुरुवंशस्य गान्धर्य्या धर्मशीलताम्।
क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यग् द्वैपायनोऽब्रवीत्॥
विदुरस्तं तथेत्युक्त्वा भीष्मेण सह भारत।
पाण्डुं संस्कारयामास देशे परमपूजिते॥

इससे यह सुस्पष्ट है कि राजपरिवार में विदुर का प्राधान्य था।

इस प्रसंग में यह भी द्रष्टव्य है कि विदुर का अग्निसंस्कार नहीं किया गया, क्योंकि उन्होंने यति धर्म स्वीकार किया था। नीलकण्ठ ने इस प्रसंग का मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है—

शूद्रयोनौ जातानामपि यतिधर्मोऽस्तीति दर्शितम्।

ज्ञानी को शूद्रयोनि में उत्पत्ति रहने पर भी यतिधर्म विहित है।

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि बलिदान और हिंसा, ये सर्वथा भिन्न हैं। बलिदान प्रशस्त है और हिंसा निषिद्ध है। बलिदान अनासक्ति के बिना सम्भव नहीं और अनासक्ति साधन चतुष्टय सम्पत्ति के बिना नहीं हो सकती है।

महात्मागांधी ने हिंसा का अर्थ परपीड़ा किया है। उन्होंने १९१६ में प्रदत्त व्याख्यान के प्रसंग में कहा था कि अहिंसा का मेरे लिए बड़ा अर्थ है। अहिंसा का वास्तविक अर्थ है कि तुम किसी मनुष्य का चित्त मत दुखाओ और जो मनुष्य तुम्हें अपना शत्रु समझता हो, उसके विषय में भी अपने हृदय में कभी कोई बुरा भाव न रखो। लाला लाजपतराय के आरोपों का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था—मैं जन्म से वैष्णव हूं बाल्यावस्था से ही मुझको अहिंसा की शिक्षा दी गई है। अहिंसा का अर्थ है अपने शरीर अथवा मन से किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देना।

गांधी दर्शन के अनुसार ज्ञान और आचार का समन्वय है। प्रेम करना नहीं वरं उस वृत्ति के कारण सहज रूप में प्रेम प्राप्त करना है। भाव और आचार की एकता

रहने पर **'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'** की स्थिति प्राप्त हो जाती है। सत्य एवं रागद्वेष शून्यवृत्ति के मूल पर स्निग्धभावों को जगाकर करुणा का संचार होने से शुभ मार्ग से वासना का प्रवाह होता है। और यह भावना स्थान प्राप्त करती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ।।

महात्मागांधी के सत्य का साक्षात्कार का अर्थ अनेकान्त या भेद में अभेद के रूप में हैं। आत्मभाव की एकता से सर्वत्र अभय की भावना रहती है और अभय के रूप में प्राणिमात्र का ग्रहण ही ईर्ष्या-द्वेष का अभाव है। स्व से स्व का द्वेष नहीं होता है। सत्य की भूलभित्ति पर ईर्ष्या-द्वेष-रागात्मिका हिंसा तो स्वाभाविक है, किन्तु इस उच्चतम आदर्श के उचित अधिकारी के अभाव में अहिंसा पूर्णतः सफल नहीं हो सकी। **शंकर, वैष्णव** सभी ने पर पीड़ा को हेय समझकर प्रेम और करुणा पर विश्वबन्धुत्व की स्थापना की है। **चैतन्य** ने भी यह आन्दोलन किया, किन्तु वह व्यक्ति सापेक्ष रहा।

गांधीजी ने सार्वभौम प्रचार एवं अनुरूप आचार के द्वारा इस अहिंसा की भावना को मानव मन में स्थिर कर अनुकूल आचार की उचित दीक्षा दी। देश, भाषा, आचार और ज्ञान को मानव का अपरिहार्य चार अंग मानकर मनुष्य को एक अंगी के रूप में स्वीकार किया, जहाँ किसी एक के अभाव से उसको अंगविकल होना पड़ता है। गांधी जी के उपदेश के उपक्रम में देश की एकता एवं उसके अर्थ की अभिन्नता और आत्मा का सार्वभौम स्वरूप सम्पूर्ण विश्व को एक सूत्र में बांधने की शिक्षा देता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

इस ज्ञान के आधार पर सभी प्राणियों के साथ सद्भावना एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार की दीक्षा ही गांधी की शिक्षा है।



'गांधी दर्शन-सिद्धान्त और व्यवहार'

प्रो॰ डॉ॰ रघुनाथ गिरि

भारतीय चिंतन धारा में **गांधीदर्शन** को एक युग प्रवर्त्तक कहा दर्शन कहा जा सकता है क्योंकि गांधीदर्शन में **आदर्श और यथार्थ**, सिद्धान्त और व्यवहार, व्यक्ति और समाज, ज्ञान और आचरण के समन्वय की जिस भुमिका की स्थापना हुई है वह बहुत काल से भारतीय दार्शनिक चिन्तन में उपेक्षित सा हो गया था। भारतीय दार्शनिक आध्यात्मिक चिन्तन और परम लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों की खोज में इतने लीन हो गए थे कि उन्हें अपने चारो ओर का परिवेश और समाज एक प्रकार से विस्मृत सा हो गया था। गांधी दर्शन ने उनकी इस समाधि को तोड़ा है और उन्हें परिवेश और समाज की ओर विचार करने के लिए बाध्य किया है।

गांधीदर्शन में रुचि रखने वालों को इस दर्शन की व्यापकता, गम्भीरता और बहुआयामिता का परिचय सहज में हो जाता है। इस छोटे निबन्ध में गांधी दर्शन के समग्र पक्षों के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पहलुओं पर प्रकाश डालना कथमपि संभव नहीं है यह जानते हुए भी यह प्रयास एक दिग्दर्शन मात्र के लिए ही किया जा रहा है।

गांधी दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों में **'सत्य'**, **'अहिंसा'**, **'सर्वोदय'**, **स्वराज्य या रामराज्य'** **'न्यास'**, (ट्रस्टीशिप), **'सर्वधर्मसमभाव'**, **'साधन-साध्य'** तथा **बेसिक शिक्षा** आदि का विचार की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में इनमें से कतिपय के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की गयी है।

सत्य :—गांधीदर्शन में 'सत्य' को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इसके स्वरूप के विषय में जो कुछ वर्णन मिलता है जैसे **'सत्य ईश्वर है'** 'सत्य सबके ऊपर है' 'सत्य समस्त नियमों का आधार है' 'सत्य स्वरूपतः स्वयं सिद्ध है' यह अज्ञान के आवरणों से आवृत्त है' यह एक व्यापक चेतना है' इस सत्य की उपासना ही हमारे अस्तित्व का औचित्य है, पूर्ण सत्य की जानकारी असम्भव है' आदि से यह स्पष्ट है कि गांधीदर्शन में **सत्य तत्त्व, ज्ञान और मूल्य'** की समष्टि है अर्थात् तत्त्वशास्त्र

की दृष्टि से यह परम **अद्वैत** तत्त्व है। ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से यह व्यापक चेतना और समस्त ज्ञान का आधार है तथा मूल्य शास्त्र की दृष्टि से यह समस्त नियमों का आधार है तथा मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इस प्रकार इसकी तुलना उपनिषद् के ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' से की जा सकती है।

मनुस्मृति[1], **श्रीमद्भगवतगीता**[2], **पुराणों**[3] और **योगशास्त्र**[4] आदि में जहाँ सत्य का निरुपण किया गया है वहाँ सत्य को वाणी का धर्म या गुण माना गया है और उसकी दो कसौटियाँ यथार्थता और भूतहितत्व में भूतहितत्व पर अधिक बल दिया गया है। सत्य के ये निरूपण वेद वाक्य 'सत्यं वद' के उपवृंहण से लगते हैं परन्तु गांधीदर्शन का सत्य केवल वाणी की विशेषता मात्र ही नहीं है। यह उपनिषदों के परम तत्त्व के समान हैं तथा ईश्वरवादी धर्मों के समस्त आस्था और विश्वास के आधारभूत ईश्वर भी है। इस सत्य की स्थापना में गांधीदर्शन में निर्विवादिता, निर्विरोधिता और सर्वमान्यता को आधार के रूप में उपस्थित किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि सत्य' गांधी दर्शन में आस्था एवं विश्वास, ज्ञान एवं चिन्तन, इच्छा, क्रिया एवं व्यवहार (वाणी और आचरण) सभी का एक मात्र विषय बन जाता है। सत्य की प्राप्ति के उपायों में 'सत्याग्रह' प्रेम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि अनेक साधनों का निरूपण हुआ है जो सामान्यतया स्पष्ट एवं सरल प्रतीत होते हैं किंतु विचार करने पर इनको दुरुहता एवं दुष्करता दृष्टिगोचर होती है।

सत्य के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ संकेत किया गया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि **गांधीदर्शन** में सत्य एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में जितना संगत, रोचक, सर्वांगीण एवं युक्तियुक्त लगता है व्यवहार को दृष्टि से उतना ही दुष्कर कठोर, अज्ञेय और अनावश्यक हो जाता है। क्योंकि सामान्य जन के जीवन की आकांक्षा इस प्रकार के परम सत्य की प्राप्ति की नहीं होती, वह तो अवसर के अनुसार तात्कालिक लक्ष्यों (लाभ और सुख) को प्राप्त करना चाहता है। यहाँ अवसर के अनुसार ज्ञान, वाणी और आचरण तीनों में वह 'सत्य और असत्य दोनों

---

१. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।····मनु ४।१३८

२. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । गीता १७।१५

३. यद्भूतहितमत्यन्तं तद् सत्यं विद्धि नेतरत्–अग्निपुराण ३७१।७

४. योगसूत्रव्यासभाष्य । २-३०

को मिलाए रहता है, इसलिए आचार्य शंकर का कथन कि 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य-प्रवर्ततेऽयं लोकव्यवहारः' हीं अधिक संगत लगता है, और गांधीदर्शन का सत्य आदर्श मात्र बन कर रह जाता है।

अहिंसा :—गाँधीदर्शन का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अहिंसा है। अहिंसा आध्यात्मिक साधन के रूप में **योगदर्शन, जैनदर्शन, बौद्धदर्शन** एवं **स्मृतियों** और **पुराणों** में व्यापक रूप से स्वीकृत है। सामान्यतया अहिंसा का अर्थ होता है किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना या बध न करना। किंतु सूक्ष्म रूप में इसका अर्थ है किसी भी प्राणी को कष्ट पहुँचाने की इच्छा न रखना, अथवा मन, वाणी और कर्म किसी प्रकार से किसी को कष्ट न पहुँचाना। **योगदर्शन** में यह कहा गया है कि व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर उस व्यक्ति के समक्ष प्राणियों का स्वाभाविक वैर भी समाप्त हो जाता है।[1] **गांधीदर्शन** में अहिंसा के इस आदर्श रूप को स्वीकार करते हुए व्यक्तिगत जीवन से सामाजिक जीवन में इसे प्रतिष्ठित करने पर अधिक बल दिया गया है। इसके पीछे गाँधी दर्शन की यह पूर्व मान्यता है कि मानव स्वाभाविक रूप से अहिंसक है अर्थात् अहिंसा की वृत्ति मानव में स्वतः सिद्ध है, हिंसा की वृत्ति अन्य परिवेशों से उत्पन्न होती है। अतः मानवीय सामाजिक समस्याओं का स्थायी समाधान अहिंसा द्वारा ही संभव है। गाँधी-दर्शन अहिंसा को शस्त्र और ढाल दोनों रूपों में प्रयोग करने की राय देता है और इसे दृढ़ता से स्वीकार करता है कि मानवीय समस्त समस्याओं के समाधानहेतु होने वाले युद्ध, संग्राम, लड़ाई, झगड़े आदि अहिंसा के शस्त्र और ढाल से लड़े जा सकते हैं। महात्मागाँधी ने भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम में इस शस्त्र के सफल प्रयोग का समुचित उदाहरण भी उपस्थित किया है। महात्मा गाँधी ने इस बात का बार-बार विरोध किया है कि अहिंसा कायरता या दुर्बलता का प्रतीक है। वे इस बात पर सदा जोर देते हैं कि **अहिंसा दुर्बल का नहीं, सबल का शस्त्र है।**

सिद्धान्त के रूप में अहिंसा मानव जीवन की सुरक्षा, सुख और शांति के लिए आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य है। व्यावहारिक दृष्टि से भी उन समस्त शांतिमय उपायों को अहिंसा के अन्तर्गत रखा जा सकता है जिनका प्रयोग मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए किया जाता है और इसके आधार पर यह कहा भी जा सकता है कि छोटे-मोटे झगड़े से लेकर विश्व युद्ध तक के निपटारे के

१. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

शांतिमय उपायों के प्रयोग में उत्तरोत्तर प्रगति हो रही है, विश्व में शस्त्र संग्रह करने वाले शक्तिशाली राष्ट्र भी निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में भाग ले रहे हैं और कम से कम सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार कर रहे हैं कि शांतिमय (हिंसा रहित) उपायों से ही आपसी विवादों का निपटारा किया जा सकता है। अहिंसा के व्यावहारिक उपयोग को इन्हीं उदाहरणों से पुष्ट किया जाता है और यह दावा किया जाता है गांधीदर्शन के अहिंसा का सिद्धान्त पूर्ण रूप से व्यवहारिक है। किंतु गाँधीदर्शन के अहिंसा के व्यवहार पक्ष की स्थापना इन उदाहरणों के प्रदर्शन मात्र से सम्भव नहीं। इसके लिए अहिंसा के आन्तरिक पक्ष पर विचार करना भी आवश्यक लगता है। अहिंसा के **आन्तरिक पक्ष** से हमारा तात्पर्य उन मनोभावों के प्रतिष्ठापन और निराकरण से है जो साक्षात् या परम्परया अहिंसा की वृत्ति में सहायक और बाधक होते हैं जैसे प्रेम, दया, करुणा, क्षमा तथा घृणा, विद्वेष, भय और क्रोध। गाँधी दर्शन में अहिंसा की प्रतिष्ठा में प्रेम ओर क्षमा की स्थापना तथा घृणा एवं भय की निवृत्ति पर अधिक बल दिया गया है। इस आन्तरिक पहलू के आधार पर अहिंसा के व्यवहार पक्ष पर विचार करने पर लगता है कि अहिंसा की स्थापना व्यवहारिक जीवन में या तो नहीं हो रही है या हो भी रही है तो अत्यधिक मंद गति से। बढ़ते हुए अपराधों और राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर किए जाने वाले छल छद्मों को देखने से लगता है कि हिंसा की वृत्ति ही बढ़ती जा रही हैं। विश्व के सबल राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण की ओर अग्रसर होना, प्रेम प्रेरित न होकर भय प्रेरित ही है. क्योंकि अत्यधिक संहारक शस्त्रों के संग्रह से सबको अपने विनाश की आशंका हो रही है। इसके आधार पर यह कहना संगत लगता है कि व्यक्तिगत पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्व के जीवन में प्रेम के बदले भय के वातावरण का ही विस्तार और प्रसार हो रहा है।

गाँधी दर्शन में अहिंसा पर विचार करते समय. इस बात पर अधिक बल दिया गया है कि अहिंसा दुर्बल के लिए नहीं है, यह सबल के लिए है। दुर्बल भयभीत रहता है इसलिए उसके मन में अहिंसा वृत्ति प्रतिष्ठित ही नहीं हो सकती। अहिंसा के सिद्धान्त के रूप में इस मान्यता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए व्यवहार पक्ष की दृष्टि से यह अत्यधिक संदेहास्पद लगता है क्योंकि शारीरिक और शस्त्र की दृष्टि से सबल व्यक्ति कभी अहिंसक नहीं बनता है। अहिंसा को शस्त्र या ढाल के रूप में प्रयोग करने वाले सदा शारीरिक और शस्त्र की दृष्टि से दुर्बल रहते हैं जैसे परिवार में बालक अपनी माँग की पूर्ति के लिए जमीन पर अपना मस्तक पटकता है, रोता है, खाना नहीं खाता है और उसी

प्रकार परिवार का बूढ़ा अपने नवजवान पुत्र के उदण्ड व्यवहार के विरोध में उपवास करने लगता है आदि। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में गाँधीवादी अहिंसा इसी कारण बन सका कि भारतीय जनता शस्त्र के साथ ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने में अपने को अक्षम पा रही थीं। जो व्यक्ति या राष्ट्र शरीर और शस्त्र की दृष्टि से सबल होता है वह निर्भय रहता है, सहिष्णु और क्षमाशील भी। किंतु जब यह भान होने लगता है कि उसकी सहिष्णुता और अधिक सर्वनाश की ओर ले जा रही है और दुर्बल उस पर विजय प्राप्त कर अहंकारी बनता जा रहा है तो उसे लगता है कि उसकी सहिष्णुता और क्षमाशीलता के गलत अर्थ लगाये जा रहे हैं और तब उसमें आत्मसम्मान की भावना जग उठती है। फलतः, वह शस्त्र के प्रयोग के लिए अपने अर्न्तमन के द्वारा बाध्य कर दिया जाता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता सकता है कि अहिंसा का मानसिक दृष्टि से सबल किंतु शारीरिक और शस्त्र की दृष्टि से दुर्बल व्यक्ति ही अपने जीवन में ढाल या शस्त्र के रूप में प्रयोग करता है। ढाल के रूप में प्रयोग करते समय उसे यह ज्ञान रहता है कि पलायन से भी उसकी रक्षा नहीं हो सकतीं, क्योंकि शस्त्र के ग्रहण सामर्थ्य से वह अपने को बचा नहीं सकता। अतः वह अहिंसा का ढाल बना लेता है। शस्त्र रूप में अहिंसा का प्रयोग करने वाला भी अपनी अक्षमता को भली भाँति समझता है कि वह अपने शत्रु के साथ शस्त्र द्वारा बराबरी करने में असमर्थ हैं।

अहिंसा के व्यवहार पक्ष पर विचार करते समय अहिंसा और दण्ड पर भी विचार करना आवश्यक लगता है। क्या कोई शासन व्यवस्था अहिंसा का प्रयोग दण्ड के रूप में कर सकती है? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक रूप में ही दिया जा सकता है। किसी भी व्यवस्था के लिए दण्ड अपरिहार्य लगता है। किसी नैतिक आधार के बिना केवल अपने स्वार्थ के लिए व्यवस्था का विरोध करने वालों को यदि दण्ड न दिया जाय तो व्यवस्था चल ही नहीं सकती! मानव मन में लोभ और स्वार्थ की भावना का जिस गति से विकास होता है प्रेम और परार्थ की भावना का उससे बहुत ही मन्द गति से। दण्ड का भय लोभी और स्वार्थी को एक सीमा से आगे बढ़ने से रोकता है। अहिंसा ऐसी स्थिति में प्रभावकारी माध्यम नहीं बन पाती। अतः सिद्धान्त रूप में अहिंसा के द्वारा दण्ड के बिना व्यवस्था की बात स्वीकार कर लेने पर भी व्यवहारिक दृष्टि से उसकी असंगति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यवस्था के लिए दण्ड अपरिहार्य लगता है।

सर्वोदय—समाज के समग्र विकास की दृष्टि से गांधीदर्शन का सर्वोदय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त जातिविहीन, वर्गहीन, रंगभेदरहित

आर्थिक विषमता से रहित, शोषण रहित समाज के निर्माण का सिद्धान्त है। समाज के आदर्श सिद्धान्तों में इसको सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। यह सिद्धान्त प्राचीन भारतीय मनीषियों की शुभ कामना **'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्'** आदि पर आधारित होते हुए नये परिवेश के लिए अत्यन्त आकर्षक, रोचक और निर्दोष सिद्धान्त है। किन्तु इसकी व्यवहारिकता में सन्देह है। इस प्रकार के समाज निर्माण में अहिंसा और सत्याग्रह जैसे साधनों का प्रयोग अत्यन्त दुर्बल और अप्रभावी होता है। वर्गभेद वाला पूँजीवाद मानवीय प्रवृति के अनुकूल होने के कारण सरलता से व्यवहार में आ जाता है। समाजवाद, संघर्ष और शस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखने के कारण शीघ्र प्रभावशाली बन जाता है। किंतु सर्वोदय का सिद्धान्त न तो मानवीय सहज प्रवृति के अनुकूल है और न इसके साधन में ऊपरी दबाव है, अतः इसकी व्यावहारिकता में सन्देह है।

इसी प्रकार अन्य सिद्धान्त **रामराज्य, स्वराज्य, न्यास, सर्वधर्म-समभाव, बेसिक शिक्षा** आदि की आदर्शरूपता को स्वीकार किया जा सकता है किंतु इनके व्यावहारिक पक्ष को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ दीख पड़ती हैं जिनका विवेचन इस छोटे निबन्ध में सम्भव नहीं है।

गांधीदर्शन का एक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं **साध्य-साधनविवेक**। गांधीदर्शन में साध्य की शुद्धता, पवित्रता और श्रेष्ठता के साथ साधन की शुद्धता, पवित्रता और श्रेष्ठता पर अधिक बल दिया गया है किंतु जिस समाज में पद और अर्थ को सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार माना जाता हो। पद प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं को उत्तीर्ण करना पड़ता हो; शिक्षित होने का मापदण्ड विश्वविद्यालयीय परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना मात्र हो. किसी भी साधन से धन का अधिकाधिक संग्रह ही समाज में उच्च स्तर प्राप्त करने का उपाय हो। वहाँ साधन की पवित्रता की सम्भावना बहुत ही कम हो जाती है। अपने को गांधीवादी कहने वाली राजनैतिक पार्टियों तथा राजनेताओं के व्यवहार विश्वविद्यालयों के छात्रों एवं अध्यापकों के सम्बन्ध और व्यवहार तथा बढ़ती हुई अनुशासनहीनता और आर्थिक विषमता एवं अपराधवृत्ति आदि को देखते हुए यह कहना पड़ता है भारतीय समाज के व्यवहार में साधन की पवित्रता की ओर से ध्यान हटता जा रहा है।

गांधीदर्शन के सिद्धान्त और व्यवहार के उक्त विवेचन से यह संकेत मिलता है कि गांधी दर्शन की व्यवहारिकता का एक विशिष्ट अर्थ है। अर्थात् गाँधी दर्शन को

व्यावहारिक कहने का तात्पर्य यह है कि उसके सिद्धान्त भारतीय अन्य दर्शनों के ब्रह्म विचार, आत्म विचार, ईश्वर विचार, तत्त्व विचार जैसे विशुद्ध दार्शनिक विषयों पर आधारित न होकर मानव जीवन और मानव समाज के परिवेश के विषयों जैसे—सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक स्थिति, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, शैक्षणिक समस्या आदि पर आधारित है। जिनका व्यावहारिक जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है या जो सब सम्मिलित रूप से व्यावहारिक जीवन की संज्ञा से अभिहित होते हैं। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गांधीदर्शन के सभी सिद्धात वास्तविक जीवन में चरितार्थ होने योग्य है। क्योंकि इनकी चरितार्थता में अनेक बाधायें हैं जिन्हें दूर करने का उपाय गांधी दर्शन में परिलक्षित नहीं होता। प्रथम बाधा **मनोवैज्ञानिक स्थिति** है अर्थात् सभी में पूर्ण त्याग, निःस्वार्थ भाव, व्यापक प्रेम-भाव, क्रोध त्याग आदि को प्रतिष्ठित करने की आकांक्षा एक उच्च आदर्श हो सकता है; किन्तु मानव के स्वभाव के विपरीत होने के कारण व्यवहार या यथार्थ नहीं हो सकता।

दूसरी बाधा **साधन या प्रक्रिया सम्बन्धी** है। गांधी दर्शन में जिन सामाजिक आदर्शों की स्थापना हुई है। उनकी प्रतिष्ठा के लिए उस दर्शन के पास समुचित साधन नहीं है। अहिंसा का साधन, हृदय परिवर्तन, प्रेम भाव का विस्तार, विचार का आदान प्रदान आदि साधनों के प्रयोग की निरर्थकता प्रायः सभी ओर परिलक्षित हो रही है।

तीसरी बाधा **आदर्श प्रतिमान** (आइडियल मोडेल) का अभाव है। अर्थात् गांधीदर्शन के 'अनुयायियों' ने गांधी दर्शन के आदर्शों के आधार पर सीमित रूपों में भी कहीं ऐसे समाज का निर्माण नहीं किया है जिसे देखकर अन्य लोगों को उस प्रकार के समाज निर्माण की प्रेरणा मिल सके। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गांधी दर्शन व्यावहारिक विषयों का एक सैद्धान्तिक दर्शन है



भारतीय दर्शनों की दृष्टि से गांधी-विचारों का विवेचन

डॉ रेवती रमण पाण्डेय

एक प्रबुद्ध विचारक के अनुसार महात्मा गांधी गत १३०० वर्षों की सर्वाधिक महान् विभूति हैं।[१] गौतमबुद्ध के बाद मानव इतिहास में करुणा का गांधी सा दूसरा प्रतीक देखने को नहीं मिलता। अपनी आत्मकथा में क्राइस्ट एवं बुद्ध की तुलना करते समय गांधी ने स्पष्ट लिखा है कि गौतम में समस्त प्राणिमात्र के प्रति जो करुणा है, क्राइस्ट के जीवन में देखने को नहीं मिलती।[२] कृष्ण सा लोकोत्तर नायक मात्र हिन्दू वाङ्मय में ही है। उनसे कुछ मिलता-जुलता विश्व इतिहास में यदि कोई दूसरा महापुरुष है तो वह मोहनदासकर्मचन्दगांधी हैं। यदि कृष्ण महाभारत के सूत्रधार हैं तो गांधी भारतीय स्वातन्त्र्य के। यदि कृष्ण गीता के उपदेष्टा हैं तो गांधी उसके साधक। यदि कृष्ण भगवान् हैं तो गांधी भक्त। गांधी की हत्या के बाद 'लन्दन टाइम्स' ने अपने सम्पादकीय में सचमुच ठीक ही लिखा :—'भारत को छोड़कर न कोई अन्य देश और हिन्दू धर्म को छोड़कर न कोई अन्य धर्म गांधी को पैदा कर सकता था।' इसी प्रकार राधाकृष्णन् गांधी में उत्कृष्ट भारतीयता की झांकी पाते हैं।[३] आज गांधी की सार्थकता पर विवाद चल रहा है। १९५९ में डा० मार्टिन लूथर किंग जूनियर से प्रेस सम्मेलन में एक प्रश्न किया गया—'अब गांधी कहाँ हैं?' डा० किंग ने उत्तर दिया—'गांधी अनिवार्य हैं, यदि मानवता को विकसित होना है तो गांधी आवश्यक हैं। यदि मानव एवं उसके उत्कृष्ट मूल्यों की सार्थकता है तो गांधी की भी सार्थकता है। यदि राम, कृष्ण, बुद्ध, सुकरात एवं क्राइस्ट की सार्थकता है तो गांधी की भी सार्थकता है।

१. लुइस फिशर : दि एसेन्सियल गांधी : प्राक्कथन जार्ज एलेन एण्ड अनेविन, लन्दन १९६६
२. गांधी : ऐन आटोवायोग्रौफी, सेकेण्ड एडीशन, १९४०, पृ० ११९
३. राधाकृष्णन् : महात्मागांधी, एसेज एण्ड रिफलेक्शन्स प्राक्कथन, जे. के. पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

पारिभाषिक अर्थ में गांधी को दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। वे जीवन-जगत्, आत्मा-परमात्मा की सी मौलिक समस्याओं की तार्किक गवेषणा एवं विश्लेषण में नहीं पड़ना चाहते थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा के प्रारम्भ में इस बात पर स्पष्ट शब्दों में प्रकाश डाला है। यदि शास्त्रीय विवेचन ही मेरा उद्देश्य होता तो मुझे अपनी आत्मकथा नहीं लिखनी चाहिए, किन्तु मेरा उद्देश्य जीवन में आन्तरिक मूल्यों के दैनंदिन जीवन के व्यावहारिक प्रयोग के विवेचन से है। इसीलिए मैंने आत्मकथा का शीर्षक **'दि स्टोरी आफ माई एक्सपेरीमेन्ट्स विथ ट्रुथ—सत्य पर मेरे प्रयोगों की कथा'** रखा है।[१]

गांधी एक साधक, योगी एवं भक्त हैं। उनके समक्ष मर्यादा पुरुषोत्तम **राम** का आदर्श है जो निरीह अबला किन्तु मूर्तिमती मानवता सीता को दुष्ट रावण के संत्रास से मुक्त कराने के लिये कटिबद्ध हैं। उनके समक्ष महायोगेश्वर **कृष्ण** का आदर्श है जो धर्म की संस्थापना एवं लोककल्याण हेतु कृतसंकल्प हैं। उनके समक्ष **बोधिसत्त्व** की महाकरुणा का आदर्श है—**'कलिकलुषकृतानि यानि लोके तानि मयि पतन्तु विमुच्यतां हि लोकः'**। उनके समक्ष भारतीय वाङ्मय का चिरन्तन सर्वोदय—**'सर्वे सुखिनः सन्तु, सन्तु सर्वे निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'** का है।

परमशुभ सत्य के अन्वेषण में अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि उदात्त मूल्यों का प्रयोग गांधी ने किया। यही उनकी आध्यात्मिक साधना थी। उन्होंने आध्यात्मिक साधना की शक्ति से विश्व को चमत्कृत किया। गांधी में इस शक्ति का आभास **गोपाल कृष्ण गोखले** को शुरू में ही हो गया था। उन्होंने कभी कहा था—'गांधी में मिट्टी से नायक गढ़ देने की क्षमता है।' गांधी की इस आध्यात्मिक शक्ति का अभास स्वयं **पं० नेहरू** को भी था। इसी अर्थ में गांधी साधक हैं।

गांधी ने आत्मशुद्धि पर बल दिया है। उन्होंने अपनी आत्मकथा के अन्त में इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं—**'अद्वैती स्थिति'** की प्राप्ति आत्म-शुद्धि के बिना सम्भव नहीं है। बिना आत्मशुद्धि के अहिंसा का अभ्यास एक स्वप्न है। जो हृदय से शुद्ध नहीं होता, उसे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता। पूर्ण शुद्धता का आदर्श गीता की **स्थित-प्रज्ञता** है। गांधी ने अत्यन्त विनयपूर्ण शब्दों में

१. गांधी : ऐन आटोबायोग्राफी।

स्वीकारा है कि उन्हें **ब्राह्मी स्थिति** का पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो पाया था। अहिंसा विनय की अन्तिम सीमा है। इसी परिप्रेक्ष्य में गांधी योगी हैं।

गांधी की ईश्वर में अटूट आस्था है। **'निर्बल के बलराम'** में उनका दृढ़ विश्वास है। उन्होंने अपनी आत्मकथा के प्रथम अध्याय का अन्त, सूर के भजन—**'मो सम कौन कुटिल खल कामी'** से किया है। इसी दृष्टि से वह भक्त हैं।

इस प्रकार गांधी में विभिन्न भारतीय दार्शनिक विधाओं में चर्चित क्लिष्ट साधनाओं एवं भगवान् के प्रति अटूट आस्था का अद्भुत मणिकाञ्चन योग देखने को मिलता है। गांधी के **सर्वोदय** का मूल्यांकन बिना इस पृष्ठभूमि को समझे नहीं किया जा सकता। राजनीति जिसका अब तक के मानव इतिहास में कूटनीति से तादात्म्य था उसे धर्मनीति का एक नया आयाम गांधी ने दिया। सर्वोदय के प्रति गांधी की की अपनी एक दृष्टि है। अतः उन्हें समाज-द्रष्टा कह सकते हैं।

गांधी का **सर्वोदय** का समाजदर्शन कुछ उनकी अपनी हिन्दू आस्थाओं धार्मिक एवं नैतिक भावनाओं पर आधारित है। ये आस्थाएँ मूल रूप से दो प्रकार की हैं। प्रथम, **साध्य रूप से ईश्वरास्था,** ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालक एवं संहारक है। एक मात्र वही सत्य है, उसी का साक्षात्कार जीवन का परमशुभ है। गांधी अपने को सनातनी हिन्दू वैष्णव कहते हैं। द्वितीय, साधन रूप से **एकादश आश्रमव्रत।**

ईश्वर का स्वरूप—

गांधी अपनी आत्मकथा के प्रारम्भ में ही अपने प्राप्तव्य के बारे में इस प्रकार लिखते हैं :—"मेरा प्राप्तव्य आत्म-साक्षात्कार है, ईश्वर का आमने-सामने से दर्शन-मोक्ष है।"[१]

गांधी के अनुसार ईश्वर के अनन्त लक्षण हैं क्योंकि उसके रूप अनन्त हैं। 'वे मुझे क्षणभर के लिये आश्चर्यचकित कर देते हैं किन्तु मैं ईश्वर की सत्य के रूप में उपासना करता हूं। यद्यपि वह मुझे मिला नहीं है, मैं खोज रहा हूं, खोज के लिये मैं जीवन की सर्वाधिक प्रिय वस्तु की भी बलि देने के लिए तैयार हूं, चाहे मुझे अपने जीवन को ही बलि क्यों न देनी पड़े। जब तक मुझे इस परम सत्य का साक्षात्कार

---

१. गांधी : ऐन आटोवायोग्रेफी पृ० ५ पर

नहीं हो जाता, तब तक मुझे अपने सापेक्ष सत्य की धारणा पर आधारित रहना है। यह सापेक्ष सत्य ही मेरा प्रकाश है, वही कवच एवं ढाल है। यद्यपि यह मार्ग लम्बा एवं संकीर्ण है, कटार की धार की भाँति तेज है किन्तु यह मेरे लिए सर्वाधिक सरल एवं शीघ्र प्राप्तव्य है। अपने विश्वास में मुझे ईश्वर का परम सत्य का धूमिल आभास हुआ है एवं दिन प्रतिदिन यह मेरा विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि एक मात्र वही सत्य है, अन्य सभी असत्य।[१] पुनः वे लिखते हैं :—

मेरे विचार से इस संसार में सुनिश्चित खोजना भूल है क्योंकि यहाँ मात्र **ईश्वर ही सत्य** है, अन्य सब कुछ असत्य एवं अनिश्चित। जो कुछ भी चारों ओर हो रहा है अनिश्चित एवं क्षणिक है, किन्तु इन सबमें सत्य छिपा है। वह भाग्यशाली है जिसे इस सत्य का आभास मिल जाता है। इसी सत्य का अन्वेषण परमशुभ है।[२] वे पुनः लिखते हैं :—

मानवीय भाषा ईश्वर को व्यक्त करने में असमर्थ है।'[३] ऐसे स्थलों पर गांधी पर औपनिषद—**'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'** का प्रभाव स्पष्ट है।

ईश्वर के अनन्त रूप हैं, मेरे लिए वह **सत्य** एवं **प्रेम** हैं, ईश्वर नीति-शास्त्र एवं नैतिकता है, ईश्वर अभयत्व है, ईश्वर जीवन एवं प्रकाश का स्रोत है।.... ईश्वर अन्तःकरण है तथापि इन सबसे परे हैं। वह उनके लिए सगुण है जो उसकी सगुणात्मक उपस्थिति चाहते हैं। वह शरीरी है जो उसका स्पर्श चाहते हैं। वह अद्वितीय सत्ता है। वह मात्र सत्ता है, जिसका उसमें विश्वास है। वह सब में है, सबसे ऊपर है, हम सबसे परे हैं।[४]

गांधी यद्यपि ईश्वर की सत्ता सिद्धि करने के लिए पारम्परिक तर्कों में विश्वास नहीं करते। उन्होंने बार-बार इसे स्पष्ट कर दिया है कि मानवीय ज्ञान ईश्वर को जानने में सर्वथा असमर्थ है। किन्तु कभी-कभी उन्होंने ईश्वर को तर्क द्वारा भी प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है। **उद्देश्यमूलक तर्क** का कितना सुन्दर उदाहरण हैं। वे लिखते हैं कि कुछ सीमा तक ईश्वर की सत्ता तर्क से भी स्थापित की जा

---

१. गांधी ऐन आटोबायोग्रेफी, पृ० ७
२. वही, पृ० ३०८
३. वही, पृ. ३४
४. यंग इण्डिया, मार्च ३, १९२५

सकती है। संसार में एक व्यवस्था है, एक अपरिवर्तनीय नियम है, जो सभी वस्तुओं को, प्राणियों को, जो भी हैं या अनुप्राणित हैं, नियन्त्रित करती है। यह अन्य नियम नहीं है क्योंकि कोई भी अन्य मानव व्यवहार को नियन्त्रित नही कर सकता ... .. तो यह नियम जो प्राणियों का नियमन करता है; ईश्वर है।[१] सृष्टिमूलक तर्क का सुन्दर उदाहरण निम्न लिखित है :—

'यदि हम हैं, यदि हमारे माता-पिता एवं उनके भी माता-पिता रहे हैं तो यह मानना उचित है कि इस सृष्टि का भी कोई पिता है।[२] नित्यता के आधार पर वे इस प्रकार तर्क देते हैं "मैं धूमिल रूप से यह देखता हूँ कि हमारे चारों ओर की प्रत्येक वस्तु बदल रही है, नष्ट हो रहीं है। किन्तु इन सभी परिवर्तनों के पीछे एक जीवनी-शक्ति है जो नित्य है, सबको एक में बाँधे हैं। यही इसका सर्जन, विसर्जन एवं पुनर्सर्जन करती हैं।[३] यहाँ पर औपनिषद 'तज्जलान' का सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट है। ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा, पालक एवं संहारक है; वह नित्य, सर्वव्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है।

औपनिषद **'मृत्योः मामभृतं गमय, असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय'** के आधार पर गांधी इस प्रकार तर्क देते हैं 'मृत्यु के बीच जीवन रहता है असत् के मध्य सत्य एवं अन्धकार के मध्य प्रकाश। अत: ईश्वर सत्य एवं प्रेम है। गांधी आस्था प्रधान व्यक्ति हैं। वे तर्क को गौण स्थान देते हैं।

गांधी के ईश्वर का स्वरूप क्या है? गांधी का ईश्वर निर्गुण है या सगुण? क्योंकि कुछ के अनुसार गांधी **निर्गुणवादी-अभेदवादी** हैं तो कुछ के अनुसार **सगुणवादी-भेदवादी**। एक विद्वान् ने गांधी को अद्वैतवादी सिद्ध किया है। महात्मा-गांधी के अद्वैतवादी होने में सन्देह नहीं है। गांधी के लिए मात्र ईश्वर सत्य है। केवल उसकी सत्ता है। उससे अन्य सभी माया है। हम सभी उस सत्य के स्फुलिंग हैं। स्फुलिंगों का योग अनिर्वचनीय है।[४]

गांधी ने ईश्वर को **'सत्यस्य सत्यम्'** रूप में देखा। यहीं पर एक बात उल्लेखनीय है। यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है जो ईश्वर को निर्गुण एवं सगुण

१. वही, अक्तूबर १४, १९२८ पृ. ३४
२. यंग इण्डिया, अक्तूबर १४, १९२८
३. फिशर आन गाँधी, पृ० १०८
४. पी. टी. राजू, आइडियलिस्टिक थाट आफ इण्डिया, पृ. सं. १९२५, पृ. २६७

परिसवा:—

दो प्रकार का बताती है एवं इन दो प्रकारों में भेद देखती है। ऐसी मिथ्या धारणा प्रायः आचार्य शंकर पर थोपी जाती है। आचार्य शंकर के अनुसार निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म के दो प्रकार नहीं हैं एक ही परम सत् के दो रूप हैं। अतः यह प्रश्न उठाना अधिक सुसंगत होगा कि गांधी निर्गुण प्रधान हैं अथवा सगुण प्रधान हैं? इस प्रश्न पर विचार करने के पहले हम देखना चाहेंगे कि गांधी का ईश्वर को सत्य कहने का क्या आशय है? गांधी ने ईश्वर को सत्य की संज्ञा दी है। 'मैं ईश्वर की सत्य के रूप में उपासना करता हूँ।'[१] मैं अपने एक रूप अनुभव से विश्वस्त हूँ कि सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है।'[२] गांधी के अनुसार सत्य एवं ईश्वर पर्याय हैं किन्तु जहाँ पहले गांधी 'ईश्वर सत्य है' कहा करते थे, इसे बदलकर 'सत्य ईश्वर है' उन्होंने यह रूप भी दिया। क्यों? 'ईश्वर सत्य है' में 'है' शब्द निस्सन्देह न तो 'बराबर अर्थ देता है और न सत्यपूर्ण का। सत्य ईश्वर का मात्र विशेषण नहीं है, वह सत्य ही है। वह कुछ भी नहीं, यदि सत्य नहीं है। सत्य संस्कृत में 'सत्'-अस्ति' से निष्पन्न होता है। अतः हम जितना सत्यपूर्ण होंगे, उतना अधिक ईश्वर के निकट होंगे। हम उसी सीमा तक हैं जिस सीमा तक सत्यपूर्ण हैं।[३]

इस प्रकार सत्य ईश्वर का मात्र विशेषण नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप है। इस बात पर बल देने के लिए ही गान्धी ने सत्य को ईश्वर से पहले कर दिया। सत्य ईश्वर है। वे लिखते हैं 'यदि ईश्वर का पूर्ण वर्णन करना मानव वाणी के लिए सम्भव है तो हम ईश्वर को सत्य कह सकते हैं किन्तु मैंने एक कदम आगे जा कर कहा—सत्य ईश्वर है। 'सत्य ईश्वर है' मुझे सर्वाधिक सन्तोषपूर्ण लगा।'[४] यह टिप्पणी सुन्दर है, यदि सत्य ईश्वर है तो सत्यपरायण नास्तिक की नास्तिकता में भी देवत्व है।[५] यहाँ गान्धी का विवेचन सर्वथा शास्त्रीय हो गया है। यह स्पष्ट अद्वैतवाद है किन्तु उनके अद्वैतवाद में सगुण पक्ष की प्रधानता है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपने को वैष्णव कहा है। वे ज्ञानी की अपेक्षा भक्त हैं। गान्धी बार-बार अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि ईश्वर करुणानिधान है भक्तवत्सल है. निर्बल का बल है, दीनबन्धु है।

---

१. गांधी : ऐन आटोवायोग्रेफी पृ. ७
२. वही, पृ. ६१५
३. उद्धृत माडर्न इण्डियन थाट, पृ. १८०
४. वही, पृ. १८१
५. वही

उसने मुझको हमेशा बचाया है ईश्वर ने मुझे अपनी अनन्तकृपा से रक्षा की है।[१] कौन उसकी अहित करने की हिम्मत कर सकता है जिसकी रक्षा ईश्वर करता हैं ?[२] गान्धी एक आदर्श भक्त हैं। गांधी का ईश्वर मीरा का गिरिधर गोपाल है, अबला द्रौपदी के शील का रक्षक है, डूबते गजराज को उबारने वाला है, निर्बल का बल है। गांधा साहित्य में भक्ति की अजस्र मन्दाकिनी बही है। अतः गांधी का ईश्वर तुलसी का राम है, सूर का कृष्ण है, गान्धी वैष्णव हैं।[३]



१. गांधी : ऐन आटोवायोग्रेफी, पृ. ३७

२. वही, पृ. ७६

३. डो. एम. दत्ता , दि फिलासफी आफ म. गान्धी पृ. २७

गांधी जी के प्रयोग : आधुनिक सन्दर्भ में

श्री सुभाषचन्द्र तिवारी

गांधी जी का महान् जीवन स्वयं ही एक प्रयोग था और इसीलिये उन्होंने अपनी आत्मकथा का शीर्षक 'मेरे सत्य के प्रयोग' के रूप अंकित किया था। जिस प्रकार उनके जीवन की परिणति हुई, और उन्होंने अपने सत्य और अहिंसा के आदर्श के लिये मृत्यु का वरण किया उसने उनके प्रयोगों की सार्थता को मानव इतिहास में अमर कर दिया। प्रस्तुत विषय के प्रतिपादन में दो विन्दु मुख्य हैं। प्रथम जो उनके प्रयोगों से सम्बन्ध रखते हैं और दूसरा वह जो उन प्रयोगों को आधुनिक सन्दर्भों में समझने का प्रयास है।

सर्वप्रथम गांधी जी के प्रयोगों का सिंहावलोकन करना आवश्यक है। समयाभाव के कारण गांधी जी के अनेकानेक प्रयोगों की समीक्षा यहाँ पर करना सम्भव नहीं है किन्तु उन प्रयोगों में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयोग ऐसे हैं, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। सामान्यरूप से गांधी जी के एक राजनैतिक पुरुष माने जाते हैं और हम लोग उन्हें देश की स्वतंत्रता संग्राम का प्रमुख सेनानी समझते हैं। यह दृष्टिकोण गांधी जी के जीवन की विशालता और व्यापकता के प्रति न्याय नहीं करता, क्योंकि गांधीजी का व्यक्तित्व एकदेशीय, एक जातीय, या एक विशेष कालावधि से बधा हुआ नहीं था। देश की स्वतंत्रता की लड़ाई उस महामानव की मानवीय मूल्यों की स्थापना की कठिन साधना का केवल एक आंकिचन पक्ष था। गांधी जी ने एक बार कहा था "कि यदि सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का हनन कर देश की स्वतन्त्रता मिले भी तो वह मुझे स्वीकार्य नही है।" अर्थात् गांधीजी के जीवन में समस्त मानवता के कल्याण की भावना सर्वोच्च थी। वे न केवल अपने देश में प्रत्युत समस्त विश्व में सत्य और अहिंसा पर आधारित समाज की रचना का स्वप्न देखते थे उनके इस उदार व्यक्तित्व, समग्रदृष्टि को कम लोग समझ पाते हैं जीवन भर मुसलमानों ने उन पर विश्वास नहीं किया, किन्तु जब वे हिंसा की ज्वाला से समस्त वातावरण में नोवारखाली की पद यात्रा पर निकले और दिल्ली में एक

हिन्दू के हाथों ही गोली के शिकार हुए तो उन्होंने जैसे अपने रक्त के **अर्घ** से सामाजिक एकता की उपासना की।

गांधी जी का सबसे बड़ा प्रयोग सत्य और अहिंसा का प्रयोग है। ऐसा नहीं है कि गांधी जी इस प्रयोग की कठिनाइयों को नहीं समझे, किन्तु फिर भी उनका विश्वास था कि कठिनाइयों के कारण जीवन के किसी उच्चतम आदर्श को नहीं छोड़ा जा सकता। सत्य और अहिंसा के प्रयोग व्यक्तिगत स्तर पर निरन्तर होते रहे हैं। किन्तु गांधी जी का प्रयोग एक अर्थ में अद्वितीय था और इतिहास में इस प्रकार का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। उन्होंने पहली बार सत्य और **अहिंसा** के व्यक्तिगत सिद्धान्त को **लोक सिद्धान्त** के रूप में प्रयुक्त किया। उन्होंने १९१९ में **असहयोग आन्दोलन** चलाया। ३०-३१ में **सविनय अवज्ञा** आन्दोलन का नेतृत्व किया और १९३९ में व्यक्तिगत **सत्याग्रह** के रूप में भारत छोड़ो आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार की। देश के करोड़ों नर नारियों को और सम्पूर्ण जन मानस को उन्होंने आन्दोलित कर दिया और यह सब आन्दोलन सत्य और अहिंसा के आधार पर चलायें गये। गांधी जी यह जानते थे कि इसमें हिंसा की सम्भावनायें हैं और हिंसा हुई भी। किन्तु इतने बड़े आन्दोलन के सन्दर्भ में और मनुष्य की दुर्बलताओं को देखते हुए ये हिंसायें नगण्य थी। एक परतन्त्र और मृत राष्ट्र को चेतना से स्पंदित करने का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को दिया जा सकता है तो वह **गांधी जी** ही थे

गांधी जी ने सत्य और अहिंसा का प्रयोग वर्तमान शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में किया था जबकि दो **विश्व युद्धों** की विभीषिका से समस्त विश्व उत्पीड़ित था। प्रश्न यह है कि क्या वह प्रयोग आज २० वीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में उपयोगी है अथवा नहीं। आज **तृतीय विश्व युद्ध** के जो पिछले २ विश्व युद्धों से भी अधिक भयंकर होगा, के बादल आकाश में छाये हुए हैं। तथा कथित सभ्य देशों ने इतने विध्वंसकारी बम एकत्र कर लिये हैं कि उनसे एक बार नहीं १० बार इस धरती को प्राणहीन किया जा सकता है। इसीलिये पाश्चात्य देशों के समझदार लोग ऐसे मार्गों की तलाश में हैं जिन पर चलकर वे मानवता को महानाश से बचा सकें। **संयुक्त राष्ट्रसंघ** भी ऐसे उपायों की खोज में है। किन्तु वह कुछ बड़े राष्ट्रों के स्वार्थों से आबद्ध एवं प्रभावित रहने के कारण समस्या का कोई समाधान नहीं निकाल पाता। आज विनाश के कगार से अलग होने का रास्ता वही है जो गांधीजी ने प्रतिपादित किया था अर्थात सत्य और अहिंसा के आधार पर ही मानव

समाज की रचना का जो लक्ष्य है, वही विश्वशान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। गांधीजी का समाज शोषण विहीन समाज होगा, वर्गविहीन समाज होगा, और जिसकी आधार शिला सर्वोदय होगी। कार्लमार्क्स ने भी एक ऐसे ही समाज का स्वप्न देखा था, लेकिन उसके समाज की रचना वर्ग संघर्ष पर आधारित थी। गांधीजी समाज में वर्ग संघर्ष नहीं, अपितु हृदय परिवर्तन और साधनों की पवित्रता पर बल दिया गया। इस दृष्टि से ांधीजो का चिन्तन विश्व के अन्य महान् विचारकों से बहुत आगे नि ल गया और उ होंने एक ऐसी विचारधारा दी जो केवल आधुनिक सन्दर्भ में नहीं प्रत्युत युगों तक मनुष्य का मार्ग दर्शन करती रहेगी।

गांधीजी एक महान् शांतिकारी व्यक्ति थे किन्तु वे इतिहास के अन्य महान क्रांतिकारियों से भिन्न थे, क्योंकि गांधीजी की क्रांति का आधार अहिंसा थी, उनका विचार था कि हिंसा पर आधारित जो भी क्रांतियाँ अथवा परिवर्तन होते हैं, वे स्थाई नहीं हो सकते। क्योंकि एक हिंसा सदैव दूसरो हिंसा को जन्म देती है और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। आधुनिक सन्दर्भ में विश्व के शीर्षस्थ क्रांति विचारकों ने गांधीजी का यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है कि बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ जो रक्तपात, हिंसा और शस्त्रों की सहायता से की जाती हैं सफल नहीं होती। यह कोई साधारण बात नहीं है कि पाश्चात्य जगत में गांधीजी के अहिंसक क्रांति के विचार मान लिये जाय और अपने देश में हम निरादर करें।

गांधीजी के जीवन का दूसरा मुख प्रयोग उनकी बुनियादी शिक्षा है। गांधीजी ने एक बार यह कहा था कि बुनियादी शिक्षा देश के लिये मेरी सर्वोत्तम देन हैं। जो व्यक्ति अहिंसक क्रांति में विश्वास रखता है उसके लिये शिक्षा से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि अहिंसक क्रांति का मूल आधार लोक मानस में परिवर्तन करना है जो बिना शिक्षा के सम्भव नहीं है। माओत्से तुङ्ग ने क्रांति में मानसिक परिवर्तन के महत्त्व को बहुत विलम्ब से पहचाना और उसने कहा कि क्रान्ति के पहले सांस्कृति क्रांति होनी चाहिये अन्यथा वह प्रतीक क्रांति में बदल जाती है जो इस पृष्ठभूमि को नहीं समझता, वह गांधीजी की बुनियादी शिक्षा के प्रयोग को भी नहीं समझ सकता। इसीलिये हमारे देश के तथाकथित बुद्धिजीवियों ने गांधीजी के प्रयोग का विरोध किया और उसे असफल बनाने के प्रयास में कोई कमी नहीं की। बुनियादी शिक्षा के कुछ प्रमुख सिद्धान्त थे।

एक तो यह कि शिक्षा का व्यावहारिक क्रिया से गहरा सम्बन्ध हो, और वह क्रिया अर्थहीन क्रिया न होकर समाजोपयोगी उत्पादक क्रिया हो। इस क्रिया में हाथ

के श्रम या शरीर के श्रम का आधिक्य हो, और वह जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं से आवद्ध हो। यह कोई ऐसी बात नहीं थी जो मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नैतिकता और हमारी संस्कृति के अनुकूल न हों। पाश्चात्य जगत के महान् विचारकों ने जिनमें जान डीवी का नाम उल्लेखनीय है, ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और कर्मयोग का सन्देश देकर अमेरिका को एक सर्वाधिक शक्तिशाली और सर्वाग्रणी राष्ट्र के रूप में खड़ा कर दिया। गांधी जी की बुनियादी शिक्षा का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त हर प्रकार की **आत्मनिर्भरता** और **स्वावलम्बन** था। उनका कहना था कि जो व्यक्ति या राष्ट्र अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों का मुँह देखता है उसे स्वतंत्र-की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। स्वतन्त्र वही व्यक्ति है और मुक्ति का सुख उसे ही प्राप्त हो सकता है जो अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सकें। **राजनैतिक परतंत्रता** से अधिक घातक गांधीजी के लिये **चारित्रिक परतंत्रता** थी। उन्होंने बार-बार इस बात को दुहराया था कि वे केवल शासकों में परिवर्तन नहीं चाहते, प्रत्युत एक ऐसा नया समाज बनाना चाहते हैं जो स्वावलम्बन के मंत्र से अनुप्राणित हो। गांधीजी आजादी की लड़ाई लड़ रहे थे और बुनियादी शिक्षा के माध्यम से वे ऐसी स्थिति उत्पन्न करना चाहते थे, जिससे अंग्रेज भारत छोड़कर स्वयं चले जाएँ। आर्थिक शोषण के लिये ही साम्राज्यवाद जीता है। जब देश आत्मनिर्भर हो जायेगा तो आर्थिक शोषण के लिये कोई गुंजाइश नहीं रहेगी, यह था गांधी जी का दृष्टिकोण। यदि हमने **उत्पादक क्षमता** बढ़ाई होती और **स्वावलम्बन** का पाठ सीखा होता तो आज यह रिपोर्ट बार-बार न होती कि देश का आर्थिक विकास तो हुआ किन्तु अमीर और गरीब के बीच की खाई और गहरी और चौड़ी होती गयी। **कोठारी आयोग** ने प्रथम अध्याय में राष्ट्रीय शैक्षिक उद्देश्यों की चर्चा करते हुए देश की उत्पादक क्षमता बढ़ाने पर बड़ा बल दिया है। प्रश्न यह है कि आधुनिक सन्दर्भ में क्या गांधीजी के शिक्षा पर किये गये प्रयोग की कोई उपयोगिता है? आज शिक्षाव्यवस्था की ऊपर जो प्रमुख आरोप लगाये जाते हैं उनमें एक यह है कि स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय बेरोजगारी के कारखाने हैं। और दूसरा यह कि नवयुवकों का चारित्रिक अधःपतन होता जा रहा है। बहुधा लोग कहते हैं कि शिक्षा का रोजगार से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु ऐसा भी लोग कहते हैं, जो उच्च श्रेणी के बुद्धिजीवि हैं, वे अपने बच्चों को अच्छे रोजगारों में लगाने की व्यवस्था कर लेते हैं। मेरे विचार में शिक्षा का रोजगार से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है, सामाजिक दृष्टि से भी और व्यक्तिगत दृष्टि से भी। क्योंकि समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उचित शिक्षा ही डाक्टर, इंजीनियर एवं तकनीकज्ञ दे सकती है। अगर शिक्षा यह जिम्मेवारी पूरी नहीं करती तो शिक्षा की दुकानें निश्चय ही बन्द हो

जानी चाहिये व्यक्तिगत सन्दर्भ में भी शिक्षा के द्वारा ही हर बच्चे को **स्वावलम्बन और आत्मनिर्भरता** का पाठ पढ़ाया जा सकता है, जिससे वह केवल नौकरी की तलाश में न घूमें बल्कि स्वयं उद्योग और काम धन्धों का निर्माण करें। शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे बच्चों में यह भावना हो कि नौकरी कितनी भी अच्छी क्यों न हो, वह स्वावलम्बी जीवन से श्रेयस्कर नहीं है।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि बेरोजगारी की समस्या आधुनिक यांत्रिक संस्कृति की समस्या है और सम्पन्न से सम्पन्न राष्ट्र इतने रोजगार नहीं उत्पन्न कर सकते जितने देश में नवयुवक और नवयुवतियाँ हैं। यही कारण है कि आज **जापान, पश्चिमी जर्मनी और अमेरिका** जैसे समृद्ध राष्ट्रों में बेरोजगारी एक भीषण रूप धारण किये हुए हैं। गांधीजी ने जिस शिक्षा का वरदान देश को को लगभग ५० वर्ष पूर्व दिया था वह आज भी उपयोगी है, इसमें सन्देह नहीं। और विश्व के सभी महान शैक्षिक विचारकों ने **गांधीजी** की **शिक्षा प्रणाली** का का समर्थन किया है। **कोठारी आयोग** ने भी अपनी रिपोर्ट में यह कहा है कि गांधीजी **बुनियादी शिक्षा** के सिद्धान्त शिक्षा के सभी स्तरों के लिये उपयोगी और श्रेयस्कर है किन्तु यह एक दुखद विडम्बना ही है कि बहुत से तथाकथित शिक्षाविद् और विशेषज्ञ उसे अनुपयोगी एवं असामयिक मानते हैं।

गांधीजी के जीवन का तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोग **विकेन्द्रित राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था** का था। गांधीजी ने कहा था कि वास्तविक स्वतंत्रता वही होगी, जब भारतीय समाज ग्राम स्वराज के ऊपर आधारित होगा। अर्थात् देश का शासन ऊपर से नीचे की ओर नहीं (दिल्ली से गांव की ओर नहीं) प्रत्युत नीचे की ओर ऊपर की ओर चलेगा। और तभी शासनतन्त्र सुदृढ़ हो सकता है। इसी प्रकार गाँधीजी ने विकेन्द्रित अर्थ व्यववस्था की बात भी कही थी, जिसमें देश का आर्थिक जीवन बड़े-बड़े कल कारखानों पर न निर्भर होकर छोटे-छोटे उद्योग धन्धों पर निर्भर करेगा! उन्होंने कहा था कि मैं मशीन के विरुद्ध नहीं हूँ किन्तु मशीन यदि मनुष्य की स्वामिनी बन जाय और मनुष्य उसका दास हो जाय तो यह स्थिति मुझे पसन्द नहीं है। इसीलिये उन्होंने देश भर में **खादी** के कार्य को चलाया और **गांधी आश्रमों** की स्थापना की। जिनके माध्यम से आज भी लाखों लोग अपनी रोजी कमा रहे हैं। प्रश्न यह है कि क्या विकेन्द्रित राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के विचार और प्रयोग आज भी उपयोगी है अथवा नहीं। आज केन्द्रीकरण के सिद्धान्त का पूरा प्रचार है। जीवन की छोटी से छोटी

बुनियादी आवश्यकता का नियंत्रण दिल्ली से होता है। गाँवों में **स्वराज्य** या **स्वशासन** नाम की कोई चीज नहीं है। देश के नागरिक निष्क्रिय, अकर्मण्य और शासनमुखापेक्षी हो गये हैं। शिक्षा स्वास्थ्य अन्न के सम्बन्ध में वे सरकार पर पूर्णतया निर्भर करते हैं। जिस देश में लोक जीवन इस प्रकार परावलम्बी हो जाता है वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा भी समय आने पर नही कर सकता। नौकरशाही और बड़े-बड़े राजनेताओं के संकेतों में समाज का जीवन चलाना बड़ी खतरनाक बात है। यह लोकतन्त्र की अन्त्येष्टि क्रिया और अधिनायक तन्त्र की पुष्ठ भूमि की स्थापना का उपक्रम है।

इसी सन्दर्भ में कुछ लोगों का यह कहना है कि विकेन्द्रीकरण समय के चक्र को पीछे घुमाना है। किन्तु ऐसे लोग यह नहीं समझते की आज बड़े-बड़े कल कारखानों और मशीन की संस्कृति से मनुष्य ऊब चुका है। पाश्चात्य देशों में भी जहाँ मशीन की संस्कृति चरम सीमा पर है, एक उग्र प्रतिक्रिया मशीन की संस्कृति के विरुद्ध हो रही है। बड़े-बड़े कल कारखानों ने वातावरण प्रदूषित कर दिया है, नदियों के जल को विषाक्त बना दिया है, यहाँ तक की मनुष्य को शुद्ध वायु और शुद्ध पीने का पानी भी उपलब्ध होना कठिन है। मशीन की संस्कृति ने एक काम और किया। उसने महानगरों को जन्म दिया है, जिनका जीवन नारकीय जीवन है। इन महानगरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जंगल के जंगल काट दिये जाते हैं और हरीतिमा के अभाव में मनुष्य का जीवन ही खतरे में पड़ गया है। **क्लब आफ रोम** (Club of Rome) की एक योजना के अन्तर्गत विश्व के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों ने गम्भीर अध्ययन के बाद यह घोषणा की है कि आगामी शताब्दी के मध्य विन्दु तक मनुष्य पृथ्वी के सभी प्राकृतिक साधनों को समाप्त कर देगा। मिट्टी का तेल, कोयला और पानी जो ऊर्जा के प्रमुख स्रोत हैं, समाप्त हो जायेगें। उन्होने इस गम्भीर स्थिति को पुनः दुहराया है और विश्व को यह चेतावनी दी है कि वे अपने कार्यों में अपव्यय को रोकें और अपनी आवश्यकताओं को कम करें, जिससे मनुष्य प्राकृतिक साधनों का प्रयोग अधिक समय तक कर सके। इस सन्दर्भ को प्रस्तुत करने का उद्देश्य यह है कि गांधीजी ने बड़े-बड़े कल कारखानों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वह आज के समझदार वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। और गांधीजी के प्रयोग समय के चक्र को पीछे घुमाने के प्रयोग नहीं है, प्रत्युत वे न केवल आज की स्थिति में बल्कि आगामी शताब्दी में और उसके आगे भी विनाश के अन्धकार में दीपक की शिखा भी क्रांति मार्ग दर्शन करते रहेगें। मनुष्य

को यदि उस धरती पर जीवित रहना है तो गांधीजी के प्रयोग के अतिरिक्त और कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

गांधीजी ने अपने जीवन के अंतिम चरण में **सर्वोदय** का प्रयोग देश को दिया। जिसका अर्थ है सबका उदय अर्थात् हर व्यक्ति का पूर्ण विकास। किन्तु देश ने एक विदेशी विचारधारा को स्वीकार किया, जिसे हम **समाजवाद** कहते हैं। उसे संविधान में भी स्थान दिया गया है। **हिटलर** भी समाजवादी था और **स्टालिन** तथा **माओत्सेतुङ्ग** भी समाजवादी थे। समाजवाद व्यक्ति की उपेक्षा और उसके अधिकारो के हनन के रूप में हमारे सामने आ रहा है। गांधीजी ने सर्वोदय और अन्त्योदय का जो विचार दिया। उसका समर्थन आज विश्व का प्रसिद्ध क्रान्ति-विचारक **'पालोफ्रेयरे'**कर रहा है और उसका कहना है कि क्रांति वही है जिसमें समाज का अन्तिम उपेक्षित व्यक्ति केन्द्र में स्थान पा सके। **अन्त्योदय** की भी यही संकल्पना है।

जैसा प्रारम्भ में कहा गया गांधीजी का पूरा जीवन सत्य पर किये गये प्रयोगों की एक शृखला है। त्याग, तपस्या, साधना, अपरिग्रह के इतिहास में इस प्रकार का दूसरा उदाहरण मिलना सम्भव नहीं है जिस व्यक्ति के संकेत पर करोड़पति धन उपलब्ध कराते थे, उसका आज अपना कुछ भी नहीं है, एक छोटी सी फूस की झोपड़ी **सेवाग्राम** में खड़ी है। जब अंग्रेजों ने देश की स्वतन्त्रता और उसका सम्पूर्ण शासन गांधी जो को सौंपा तो गांधीजी दिल्ली छोड़कर हिन्दू-मुसलमानों में सद्भाव बढ़ाने के लिये **'नोआखाली'** चले गये। राजसत्ता के प्रति यह **निर्वेद** और **वैराग्य** इतिहास में अद्वितीय है।

उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन एक दो छोटे कपड़ों में बिता दिया और उसी वेष-भूषा में बड़े से बड़े सम्मेलनों में भाग लेते रहे। वे देश की संस्कृति और गाँव की संस्कृति के प्राण और प्रतीक थे। उन्होंने जीवन के अनेक आयामों में अनेक प्रयोग किये, जिनके निष्कर्ष आज भी उपयोगी एवं श्रेयस्कर हैं और युगों तक मनुष्य के लिये कल्याणकारी सिद्ध होंगे।



सत्य और अहिंसा की अवधारणा : गांधी की सामाजिक-नैतिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में

श्री रमेशचन्द्र तिवारी

गांधी विचारों के अध्येता जानते हैं कि **सत्य** और **अहिंसा** की अवधारणाओं पर उनकी अटूट निष्ठा थी। उनके लिए यह दोनों अवधारणायें केवल बौद्धिक महत्त्व नहीं रखती थी, बल्कि वह मानते थे कि सच्चा मानव अस्तित्व और एक सही समाज व्यवस्था केवल सत्य और अहिंसा पर ही आधृत हो सकती है। अतः गांधी की दृष्टि में सत्य और अहिंसा मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के सर्वोच्च दिशा निर्देशक हैं, उनके ऊपर कोई नहीं है। यदि उनकी दृष्टि में सत्य और अहिंसा का इतना गहरा महत्त्व है तो गांधी के विचारों को समझने के लिए सबसे अधिक आवश्यक है कि उनकी इन दोनों अवधारणों के अर्थों, निहितार्थों और और उनकी अर्न्तसम्बद्धता को समझा जाय। प्रस्तुत निबन्ध में उक्त दो अवधारणाओं को गांधी की समग्र **सामाजिक-नैतिक** दृष्टि के संदर्भ में देखने का प्रयास किया गया। निबंध के प्रथम खण्ड में उनकी दृष्टि में निहित प्रधान विशेषताओं की चर्चा की गयी है तथा द्वितीय एवं तृतीय खण्डों में क्रमः सत्य और अहिंसा की अवधारणाओं की व्याख्या की गयी है।

× × × ×

गांधीं जीं किसी दर्शन प्रणाली के प्रवर्तक नहीं थे। किन्तु उनकी चिन्तन प्रक्रिया के पीछे कुछ दार्शनिक मान्यतायें अवश्य छीपी थी। इन मान्यतार्ओ के तीन प्रधान स्रोत थे। पहला स्रोत था **प्राचीन भारतीय धार्मिक सांस्कृतिक विरासत;** दूसरा स्रोत था पश्चिम की उदार **मानवतावादी परम्परा** और तींसग और सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत था उनका अपना **वैयक्तिक अनुभव**। उनकी दार्शनिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि के रूप में इन तीनों स्रोतों को पहचाना जा सकता है। यद्यपि गांधीजी का उद्देश्य किसी दर्शन का निर्माण करना नहीं था किन्तु उन्होंने मानवीय मूल्यों के

निर्धारण के लिए एक सुसम्बद्ध अवधारणात्मक ढाँचे का सर्जन अवश्य किया। उन्हें मूल्यों और अवधारणाओं की ऐसी संरचना की तलाश थी जो मानव जीवन को आलोकित करें और जो केवल वैचारिक स्तर पर कायम न रह कर दैनन्दिन जीवन में और मानव व्यवहार में प्रतिष्ठित हो सके।

मूल्यों और आदर्शों की अवधारणाओं की जो संरचना **गांधीजी** ने निर्मित की उसकी **दर्शनशास्त्र** के लोगों द्वारा उसी प्रकार व्याख्या करना सम्भव है जिस प्रकार वे किसी बड़े चिन्तक की दार्शनिक अवधारणाओं की व्याख्या करते हैं। दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या करने पर गांधी के विचारों के बारे में यह विशेषता देखने में आती है कि उनके चिन्तन में **सत्तामीमांसा, ज्ञानमीमांसा और विचार पद्धति** तीनों ही असाधारण रूप से एकीकृत हैं। उनके इस एकीकृत चिन्तन का ही यह परिणाम था कि उनकी अवधारणायें केवल वैचारिक स्तर पर तर्कसंगत निर्मितियाँ मात्र नहीं थी। उनकी अवधारणाओं की यह विशेषता थी कि वे सामाजिक मूल्यों की शक्ल भी ग्रहण कर लेती थी। उनकी विचार प्रक्रिया अवधारणाओं को मूल्यों में रूपान्तरित कर देती थी। गांधीजी कभी इस बहस में न पड़े कि **चित्ततत्त्व** प्रधान है या **पदार्थतत्त्व**। उन्होंने जीवन और उसके अनुभवों को आधार बनाया। इसीलिए उनके लिए दार्शनिक अवधारणाये प्रधान नहीं थी वह मनुष्य का पथ निर्देश करने वाले मूल्यों और आदर्शों को प्रधानता देते थे। अतः **सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, स्वदेशी** तथा **स्वराज्य** जैसी उनकी सभी अवधारणाओं का अन्तिम महत्त्व इसी में निहित है कि वे **व्यक्ति** और **समाज** दोनों के मूल्यों को आधार प्रदान करते हैं। आधारभूत मूल्यों के माध्यम से वह एक सम्यक् मानव समाज को विकसित होता देखना चाहते थे। उनकी दृष्टि में एक सम्यक् मानव समाज को आधारभूत मूल्यों की भित्ति पर ही स्थापित किया जा सकता है।

गांधीजी की दृष्टि में मानव समाज को उसके विभिन्न अंगों की अन्योन्याश्रयता पर आधारित एक समग्रता के रूप में देखा जाना चाहिए। वे समाज के विभिन्न अंगों को विखण्डित और एकांतिक दृष्टि से नहीं देखते थे। उनके लिये धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था, परिवारव्यवस्था, संस्तरणात्मक-व्यवस्था आदि एक दूसरे से अलग नहीं थे, बल्कि एक ही सूत्र से बँधे हुए थे, अन्योन्याश्रित थे। अतः उनकी सम्यक् मानव समाज की कल्पना के पीछे एक विचार सूत्र काम करता है और वह जीवन को **बुनियादी मूल्यों** पर प्रतिष्ठित करना है।

मूल्यों और आदर्शों को केन्द्र में रखकर व्यक्ति और समूह के जीवन को संगठित तथा विकसित करने पर असाधारण बल देने के कारण **गांधी**

का नेतृत्व इस युग का सबसे असाधारण प्रकार का नेतृत्व था। उनका नेतृत्व केवल राजीतिक नेतृत्व नहीं था। बीसवीं सदी में और भी अनेक क्रान्तिकारी और राजनीतिक नेता हुये थे। बड़े-बड़े प्रतिभावान और प्रभाववान असाधारण राजनेता हो चुके हैं, **एशिया** में, **यूरोप** में तथा अन्यत्र। किन्तु गांधी सबसे अलग हैं क्योंकि उनका नेतृत्व मूलतः नैतिक नेतृत्व था। समाज को **नैतिक नेतृत्व** देने का काम राजनीतिक नेता आमतौर पर नहीं करते। नैतिक क्षेत्र में दिशा देने का काम साधारणतया धार्मिक या आध्यात्मिक क्षेत्र के महापुरुषों का होता है लेकिन गांधीजो का विश्वास था कि राजनीति को नैतिक आधार देना अत्यन्त आवश्यक हैं। उनके अनुसार नैतिकताविहीन राजनीति बहुत अनिष्टकारक होती है।

यह प्रश्न आज के समाजों के लिए विचारणीय है कि जब **धर्म** और **परम्परा** का **नैतिक मूल्य** एवं महत्त्व घटता जा रहा है और निरन्तर तर्कसंगतता औपचारिकता, कर्मचारीतंत्र तथा विधि-विधानों का दायरा बढ़ता जा रहा है तो समाज को नैतिक दिशा-निर्देश कहाँ से मिलेगा? समाज में मूल्यों का पदक्रम कहाँ से निर्धारित होगा? अन्तिम या सर्वोच्च मूल्य कौन माने जायेगें? प्रसिद्ध **जर्मन** समाजशास्त्री **मक्सवेबर** ने वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ के दशकों में इस रुझान का उल्लेख किया था कि आधुनिक समाज के विकास के साथ सर्वोच्च, अन्तिम एवं उदात्त मानवीय मूल्यों का दायरा सार्वजनिक जीवन में सिमटता जाता है, और शनैः शनैः ऐसे मूल्य या तो आध्यात्मिक रहस्य के गह्वरों में छिपने लगते हैं या व्यक्तियों के एकदम निजी जीवन में सिकुड़ जाते हैं। इसे आधुनिकीकरण के सांस्कृतिक परिणाम के रूप में देखा जा सकता है। इसके विपरीत परम्परागत समाजों में धार्मिक प्रेरणाओं का इतना विस्तार होता था कि वे समाज के सारे जीवन को दिशा प्रदान करते थे। समाज के मूल्यों और आदर्शों का सृजन भी धार्मिक क्षेत्र में ही होता था। लेकिन प्रायः राजनीति अर्थव्यवस्था, धर्म परिवार आदि क्षेत्रों को विशेषीकृत माना जाने लगा है। अतएव **धर्म** की वह व्यापकता नहीं रह गई है जो पहले थी। **धर्म** अब सारे समाज के लिए बुनियादी आदर्श प्रस्तुत नहीं कर पाता। लौकिकीकरण की प्रक्रिया तीव्रतर होती जा रही है और लौकिकीकरण को आधुनिकीकरण की एक अनिवार्य सहायक क्रिया के रूप में देखा जाता है। इतना ही नहीं अर्थनीति और विशेषकर राजनीति जीवन के हर क्षेत्र में इस प्रकार प्रतिष्ट होती जा रही हैं कि वह प्रभावकारिता तथा वर्चस्व की दृष्टि से वही स्थान ले चुकी है जो स्थान कभी **धर्म** का था।

आधुनिक युग में राजनीति के इस केन्द्रीय महत्त्व को गांधीजी पहचानते थे। इसी कारण उन्होंने राजनीति को त्याज्य नहीं समझा। लेकिन उन्होंने राजनीति का परिष्कार करना अपना परम् धर्म समझा। वे यह भी मानते थे कि राजनीति सत्ता का खेल है सत्ता की धुरी पर वह नाचती है। सत्ता पर आश्रित, सत्ता से प्रेरित और मात्र सत्ता की ओर उन्मुख राजनीति को वे मर्यादाहीन मानते थे। वह राजनीति को मर्यादित करना चाहते थे। उनके अनुसार केवल मूल्यों और आदर्शों से ही राजनीति को मर्यादित और परिष्कृत किया जा सकता है। इसी कारण उनका कहना था कि मात्र राजनीतिक सत्ता को हथियाने का लक्ष्य बहुत घटिया लक्ष्य है। ऐसी राजनीति को वह भ्रष्ट राजनीति मानते थे। उनकी दृष्टि में सच्ची शक्ति जनता के प्रेम में निहित है। प्रेम और सद्भाव से जनता का हृदय जितना वास्तविक शक्ति है। अतः गांधीजी कहते थे कि हमारा अन्तःकरण जीतना पवित्र और शुद्ध होगा उतना ही अधिक हम जनता का हृदय जीतने में सफल होंगे और गांधीजी के अनुसार अन्तःकरण की शुचिता का आधार सत्य और अहिंसा जैसे सर्वोच्च मूल्यों पर अडिग आस्था तथा सत्य आचरण से ही आ सकती है।

इस प्रकार गांधी ने सत्य और नैतिक मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण करके यह बताया कि नैतिक मूल्यों के माध्यम से ही सत्ता की वैधता, समाजिकता और मानवीय उपादेयता स्थापित हो सकती है। नैतिक मूल्यों की सर्वोच्चता को वह हर परिस्थिति में कायम रखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने राजनीति के सत्ता केन्द्रित होने की प्रचलित धारणा के स्थान पर शक्ति की परिभाषा को व्यापक रूप से सामाजिक बनाया, वैयक्तिक और निजी नैतिकता तथा सार्वजनिक नैतिकता के द्वैत को समाप्त करने पर बल दिया, नैतिक मूल्यों तथा राजनीतिक स्वार्थों के द्वन्द्व में नैतिक मूल्यों की अप्रतिहत श्रेष्ठता की स्थापना की तथा राजनीति में दोहरे मान-दण्डों को कायम रखने को अनैतिक करार कर दिया। राजनीति को यह स्तर प्रदान करना वास्तव में राजनीति को एक प्रकार से धार्मिक धरातल में प्रतिष्ठित करने के समान था। गांधीजी ने अपने राजनैतिक जीवन के आरम्भ में ही राजनीति को नैतिक दृष्टि से देखना शुरू कर दिया था। सन् १९१५ में ही उन्होंने कह दिया था कि उनका उद्देश्य राजनीतिक जीवन एवं राजनीति संस्थाओं का 'अध्यात्मीकरण' करना है। वे कहते थे कि यदि राजनीति को धर्म से अलग कर दिया जाता है तो वह उसी तरह त्याज्य है जैसे कि मृत शरीर। मृत शरीर की अन्त्येष्टि सम्पन्न की जाती है, इसके अलावा एक शव का क्या किया जा सकता है? लेकिन यह स्मरणीय है कि धर्म की उनकी अवधारणा भी वह नहीं जिसके अनुसार शास्त्रानुकूल कर्मकाण्डों

का अनुसरण करना तथा किसीं सम्प्रदाय विशेष के औपचारिक स्वरूप से अपने को जोड़ना धर्म है। वह प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों के प्रथागत बाह्य स्वरूप को धर्म नहीं कहते थे। वे सम्प्रदायों से ऊपर उठकर मानव समाज तथा मनुष्य के आन्तरिक आध्यात्मिक-नैतिक तत्त्वों को धर्म कहते थे। उनका धर्म देश तथा काल की सीमाओं से आबद्ध धर्म नहीं था। अतः जब वे धर्म को राजनीति से जोड़ते थे तो उनका तात्पर्य हिन्दू, इस्लाम, ईसाई आदि सम्प्रदायगत धर्मों से नहीं था। वे राजनीति को मात्र सत्ता केन्द्रित न बनाकर सर्वोच्च, मूल्यों एवं आदर्शों से नियमित एवं निर्देशित करना चाहते थे। जहाँ एक ओर वह सत्ता केन्द्रित राजनीति को भौंड़ी और दूषित मानते थे, वही दूसरी ओर वह राजनीति को सत्ता-लोलुप लोगों के हाथ में देकर समाज की दुर्गति भी नहीं होने देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने राजनीति को पूर्णतया त्याज्य समझने की बात नहीं की। उन्होंने दूषित राजनीति को छोड़कर शुद्ध और नैतिक राजनीति को प्रतिष्ठित करने की बात की। इसीलिए गांधी जी कभी निजी और सार्वजनिक अथवा राजनीतिक या व्यक्तिगत नैतिकता को एक दूसरे से अलग नहीं करते थे। उनकी नैतिकता विभिन्नीकृत या विखंडित नहीं थी। उनकी पूर्ण या सम्यक् नैतिकता उनकी उन आधारभूत अवधारणाओं पर आधारित थी जिनमें सत्य और अहिंसा सबसे प्रमुख थे।

उपरोक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर गांधीजी की बिचार प्रक्रिया तथा उससे प्रसूत अवधारणाओं का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है। कि सत्य, अहिंसा, स्वराज्य या सत्याग्रह आदि अवधारणायें सामाजिक दृष्टि से अनेक विशेषताओं से युक्त हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे प्रधानतया आदर्शात्मक हैं। आदर्शात्मकता को प्रधानता देने के कारण दार्शनिकता तार्किकता की दृष्टि से गांधीजी की अवधारणाओं में सम्भवतः वह निश्चितता तथा कसाव तथा असंदिग्ध स्पष्टता नहीं मिलती जो अधिकांश दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त अवधारणाओं में मिलती हैं। आदर्शात्मकता के प्राधान्य के अतिरिक्त गांधी की अवधारणाओं में गत्यात्मकता, सापेक्षिकता तथा द्वन्द्वात्मक विकासशीलता की विशेषतायें दृष्टिगत होती है। उनकी कोई भी अवधावणा जड़ नही थी। वह नवीन अनुभवों और जोवन के स्तरों के अनुरूप विकसित और परिवर्द्धित होती थी। गांधी ने जीवन भर अपनी अवधारणाओं का बदलती परिस्थितियों के सन्दर्भ में परीक्षण किया, टटोला और और नये संदर्भों में उनका विस्तार किया, परिमार्जन किया। हर स्थिति में उन अवधारणाओं की परख करके उनके सार्वकालिक सामाजिक महत्त्व को सिद्ध किया।

अतएव गांधी की विशेष नैतिक और सामाजिक दृष्टि के सन्दर्भ में ही सत्य और अहिंसा की अवधारणाओं के अर्थ को समझना ठीक होगा।

× × × ×

गांधीजी की दृष्टि में मानव जीवन के हर पहलू में विचार और व्यवहार की आन्तरिक कसौटी सत्य है। जीवन का व्यक्तिगत या सामूहिक कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसे सत्य, नैतिक आधार प्रदान न करें। उनके अनुसार **नीतिशास्त्र** का आधार ही सत्य हैं। इसके साथ ही सत्तामीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा दोनों दृष्टियों से भी गांधी की सत्य की अवधारणा गांधी विचार प्रक्रिया में सबसे केन्द्रीय अवधारणा है। क्योंकि उनके लिए सत्य स्वयं सर्वोच्च सत्ता है और वही ज्ञानतत्त्व भी हैं। सत्य के रूप में अनेक हैं। वह ज्ञानगम्य भी है ज्ञानातीत भी, उसका जाग्रत आनुभविक अस्तित्व भी है और अनुभवातीत अस्तित्व भी। चूँकि मनुष्य का अनुभवक्षेत्र और ज्ञान-क्षेत्र सर्वदा सीमित होता है। इसीलिए सत्य का ज्ञानगम्य या अनुभवगम्य स्वरूप भी सीमित होता है। किन्तु सत्य केवल मानव अनुभव सीमाओं में ही नहीं बंधता इसलिए वह अनुभवातीत भी है। गांधीजी कहते थे कि सत्य का अर्थ हमारी ज्ञान की परिधि के अन्दर वस्तुओं के अस्तित्व से भी है और उस परिधि के बाहर की अज्ञात स्थितियों से भी है। वह सत्य को उसके विविधात्मक रूपों में देखते थे। सत्य के वहु-आयामी स्वरूप की व्याख्या के लिए उन्हें **जैन-दर्शन** में अनेकान्तवाद या सप्तभंगी का प्रत्यय बहुत उपयुक्त प्रतीत हुआ। अनेकान्तवादी दृष्टि से सत्य के अनेक आयाम होते हैं,और हमें सर्वदा इन विविध आयामों की सहवर्तिता को ध्यान में रखना चाहिए। गांधी भी मानते थे कि सत्य कभी एकांगी नहीं होता। सत्य के अनेक पहलू होते हैं। इस प्रकार गांधी के सत्य की अवधारणा बहुत व्यापक है। यदि उसका एक छोर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से जुड़ा है तो उसका दूसरा छोर देशकाल की परिधियों से बाहर लोकातीत, अनुभवातीत क्षेत्र से सम्बद्ध है।

गांधीजी के चिन्तन में **सत्य** का स्थान सर्वोपरि है। सत्य अन्तिम कसौटी है। वह कहते थे कि सत्य के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। सत्य के अस्तित्व के अलावा अन्य सब अस्तित्व "अवास्तविक" है। अवास्तविक इस अर्थ में कि जगत् में कोई वस्तु नित्य या अपरिवर्तनशील नहीं है, सभी घटनायें और रचनाएँ अनित्य है, परिवर्तनशील है। गांधी के अनुसार पूर्णता केवल सत्य में है और सत्य शाश्वत् है। उनकी दृष्टि में सत्य को उसकी पूर्णता में कोई नहीं जान सकता। उसके अनेकानेक रूप हैं। इसीलिए उन्होंने बताया कि सत्य

को अनेक पर्यायों से जाना जाता है. धर्म, ऋत्, शाश्वत्. यथार्थ, अन्तिम तत्त्व, पूर्णत्व, विशुद्ध, अनादि, अनन्त आदि। गांधीजी प्रायः **सत्य** को **ईश्वर** कहते थे। उनका कहना था कि चूँकि सत्य पूर्ण अन्तिम तथा शाश्वत सिद्धान्त का नाम है इसीलिए वह **ईश्वर** है। वह कहते थे कि मैं ईश्वर की आराधना केवल सत्य के रूप में करता हूँ, अन्य किसी रूप में नहीं। उनके अनुसार सत्य की अनवरत खोज मानव जीवन का परम् लक्ष्य है। उससे बड़ा कोई दूसरा लक्ष्य नहीं हो सकता। प्राचीन भारतीय परम्परा में मनुष्य के लिए **चार पुरुषार्थों** की जो व्याख्या की गयी है उसमें चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष को सर्वोच्च माना गया है। **धर्म**, **अर्थ**, तथा **काम** का महत्त्व अन्तिम रूप में **मोक्ष** के संदर्भ में ही है। किन्तु गांधीजी ने सत्य को मोक्ष से भी ऊपर रखा है। उनका कहना था कि, **"मैं मोक्ष का इच्छुक हूँ, किन्तु यदि मोक्ष का सत्य और अहिंसा से विरोध होगा तो मुझे मोक्ष नहीं चाहिए।"**

सत्य की उपर्युक्त अवधारणा उसे **आध्यात्मिक** धरातल पर ले जाती हैं क्योंकि सत्य की तमाम विशेषताएँ उसे अनिर्वचनीयता प्रदान करती हैं। पूर्ण, शाश्वत् एवं अन्तिम तत्त्व के रूप में सत्य की कौन व्याख्या कर सकता है ? कौन उसे जान सकता है ? इसीलिए गांधीजी के आलोचक कहते हैं कि उनका सत्य **रहस्यात्मक** था। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों एवं धार्मिक तत्त्वचिन्तकों की तरह वायवीय था। लेकिन ऐसा कहना गांधी की सत्य की अवधारणा के केवल एक पहलू को पकड़ना है। उनका सत्य जहाँ आध्यात्मिक धरातल पर अव्यक्त तथा पूर्ण है वहीं वह मानवीय जगत में नाना रूपों में व्यक्त है और उसका अस्तित्व सापेक्षिक है।

गांधीजी ने व्यावहारिक दृष्टि से सत्य के सापेक्षिक स्वार्थों को महत्त्व दिया था। वे जानते थे कि सत्य को उसके पूर्ण रूप में न तो देखा जा सकता है और न उससे मानवीय जगत का व्यवहार सम्पन्न हो सकता है। मनुष्य का सामाजिक जगत परिसीमित है, परिपूर्ण नहीं। इस भाँति गांधी सत्य के **पूर्ण** और **सापेक्षिक** दो प्रधान रूपों में भेद करते थे। उनका कहना था कि पूर्ण सत्य का ज्ञाता कोई नहीं है। हम सब आंशिक सत्य को जानते हैं। मनुष्य सत्य को जिस प्रकार और जिस रूप में देखता है उसी का वह अनुसरण कर सकता है। **पूर्ण सत्य** को वह **ईश्वर** का पर्याय मानते थे, अतः सत्य रूपी ईश्वर को प्राप्त करना साधारण बात नही है। उसे प्राप्त करने का प्रयास मात्र हो सकता है। वह प्रयास कितना सफल होगा, कोई नहीं जानता। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति यह अवश्य कर सकता है कि वह

सत्य को जिस तरह देखे उसके अनुसार आचरण करे। गांधीजी कहते थे कि अपने सत्य या आंशिक सत्य के अनुसार आचरण करना भी कोई आसान काम नहीं है। उसके लिए अदम्य साहस और धैर्य की आवश्यकता होती है। उनका कहना था कि यद्यपि सत्य का मार्ग कृपाण की धार के समान है किन्तु फिर भी मेरे लिये सबसे आसान और सबसे निकट का रास्ता है। यदि मनुष्य सत्य के पथ पर अडिग होकर ईमानदारी के साथ चले तो बड़ी से बड़ी भूलें और बड़े से बड़े अवरोध भी निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार गांधीजी के लिए समाज में व्यवहार की दृष्टि से आंशिक सत्य ही अर्थपूर्ण है। गांधीजी का सत्य मनुष्य में प्रयोगधर्मिता पर आधारित नैतिक साहस का सृजन करता है। आंशिक या सापेक्षिक सत्य को महत्त्व देकर उन्होंने मनुष्य को निरन्तर अपने को सुधारने तथा सही मार्ग पर निरन्तर चलते रहने के लिए प्रेरणा का आधार प्रदान किया। सत्य का अनुसरण करने वाला एक प्रकार से निरन्तर प्रयोग करता है। अपने विचारों और व्यवहारों को परखता है, अपनी त्रुटियों का विश्लेषण करता है, पुनः संशोधन करके व्यवहार करता है और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। अपनी गलतियों को पहचानने और उनमें सुधार करने का पूरा अवसर मिलता है। गांधीजी का सापेक्षिक सत्य की अवधारणा मानव व्यवहार का उत्तरोत्तर परिमार्जन करती है। गांधी की दृष्टि में निरन्तर सही रास्ते पर चलते रहने के प्रयत्न में ही मनुष्य के जीवन की सार्थकता निहित है। जीवन पथ पर चलने वाले पथिक के लिए सत्य ध्रुव तारे के समान पथ प्रदर्शक है।

सत्य का अनुसरण करना तथा सत्य पर दृढ़ रहना गांधी के लिए मनुष्य का सर्वोच्च पुरुषार्थ है। सत्य पर दृढ़ रहने वाला व्यक्ति एक बेहतर इन्सान बनता है। सत्य का अनुसरण करने वाले व्यक्ति में सामाजिक शील और विनय का उद्भव होता है। वह समाज को अपने विचार और व्यवहार से सुवासित करता है। अपने समाज का वह एक आदर्श सदस्य होता है क्योंकि क्रोध, क्षुद्र स्वार्थ, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, तथा दुर्भावनायें सत्य का अनुगमन करने में स्वतः क्षीण होकर समाप्त होने लगती है। ऐसा व्यक्ति अपने समाज के अन्य सदस्यों के साथ मानवीय तादात्म्य स्थापित करता है। वह दूसरे के दुःख से दुःखी होता है। वह अपने स्वार्थ का त्याग करता है। वह किसी का शोषण नहीं कर सकता, वह अन्याय नहीं कर सकता, और न अन्याय को सहन कर सकता है। वह त्याग कर सकता है, कष्ट सह सकता है। वह भोगी और क्रूर नहीं हो सकता। सत्यान्वेषी में अहंकार भी नहीं होता। सत्यान्वेषी व्यक्ति विनम्र होता है। गांधीजी ने कहा है कि सत्य

का खोजी धूल के कणों से भी अधिक विनम्र होता है। दुनिया धूल को पाँवो से रौंदती है, किन्तु सत्यान्वेषी व्यक्ति इतना विनम्र होता है कि धूल भी उसे कुचल सकती है। अपने अहं का विलय करने वाला मनुष्य ही सत्य का झलक पा सकता है। अहं की भावना का शमन किये विना विनम्रता का आविभाव नहीं हो सकता है और न सच्चे सामाजिक शील का विकास हो सकता है। **गांधी** सामाजिक जीवन को **शील. सहिष्णुता** तथा **सद्भावना** से सुवासित करके उसे श्रेष्ठ और मानवोचित बनाना चाहते थे। उनकी दृष्टि में यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि मनुष्य **सत्य** का पालन करें। उनका कहना था कि सत्य का खोजी न केवल विनम्र और शीलवान होगा, वल्कि वह जीवन के द्वैतों से भी मुक्ति पा सकता है। आसक्ति और विरक्ति, आकर्षण और विकर्षण और सुख और दुःख के द्वैत से ऊपर उठकर व्यक्ति पूर्ण मुक्ति का अनुभव कर सकता है। अतः गांधी के लिए सत्य की अवधारणा व्यक्ति और समाज दोनों के नैतिक उन्नयन का आधार है। वे समाज के उन्नयन को मानवीय गुणों की श्रेष्ठता के उत्तरोतर विकास में देखते थे। और वह इस विकास का एकमात्र आधार सत्य की अवधारणा को मानते थे।

समाज शास्त्रीय दृष्टि से **गांधीजी** की सत्य की अवधारणा के मूल्य को समझने का प्रयास बहुत कम किये गये हैं। प्रायः यह धारणा विद्यमान है कि गांधीजी ऐसे मनुष्यों के ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जो **सात्विक प्रवृत्ति** के हों। साधु स्वभाव के अनासक्त लोग हों। समाज वैज्ञानिक कहते हैं कि मनुष्य की एषणाओं, स्वार्थों तथा जीवन की विकट समस्याओं के संदर्भ में सात्विक वृत्ति के साधु स्वभाव वाले व्यक्तियों की संख्या इतनी कम होती है कि वह समाज के औसत सदस्य नहीं होते। समाज शास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में मनुष्य का दैनन्दिन जीवन संघर्षों, तनावों, विग्रहों, स्वाथों तथा असन्तोषों के बीच गुजरता है और क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, हिंसा तथा द्वेष जैसी मनोवृत्तियों की मनुष्यों के जीवन में बहुत बड़ी भूमिका होती है। समाज वैज्ञानिकों का यह विश्लेषण अपनी जगह पर सही है। मानव समाज से न तो संघर्षों, तनावों और विग्रहों आदि सामाजिक समस्याओं का उन्मूलन हो पाया है और न मनुष्य के मन से क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि भावनाओं का उच्छेद हुआ है। किन्तु यह भी स्मरणीय है कि मानव समाज ने सर्वदा इन समस्याओं तथा भावनाओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य का समाज सम्भवतः पशु समाज से अधिक भिन्न न होता। अतः गांधी के विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अतर्कसंगत होगा कि वे सन्त साधु प्रवृत्ति के अनासक्त मनुष्यों के काल्पनिक **समाज**

का निर्माण कराना चाहते। गांधी को ज्ञात था कि ऐसा समाज बनाना बहुत ही कठिन है, शायद असम्भव है। सामान्यतः मनुष्यों में मोह, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, आदि की पाशविक भावनाएँ बहुत प्रबल होती हैं और उनको नियंत्रित करने वाली वृत्तियाँ कमजोर होती हैं। लेकिन मानव की श्रेष्ठता और विशिष्टता इसी बुनियादी तथ्य पर आश्रित है कि वह स्वार्थ केन्द्रित पाशविक भावनाओं पर नियन्त्रण करने का सतत प्रयास करता है। गांधी इसी दृष्टि से मनुष्य और उसके समाज की संरचना में नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों को महत्त्व देते थे। उन्होंने सत्य पर इसीलिए बल दिया कि मनुष्यों में पाशविक भावनाओं का यदि उन्नमूलन न भी हो सके तो कम से कम उनका वेग और प्राबल्य कम हो। और प्रेम, सहानुभूति, सहयोग त्याग, परदुःखकातरता आदि उदात्त मानवीय भावनाओं की शक्ति बढ़े। यह आसान नही है, लेकिन उसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील होना और हर परिस्थिति में उसे न छोड़ना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। सारी विषम स्थितियों के बीच इस काम में सतत संलग्न रहने को गांधी जी मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म मानते थे। गाँधीजी समाज के संस्थागत पुनर्निर्माण से पहले सही दृष्टिकोण निर्मित करना चाहते थे। यदि व्यक्ति की दृष्टि ठीक होगी तो उसका आचरण भी ठीक होगा। सम्यक् दृष्टि वाले व्यक्ति ही समाज की राजनीति तथा आर्थिक संरचना में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकते हैं तथा अन्याय, शोषण, स्वार्थ तथा लोलुपता से मुक्त समाज का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिए गांधीजी सत्य को जीवन में सर्वोच्च महत्त्व देना अनिवार्य समझते थे। अतः गांधी की बुनियादी अवधारणाओं पर विचार करते समय उनकी सामाजिक दृष्टि और मनुष्य की प्रवृत्तियों के बारे में उनकी सामाजिक दृष्टि को ध्यान रखे बिना उन अवधारणाओं का समाज शास्त्रीय विश्लेषण नहीं किया जा सकता। गांधीजी मानते थे कि सत्य का अनुभव मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के बीच ही होता है। वे कहते थे, **"सत्य मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता हैं। सत्य के बिना कोई समाज संगठित नहीं हो सकता।"** इससे स्पष्ट है कि वे सत्य को सामाजिक स्तर पर समाज के संगठन का आधार मानते थे। उनकी दृष्टि में असत्य और धोखे पर समाज खड़ा नहीं होता। यदि समाज में असत्य तथा धोखे का अस्तित्व है तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनके ऊपर समाज का संगठन निर्मित होगा। समाज में असत्य हमेशा विद्यमान रहता है किन्तु वह समाज के गठन का आधार नहीं बन सकता। कम से कम गांधी की दृष्टि में समाज का स्वरूप ऐसा ही है।

× × × ×

समान्यतया जनमानस में महात्मा गांधी का नाम अहिंसा के सिद्धान्त के साथ जितने घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है, उतना सत्य की अवधारणा के साथ नहीं।

किन्तु वास्तविकता यह है कि यद्यपि वे अहिंसा को जीवन के क्षेत्र में व्यवहृत करते थे, किन्तु वे मानते थे कि अहिंसा का लक्ष्य सत्य का अनुसरण करना है। उनके अनुसार सत्य साध्य है तथा अहिंसा साधन है। 'हरिजन' में अपने एक लेख में उन्होंने लिखा था, "अहिंसा साध्य नहीं है. साध्य तो सत्य है।" लेकिन वे मानते थे कि सत्य को प्राप्त करने का अहिंसा ही एक मात्र साधन है। उन्होंने कहा था- "**मानव सम्बन्धों में सत्य की प्राप्ति का अहिंसा को छोड़कर कोई अन्य साधन नहीं है। अहिंसा पर अडिग रहना सत्य से अनिवार्य रूप में जुड़ा है, हिंसा सत्य से किसी रूप में नहीं जुड़ी है। इसलिए अहिंसा पर मेरी निष्ठा है।**" इससे स्पष्ट है कि अहिंसा का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि उसके माध्यम से जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य अर्थात् सत्य की सिद्धि होती हैं। बिना अहिंसा के सत्य का पालन, सत्य का अन्वेषण नहीं हो सकता। इस तरह दोनों के बीच साधन और साध्य की एकाकारता है। यदि सत्य साध्य है तो उसे प्राप्त करने का प्रयास किए बिना उसका कोई महत्त्व नहीं है और उसकी प्राप्ति केवल अहिंसा के द्वारा होती है। अहिंसा ही सत्य को जीवन के लिए सार्थक बनाती है। इस प्रकार सत्य और अहिंसा साध्य-साधन सम्बन्ध में बँधे होने की स्थिति में एक दूसरे से भिन्न भी हैं अभिन्न भी।

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ **हिंसा की अनुपस्थिति** है और हिंसा का सामान्य तात्पर्य है किसी को हानि न पहुँचाना। यों आमतौर पर हिंसा का अर्थ किसी को चोट पहुँचाना या मारना माना जाता है। अतः अहिंसा का सामान्य अर्थ चोट न पहुँचाना या मारने से विरत रहना माना जाता है। किन्तु व्यापक अर्थ में अहिंसा का अर्थ किसी को किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचाना है। गांधीजी ने अहिंसा को व्यापक अर्थ में ही अपनाया। गांधीजी ने **अहिंसा** के दो रूप बताये हैं— सकारात्मक अहिंसा तथा नकारात्मक अहिंसा। नकारात्मक अहिंसा से उनका तात्पर्य है किसी भी प्राणी को शारीरिक या मानसिक हानि न पहुँचाना है। उनका कहना था कि किसी भी अनुचित कर्म में प्रवृत्त या हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति को बदले में हानि पहुँचाना तो क्या उसके प्रति दुर्भावना रखना भी हिंसा है। अतः सभी प्रकार से दूसरे के प्रति दुर्भावना न रखना या उसके अहित की कामना न करना नकारात्मक अहिंसा है। इससे भिन्न सकारात्मक अहिंसा का तात्पर्य सर्वोच्च प्रेम तथा त्याग से है। अहिंसा का यह स्वरूप शत्रु तथा मित्र एवं अपने तथा पराये का भेद नहीं करता। यह अभेद दृष्टि है। सामाजिक स्तर पर अद्वय दृष्टि है। इस प्रकार गांधी ने अहिंसा की अवधारणा को बहुत विस्तार प्रदान किया।

अहिंसा के मामले में गांधी श्रमणपरम्परा के अधिक निकट थे। भारतीय संस्कृति की श्रमण परम्परा जिसमें जैन और बौद्ध दोनां परम्परायें समाहित हैं की एक विशेषता है अहिंसा का तत्त्वज्ञान और उसका व्यापक प्रयोग। गांधी पर इस परम्परा का सबसे बड़ा प्रभाव उनकी अहिंसा की अवधारणा में प्रकट होता है। गांधीजी कर्म और विचार दोनों क्षेत्रों में अहिंसा का विस्तार करते थे। उन्होंने अहिंसा को इतना विस्तृत किया कि प्रायः सभी प्रधान नैतिक गुण उसमें समाहित हो जाते हैं। उन्होंने अहिंसा को क्षमा, प्रेम, स्वार्थहीनता, विनम्रता, सज्जनता, आस्तेय, निर्भीकता, निश्छलता, तथा करुणा जैसे विशेषणों से सम्बोधित किया है। उनकी दृष्टि में झूठ, मक्कारी, धोखाधड़ी छल-कपट, षड्यन्त्र और तुच्छता आदि सभी अवगुण तथा गलत तरीके अहिंसा के विलोम है, अर्थात् हिंसा के रूप है। इस प्रकार अहिंसा को हिंसा के अभाव के रूप में देखा जा सकता है। अहिंसा का महत्त्व हिंसा के सन्दर्भ में ज्ञात होता है। हिंसा के रहते हुए अहिंसा की आवश्यकता है।

गांधीजी के अनुसार अहिंसा के सिद्धान्त को तब आघात पहुँचता है जब मन में किसी के प्रति दुर्विचार या दुर्भावना उत्पन्न होती है, जब झूठ बोला जाता है जब किसी के प्रति ईर्ष्या तथा द्वेष उपजता है। जब किसी की अहित कांमना की जाती है और जब किसी न किसी रूप में अनिष्ट तथा बैर का भाव प्रकट होता है। इस तरह अहिंसा की अवधारणा का विस्तार बहुत दूर तक हो जाता है। लेकिन गांधीजी यहीं पर नहीं रुकते। उनकी नजरों में यदि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु पर एकाधिकार जमाता है जिसकी समूह या समाज को आवश्यकता है तो वह भी हिंसा है। संचयवृत्ति सम्पत्ति या पूँजी पर निजी अधिकार तथा अपने सुख एवं भोग के लिए वस्तुओं के उपभोग एवं प्रयोग से दूसरे को वंचित करना भी हिंसा है। अतएव गांधी की अहिंसा व्यक्ति की संचय वृत्ति और भोगवृत्ति के समूल निराकरण की अपेक्षा करती है। इस अर्थ में अहिंसा को असीम त्याग और धैर्य का पर्याय कहा जा सकता है। जब संचयवृत्ति का अवसान होगा तो त्यागवृत्ति का उदय होगा, जब भोगवृत्त का शमन होगा तो सादे और सहज जीवन का प्रादुर्भाव होगा। यह मनुष्य को अनावश्यक आसक्तियों से मुक्त करता है। मनुष्य आसक्तियों से जैसे-जैसे मुक्त होता जाता है वैसे-वैसे उसमें अवैर भावना विकसित होती है। इसलिए गांधी जी का कहना था कि अहिंसा के अनुसरण द्वारा शत्रु या वैरी के प्रति केवल निरपेक्ष सहानुभूति ही उत्पन्न नहीं होती वरन् एक सच्चे अहिंसक व्यक्ति के लिए शत्रु या शत्रुता का अस्तित्व ही नहीं रहता। अहिंसक व्यक्ति अजातशत्रु होता है।

बौद्धों एवं **जैनों** की भाँति **गांधीजी** भी यह मानते थे कि हिंसा सब पापों का मूल है। उनकी दृष्टि में सभी प्रकार के पाप-कर्म हिंसा के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम है। अतः हिंसा के उन्मूलन का अर्थ है सभी पापों का उच्छेद। मनुष्य के विविध स्वार्थों, संकीर्णताओं तथा दुष्कर्मों से तभी छुटकारा मिल सकता है जब हिंसा से छुटकारा मिले। हिंसा वृत्ति का मूल है अपने को दूसरे से अलग समझने की भावना जिसे **जैनदर्शन** में अत्तावाद की संज्ञा दी जाती है। अहंता से स्वार्थ उत्पन्न होता है और स्वार्थ के कारण मनुष्य केवल स्वहित का ध्यान रखता है, परहित तथा सर्वहित का तिरस्कार करता है। स्वहित में निरन्तर प्रवृत्त रहना हिंसा है। इसीलिए अहिंसा के अनुसरण करने का तात्पर्य स्वार्थ भावना के मूल अर्थात् अहंता के निराकरण के लिए प्रयत्नशील होना। इसे दूसरे शब्दों में आत्म निषेध भी कहा जा सकता है। यदि पूर्ण आत्म निषेध करना सम्भव न भी हो, तो कम से कम दूसरों को अपनी ही तरह या अपनी ही स्थिति में देखा जा सकता है—**आत्मवत् सर्वभूतेषु**।

लेकिन अहंता निवृत्ति या आत्म निषेध की भावना के साथ अहिंसा को जोड़ने का अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए की गांधीजी की दृष्टि में अहिंसा एक नितान्त वैयक्तिक गुण है जिसका महत्त्व केवल व्यक्ति के लिए है, समाज के लिए नहीं। गांधी के लिए अन्य सामाजिक मूल्यों की तरह **अहिंसा** भी एक **सामाजिक मूल्य** है जो सामूहिक स्तर पर एक सामाजिक गुण की तरह विकसित होने की पूरी सम्भावनायें रखता है। उनका तो कहना था कि समाज को बाँधने या उसे एकीकृत करने का वास्तविक आधार हिंसा है। जिस प्रकार पृथ्वी गुरूत्वाकर्षण के सिद्धान्त के कारण अपनी जगह पर स्थित है, उसी प्रकार मानव समाज भी अहिंसा के कारण सम्भव है। इस प्रकार **गांधीजी** अहिंसा को सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठित करते थे। उनका विचार था कि यदि अहिंसा केवल व्यक्तिगत स्तर तक सीमित रहती है तो उसका समाज के लिए कोई प्रत्यक्ष महत्त्व नहीं रह जाता। उनके अनुसार अहिंसा सामाजिक जीवन के हर स्तर में व्यवहार योग्य है। दो घनिष्ट मित्रों के पारिस्परिक सम्बन्धों से लेकर के अन्तंराष्ट्रीय सम्बन्धों तक अहिंसा का सतत् प्रयोग किया जा सकता है। समाज में व्यावहारिक स्तर पर गांधी ने अहिंसा के प्रयोग के **चार स्तरों** की चर्चा की है। **पहला स्तर है** किसी स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध अहिंसा का प्रयोग, उदाहरण के लिए विदेशी शक्ति के विरुद्ध अहिंसक संघर्ष। **दूसरा स्तर है** समाज के अन्दर विभिन्न समुदायों के पारस्परिक झगड़ों में अहिंसा का प्रयोग, यथा साम्प्रदायिक दंगों में अहिंसा का व्यवहार। **तीसरा स्तर है** किसी विदेशी आक्रमण से बचाव करने में अहिंसा का प्रयोग। **चौथा** या अन्तिम **स्तर है** मनुष्यों के निजी

अथवा आपसी सम्बन्धों में अहिंसा का प्रयोग, उदाहरणार्थ परिवार या पड़ोस के के सम्बन्धों में अहिंसक आचरण। इन स्तरों की चर्चा करने के सिलसिले में गांधीजी ने यह अवश्य माना था कि अहिंसा के प्रयोग का सबसे अच्छा क्षेत्र परिवार या आमने-सामने के समूह हैं। इसीलिए वह कहते थे कि अहिंसा का अनुसरण छोटे समुदायों में अधिक आसानी से हो सकता है। उनकी दृष्टि में एक सच्चे और स्थायी अहिंसक समाज का आधार स्वैच्छिक सहयोग पर आश्रित ग्रामीण या लघु समुदाय हो सकते हैं लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनकी दृष्टि में आधुनिक वृहदाकार राष्ट्र-राज्यों या अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों में अहिंसा अव्यवहार्य है। इसके विपरीत गांधी ने काफी विस्तार से बताया है कि राष्ट्र के अन्दर तथा राष्ट्र के बीच किस प्रकार अहिंसा का अनुगमन करके शान्ति, न्याय और समता की स्थापना की जा सकती है। इसी संदर्भ में उनका यह भी कहना था कि अहिंसा कभी शक्ति या सत्ता पर 'कब्जा' नहीं कर सकती, किन्तु उससे अधिक बड़ा काम कर सकती है। वह है शक्ति अथवा सत्ता को प्रभावकारी ढंग से नियन्त्रित तथा निर्देशित करना।

गांधीजी दृष्टि में अहिंसा का जितना महत्त्व एक सैद्धान्तिक धर्म के रूप में है उतना ही व्यवहारिक नीति-धर्म के रूप में भी है। सैद्धान्तिक धर्म के रूप में उनके लिए अहिंसा जीवन-धर्म था। वे कहते थे, "**अहिंसा मेरे जीवन की सांस है।**" वह किसी भी लौकिक या लोकोत्तर वस्तु से अधिक अहिंसा पर श्रद्धा रखते थे। वे अक्सर कहा करते थे कि यदि **अहिंसा** के अलावा किसी दूसरी चीज से मेरा लगाव है तो वह **सत्य** है। साथ ही वह यह भी कहते थे कि मेरे लिए सत्य और अहिंसा अभिन्न है। इस प्रकार अहिंसा उनकी मूलभूत निष्ठा का आधार थीं। उनके अनुसार जो वस्तु निष्ठा और श्रद्धा के योग्य होता है वह सर्वव्यापी और सार्वकालिक होती है। इस कारण वह अहिंसा को मनुष्य के जीवन को इस पहलू में देखते थे और प्रतिष्ठित करते थे। उनके लिए अहिंसा वह विश्वास था जिस पर सारा जीवन टिकता है। अहिंसा उनका आदर्श भी था और विश्वास भी। आदर्श एवं विश्वास रूपी अहिंसा के सिद्धान्त को वे जब व्यवहार जगत में उतारते थे तो वह नीति-धर्म बन जाता था, नीति का निर्धारक पैमाना बन जाता था। उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक जीवन में अहिंसा का आजीवन यथासम्भव प्रयोग किया। राजनीति में उनका एक मात्र उपकरण अहिंसा ही था। उनकी धारणा थी कि **हिंसा** की अपेक्षा **अहिंसा** की शक्ति कहीं अधिक है। वे मानते थे कि अहिंसक संघर्ष में पराजय का प्रश्न ही नहीं उठता। राजनीति के क्षेत्र में हिंसा को पूर्णतया स्वीकार करके उन्होंने अहिंसा को प्रतिष्ठित किया। वे न तो **कौटिल्य,**

भीष्म या मनु जैसे प्राचीन भारतीय विचारकों से सहमत थे कि राजनीति में हिंसा किसी न किसी रूप में अपरिहार्य है और न वे मैकियावेली, नीत्से, मार्क्स, सोरेल, पैरोटो, जैसे पश्चिमी विचारकों की तरह मानते थे कि राजनीति से हिंसा को अलग थलग नहीं किया जा सकता। गांधी हिंसाविहीन राजनीति की बात करते थे। उनका यह कहना था अहिंसा की राजनीति कोरा सिद्धान्त नही है वह प्रत्यक्ष व्यवहार भी है। किन्तु वह जानते थे कि अहिंसा का व्यवहार कठिन है जबकि हिंसा का व्यवहार आसान है। वह राजनीति सहित सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में अहिंसा को प्रतिष्ठित करना चाहते थे।

× × × ×

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि गांधीजी ने सत्य और अहिंसा की अवधारणाओं के माध्यम से सामाजिक मूल्यों तथा आदर्शों की एक ऐसी संरचना निर्मित की, जो उनकी दृष्टि में मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन को अधिकाधिक द्वन्द्वमुक्त या संघर्षमुक्त बनाकर न्यायपूर्ण, शोषणविहीन, शान्तिमय तथा सच्चे अर्थों में मानवीय बनाती है। वह सरल, मुक्त और ऋजु जीवन के द्रष्टा थे। ऐसा जीवन सत्य और अहिंसा के मूल्यों पर ही निर्मित हो सकता है। इन सिद्धान्तों पर उनकी अटूट आस्था एक सामाजिक-नैतिक आस्था थी। गांधीजी पूरे सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को मूलतः नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित करना चाहते थे। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि उनका नेतृत्व प्रधानतः नैतिक नेतृत्व था। मैक्सवेबर ने समाज में दो प्रकार की नैतिक दृष्टियों के अस्तित्व की चर्चा की है। उनमें से एक है अन्तिम उद्देश्यों की नैतिकता और दूसरी है उत्तरदायित्व की नैतिकता। वेबर का कहना था कि नैतिकता के इन दोनों प्रकारों का एक दूसरे से अलगाव समाज तथा राजनीति के लिए घातक होता है। वेबर यह देख रहे थे कि आधुनिक समाजों में और विशेषकर राजनीति में नैतिकता के इन दोनों रूपों का तेजी से ह्रास और अलगाव होता जा रहा है, जो अशुभ है। गांधीजी ने वेबर को तो नहीं पढ़ा था लेकिन वे वेबर से कहीं ज्यादा और कहीं ऊँचे उठकर उस अलगाव को देख रहे थे और उसके समाधान का उन्होंने महान प्रयास किया। उन्होंने अपने चिन्तन तथा कर्म से उक्त दोनों प्रकार की नैतिकता को अभिन्न बनाने की कोशिश की। वे इस युग के एकमात्र चिन्तक तथा नेता थे जिन्होंने जीवन के अन्तिम मूल्यों और व्यावहारिक सामाजिक जीवन

के आदर्शों को एकीकृत किया। इसीलिए कहा जाता है कि उन्होंने राजनीति के आध्यात्मीकरण का प्रयास किया था। सत्य और अहिंसा की उनकी अवधारणाओं का इसी सन्दर्भ में महत्त्व है। गांधी की दृष्टि में यदि सत्य समाज व्यवस्था का मूल आधार है तो अहिंसा सत्य पर आधारित समाज निर्माण का एकमेव साधन है।



Gandhian Experiments in Context to our Present day problems

Dr. K. C. Misra

Gandhi ji has been a great reformer, through his saintly behaviour he brought forth remarkable changes in the religion and social thinking of masses. Some of his ideas and experiments are outlined below :

1. ***Education***. Revolutionized the British pattern of education by suggesting the system of 'Basic Education' to our youth. He thought that education should be profession oriented. His ideas regarding education at Primary and High School level are correct and provide solution for the present day meaningless experiments in our educational policies. Science and Biology curriculum of High School is very much lopsided.

2. *Rural uplift*. Education in primary and secondary stages should be character and religion oriented. Twentieth century is the age of urbanization and industrialization. The rural life is completely changed. Human Environment is very much changed in Urban & Industrial Complexes. Problems of congestion has changed the quality of man.

Gandhi's idea of rural uplift will certainly solve many of the environmental problems arising out of our modern urbanization. In order to divert the rush from rural to urban

areas the Govt. and private efforts should be directed to encourage people to live in and develop the villages. Incentive by way of providing finances and materials to educated persons be given for settling in villages. Urban aminities be also provided by having good schools, roads, drinking water and recreation grounds in and around the villages. Mushroom growth of buildings and small scale industries in the CABAL towns be stopped and villages around (say 30 km. radius) be developed by the Town authorities by providing finances and facilities etc. out of their own resources.

Similarly Industrial Complexes should also be advised to develop the villages around them (5-10 km. radius) and construct residential quarters at least 1-2 km. away from the factory site.

3. *Self service and character building*. By his own example of simplicity in living he has shown us the path. People should not feel shy doing their own work (even cleaning of latrins and sweeping the house and its frontage). In rural oriented civilization the way of living will lessen the stress on human mind and will certainly improve the quality of life. Chances of diseases caused by environmental stresses will be reduced.

4. *Social and cultural uplift*. Gandhiji brought radical social reforms by mixing with common folk and removing untouchability. He also believed in opening the doors of temples for all. He believed in our cultural heritage and encouraged cultural uplift.

5. *Religion*. He enouraged each and every religion and lived a religious life. He believed in prayer and service which

are foundation stones of character building Through 'Bhajan' and 'Satsang' he preached social, moral and religious reforms. Present day Indian irrespective of cast and creed is still god-fearing and we can even now educate them and eradicate superstition and many ills from the society, through 'Satsangs'. Such meets organized by the private or govt. efforts should be encouraged and made usual feature in rural areas. Part of Adult Education Fund be diverted for this purpose.

6. *Small scale industries*. Need-less capital, energy and space but provide employment to larger number of persons. Chances of environmental pollution and population overcrowding are reduced. Individual talents are revealed.

See "Small is Beautiful" by Shoemaker

7. *Agriculture*. Gandhiji believed in 'green revolution' along with 'White-revolution'. He had the idea of collective farming and utilizing organic manure.

Farming to him was cattle and labour oriented which is ecologically sound, as mechanized farming and chemical fertilizers have serious ecological consequences.

8. *International thinking*. He preached universal brotherhood, non-voilance and settlement of conflicts, through negotiations and mutual trust. Through his efforts he made India free without any bloodshed.

In the present situation if the people and Government follow Gandhian principles, India will once more see Rām-Rājya and set an example for others to ease the International situation prevailing now.

Gandhi : From 'God is Truth' "Truth is God"

Sri R. R.DIWAKAR

In the very beginning, I would like to remove a misunderstanding which is likely to arise on account of the title I have chosen. It was not so much a transition or change from *'God is Truth'* to *'Truth is God'* but a generous accommodation for those who do not in their approach to reality, believe in *'God'* with all the connotations which that word *'God'* has acquired through the ages. *Mohan Das* born of a mother who was a great dovotee of God, and of a father who used to enjoy talks about different religions with devotees of the respective religions, His belief in God as a benign supreme power at an early age was but natural. His belief in truthfulness from his boyhood is well-known and often illustrated by stories which relate to incidents in his school days and later. It was in 1902 when he was in *South Africa* that he said that, come what may, he must stick to truth at any cost. His faith in returning *'good for evil'* started with a flash when he read a verse by a Gujarati poet *Shamalbhat*, which said, There is no virtue in returning good for good, real virtue lies in 'doing good for evil'. This was the seed, if one can say so, which sprouted and grew into a mighty banana tree of *Ahimsa*-Non-Violence-Love. Thus belief in God, belief in Truth, belief in the best way of attaining Truth grew with him from strength to strength, and Truth

and Non-violence, Satya and Ahimsa became the twin inseparable stars, the sheet-anchor of his eventful life. During the course of his lifelong quest of Truth, the law of life and human living and action, he found that there were honest and sincere seekers of Truth who could not subscribe to belief in God as understood by religious people; he came to the conclusion that there would be and there were persons who could honestly deny God, but there could not be any person who could deny Truth to which one in his own person, is witness with the tools and faculties vouchsafed to him by nature. He, therefore, declared that Truth is God, the highest value in life, and thus was able to universalise his intuitive perception of oneness of being-of Existence. His belief in *God* continued to the end of his life and at the same time he could raise the value of Truth itself to the highest degree. Here is an humble attempt to understand this position of *Gandhi* in connection with *God* and *Truth*, the interpretation of the relation between these two concepts and the implications of it for ones own personal life as well as for human affairs. *Gandhi* by believing in both equality, not as a blind believer, but as one who always tested even the highest authorities even in religion, by the tools provided by nature, namely, reason, natural morality which seeks the good of all, and experience, has provided a common ground and meeting point for the whole of humanity to think and feel and act for the universal good of mankind. It was natural for *Gandhi*, who had always the destiny of man on earth as his greatest concern, to try to include and embrace the whole of humanity in his concepts and thinking.

Now with this background, let me see in brief Gandhi's idea of *God*, As was always usual with Gandhi, though he had to use current words when he could not think of coining new ones, he had special meanings for the same. The current meaning of the word God in many of the religions of the world is well-known; he is the creater of the universe and everything in it, with equal power of maintenance and destruction. He is the law-giver, he is the dispenser of justice and equally the *Lord of Mercy*. He is omnipotent, omniscient and omnipresent. His will prevails everywhere; always and in all matters and all the time. He is beyond time and space and no laws apply to him. He is of the nature of spirit and beyond description by words, though words have to be used for communication. There is a versified work called *'Vishnu Sahasra-nāma'* in Sanskrit which describes God in one thousand words. They may be said to cover exhaustively the attributes of God current in different religions. There is no end to symbolisms, either in words or in graphic figures, to indicate God or the Supreme Power. The sound *OM* for instance, in *Sanātana Dharma* indicates the Supreme Power in the abstract, beyond all attributes, dualities, and all descriptions of any kind whatsoever. Gandhi has described his conception of God in many ways, on various occasions. But one thing common to all descriptions in that, not a blade of grass moves except at His *commond* and by *His will*. This does not however mean mechanistic determinism nor capricious ad-hocism. According to *Gandhi*, the first and most important basic thing is, God exists. In his broadcast talk to U. S. A., he begins with the two significant monosyllables, '*God is*'. To Gandhi, God is Life, God is Love, God is Law, God is Light and God is Liberation or *Mukti*. The question often asked is whether Gandhi believed in a personal God.

He said that God is not a person. At the same time he said, God is available as a person if one invokes *Him* as a person. This means, God is neither personal nor impersonal. He is beyond these man-made dualities, But man, when invokes God as a person, he makes his presence falt as a person. When Gandhi was asked as to the meaning of prayer, and when the prayer is for a specific purpose under some particular circumstances, *Gandhi* is said to have replied, prayer is a communion by a devotee with the highest and mightiest power that be, and it is as if there is a dialogue. In the three talks I gave long age on the topic, '*Gandhi the spiritual Seeker*', I have pointed out some signficant facts in this connection, Gandhi never tried of saying that 'seeing God face to face' was his goal in life. When asked if he had seen God, he said 'not yet', but he added, that he did not remember to have done anything except 'in the presence of God'. Self-realization and God-realisation are used as synonyms in the dictionary of spirituality. On the significant occasion of his undertaking a fast in *Yerawadā Jail* in 1932, *Gandhi* has described in his own word his experience. He says that his mind and heart were ful of excitement and agony about the Communal Award which the *British* Prime Minister had announced conceding separate electorates to *Harijans*, that is the untouchables. At night at about eleven O' clock on that day, he said, he heard 'a voice' as distinct as any voice could be, first as a distant voice, then far nearer and that voice decided his determination to fast unto death on that issue. Then he says a kind of infinite calm and peace descended on him and he slept soundly the rest of the night. People are likely to call this a kind of hallucination, a fantasy and so on. But to Gandhi it was an unforgettable experience with the totality of his being, in which it could be

said, every single cell of his body was involved. In common parlance of *Yoga* and mysticism such an experiecc is a fact of life and is available to what are called '*audio-mystics*', as distinct from '*video-mystics*' Of the several *Gita* and *Upanishadic* texts Gandhi read, he pointed out that "*Ishāvāsyam Idam Sarvam*" embodies in a concentrated form the very essance of *Sanātana Hindu Dharma.* He went to the extent of saying that even if all other Hindu scriptures are destroyed, Hinduism lives till this one Mantra is alive—'All this (the universe) is the very abode of the Lord'. This too clearly. indicates Gandhi's idea about God. While the above mentioned ideas give us a good view of Gandhi's conception of God, he was quite liberal as regards the conceptions of others. His attitude reflected the Vedic approach which says, '*Ekam Sat Viprāh Bahudhā Vadanti*', Reality is one, people call it by different names. He himself, for instance, was fond of '*Rām-nām*', the name of Rām, the eighth incarnation of *Vishnu.* He seldom visited temples though he was particular that Hindu temples ought to be thrown open to every *Hindu*, be he a Harijian or an 'unnamable', God appears to Persons in the form in which they invoke him—this is a psychological and psychic truth.

I have given a bare outline of Gandhi's concept of God and thc belief he had. The concept of God by its very nature is bound to be dynamic as it evolves with the person or the group of persons who hold by the concept. It can be partially compared to the ideal of perfection The nearer we approach the idea of our perfection the further it recedes and we are allured to follow it to eternity. Similarly in the case of the concept of *God*, the more we think and feel that we have a full grasp of the concept of *God*, new vistas open

up, because God is Infinity itself and there cannot be an end or a final concept. That is why the purer and deeper the consciousness of the seeker of God, the mightier and nobler does concept of God become. Infact, the concept of God in its very nature has to be a personal one and its evolution has to depend on the spiritual evolution of the person concerned. There cannot be any greater violence to the concept of *God* than institutionalising it, and providing it with a straight-jacket without complete freedom for individuals constituting the fraternity. I remember *Gandhi* having said that the concept of God and the relationship between man and his Maker be left best to each person for full and natural growth in the light of his or her reason and inner and intimate experiences, which are holy and sacred by any measure. Being baffled and amused as well as intrigued at the multiplicity of *Hindu Gods*, the *great British* playwright and thinker of eminence is said to have remarked that the most relieving feature of the wilderness of gods and goddesses in India is that they are all referred to *'One God Almighty'* and the consciousness of unity and integrality is never lost.

Some writers and thinker persuade themselves that Gandhi's life, thinking and action are oriented in belief in God, is relegious in essence, and charismatic in its influence over people who belive him. Therefore there is lake of rationality and also of universality. Much of what he thought and did, they say, cannot be relevant in the modern world in which such beliefs are not accepted by the bulk of the people and by the intelligentia. Even some of the sympathetic writers think that the acceptance of *Satyāgrah* as a way of life and as method of *resistance* of evil and injustice when necessary, requires a kind of religious belief

in *God.* They seem to forget that *Gandhi* went about in Truth and in 'Experiments with Truth' and that he offered Satyāgrah not only to 'the believers' in God but to the whole of humanity as 'a panacea for all ills' man is subject to. He did not exclude *Buddhists,* who do not believe even in a permanent *'Soul'* of man. Nor did he want to deprive the atheists, or radical rationalists, agnostics, sceptics from the use of *Satyāgrah,* which in its utter simplicity means "adherence to and or insistence on Truth" even at the cost of life. What he required in the followers of Truth was *Ahimsā, Non—violence, love,* even for the opponent.

We have seen that *Gandhi* believed in the importance and sacredness of *Truth* since his boyhood. As he grew, he began to believe in God and understand the importance of the concept of God, in relation to himself as a person and in relation to the world around him. But blind faith in anything was never one of his weaknesses. One who loves truth and seeks truth cannot believe in anything, much less in God, as he becomes constitutionaly habituated to questioning about the truth of things. It is only after such persistent questioning, after applying his mind assiduously to the problem of existence and the roots of being as becoming, and after some experience of the presence of some supreme power behind and beyond the universe of our sense-experience, that he began to assert that God is Truth. It means that this wonderous, beautiful, magnificient world is not merely a fantasia or an imaginative peotic creation, but it has an orderliness and some law which regulates everything, from the speck of dust under our feet to the stary heavens and galaxies in the heavens and cosmos. God meets us everywhere, in every thing and all the time

as intelligent, blissful Energy, of the nature of consciousness, *Spiritually* and *philosophically* speaking, *Sacchit Ānand* is the usual designation by which the ultimate Reality is known. *Sat* means that which exists, Self-existent Being. *Chit* is supreme self-consciousness. *Anānd* is suprenal delight, joy abounding. These are not three separate existences but one integral existence—Supreme self-existent, Self-conscious infinite potential and eternal delight. Creation is self-expression of the potential, perfect manifestation out of joy and for joy and in joy. Participation in this joyous, sportful Self-expression of God without any sense of ego, reducing ones self to zero, and with a sense of complete non-attachment (*anāsakta*) is the *Dharma* of each person. This is 'seeing God face to face'. This is self realization and this is the righteous ambition of each human being who is in quest of the truth being, truth of living and the law of life.

When Gandhi averted and declared that God is Truth, he did not do so out of respect for *tradition*, or because it is fashionable to declare ones belief in *God*. The full significance of his declaration lies in the fact that he had not only known and thought of God but had experienced God's omnipresence by his total being, every cell of his body, by his thinking and reasoning faculty, by his emotional and aesthetic self, by his moral sense, and by his whole spiritual consciousness. His belief was the result of his rational conviction as well as his experience, not only in moments of prayer and meditation but even as he spun on his *Charkhā* and led vast masses of men and women in the struggle for India's independence, Even God's existence had to satisfy the criteria of *Truth*, the satisfaction of all the tools of knowledge with which man is endowed. It is only then that

the knotty problem of existence is cleared, all doubts are resolved and all the impediments in the way of knowing and realising the reality are removed, making way for the *illvmination*, *enlightenment*, or *Sambodhi* as *Buddha Bhagwān* put it. This shows how meticulous Gandhi was about the value of truth; God himself had to pass through the test of Truth.

Gandhi won his God through the criteria of *Truth*, by the evidence of all the tools of knowledge. But how can one expect all people to be so patient, so rational and pains-taking. It is so easier to believe in God as matter of routine or straight away deny the existence of God. Candhi came across many person denying God. He was not necessary for them, nor inevitable. One can do without Him. Some went to the extent of preaching that belief in God was harmful, it came in the way of human effort to change for the better. Many turned fatalists in the name of *God.* Many others cursed God; if at all He was there. why this imperfect and miserable world ? Some people declared that God was dead by the twentieth century, if at all he was there before. Some high intellectuals said science can explain everything and can solve all problems, why owe allegence to an unknown and unseen God who seems to be absent-minded anyway, in many matters. *Nikita Kruschev,* the Russian dictator who visited India in 1955, told me when he came to *Bihar,* that he had sent a lady *astronant* in the heveans to find out if *God* was there'. There was *Gora,* the archatheist of *Vijayawāḍā* who believed in Truth and Non-violence but not in God. The problem which faced *Gandhi* was, how to include every honest human being, even a denyer of God, in a solid phalanx of men and women to

march towards the great destiny of mankind, a destiny of peace, harmony and happiness as is the trend of the urge of the evolution of man on earth.

Gandhi found the solution in the simple formula; Many deny God, none can deny Truth to which one is himself witness. So, he said, '*Truth is God*'. As long as Gandhi spoke about God, it was familiar ground, even though the word '*God*' meant different things for different people. One aspect was common and that was, God was the supreme power and the highest reality. But by declaring that 'Truth is God' he lifts us from our ancient moorings of theism, theology and all they mean, and ranks us afresh with every seeker of Truth, with radical thinkers, with rationalists and so on. Truth, arrived at after observation of facts, after controlled experiments is the 'god' of modern science. Laboratory is the temple of scientists, and the test-tube is the sanctum sanctorum. *Gandhi* too had a scientific approach in arriving at 'God,. His laboratory, his experiments were with Truth itself, several saints & spiritual seekers were witness to the finding of 'God', the supreme reality. But when he found people denying 'God., he was same and said, well, let us begin afresh; we are sure to come to the same conclusion, that Truth itself is the highest value in life and pursuit of it is worth ones whole life; and if found necessary, one should hold ones life cheap in that pursuit. To seek Truth, to find and see Truth, to declare Truth to try to live Truth and establish Truth in life and daily living was after all Gandhi's passion throughout. He pursued the path of *Truth* as earnestly and persistently as he pursued his search for *God*. The terms, *Truth* and *God* were synonyms of each other for Gandhi. When Gandhi

said, 'Truth is God' some must have exclaimed, Gandhi is bringing back 'God' through the back-door. Nothing of the kind was intended nor planned. Truth of ones own total experience, by employing all the tools of knowledge, cannot be denied. To deny it would be to deny oneself, to deny something to which one was witness with total awareness. Gandhi has named such Truth, arrived at in this way as God; that is 'God' immanent, 'God' operating as Law, the process of nature, of cosmos or of cosmic law, the *Ṛitam* of the *Vadic Rishis*, the *moral* order of the universe; one may not call such Truth as 'God' but one cannot object to Gandhi's calling it God. One may simply say such Truth is scientific truth, but it is Truth alright, and is the highest value, as every thing exists, lives, moves and has its being in the cosmos as per that Truth, that law, that regulatory orderliness which is its own, it is inherent, it is built-in and not imposed from outside.

For *Gandhi* to say that 'Truth is God' was easy, and he gained immensely by putting himself right with those who denied God, and with the scientists who are after experimental truth. But that has made a world of difference to all others if one examines the implications. When one is in search of God, one naturally turns to all the sources of knowledge of God, the religious scriptures, the Saints, the philosophers, the god-men and so on. But when Gandhi raises the status of Truth-both *transcendental* and *immanent*-and instals Truth on the pedestal of God, every individual seeker of Truth is called upon to fall back on his own resources and be an ardent scientific seeker of the truth of things. As regards 'Truth Transcendental' there need not be much controversy as all will have to agree that it is, in the very nature of things'

undescribable' and beyond normal experience of the present-day human being. But about mundane truth, truth of daily life, there would be and are differences, not only between different persons and groups of persons, but even in one individual's mind, there are differences from day to day and from time to time about many a thing that affect our lives. Just as in the case of 'freedom' every one is free, no doubt. But freedom has always to be limited and regulated by equal freedom to the 'other'. Similarly everyone is free to arrive at his own 'truth' by the tools he is invested with by nature and enviromment, but equal freedom has to be given to the 'other'. It is in this respect that Gandhi has made the greatest contribution by declaring that Ahimsa-Non-violence, Love should be our sole, singular, and unexceptionable guide in asserting ones own 'truth', and in ones attempt to live and establish ones own *'truth'* as the norm for others. One should be willing and ready to suffer oneself for ones own *'truth'* lest the *'truth'* is on the *'other'* side. To impose by force or fraud or coercion or any other means ones own *'truth'* on the *'other'* is anathema to Gandhian conception of 'truth', and its votaries. The propagation and establishment of 'truth' has to be through love and what love dictates. The observance of this law of love lifts man from the category of the brute and takes him to the domain of mankind. *To Gandhi*, observance of the law of Non-violence in the propagation of 'truth' of ones own finding was as important as the finding of 'truth' itself. But that is a subject by itself and consideration of it takes us to a vast field of thought on *Ahimsā* Culture and to the real evolution of man from his present status to what could be called supermanhood or the next higher stage towards divinity.

To revert to the theme of *'Truth is God'*, I should say that today, as we look around us, we find that spirituality, religious sanctions, moral considerations, altruistic approaches and attitudes are at a discount. An aggressive type of ***materialistic hedonism*** in the name of science and technology has taken hold of the industrially developed as well as developing countries. It is not science and technology which are at fault. They are immoral and neutral, morally speaking. It is the human psyche which is off its balance and has lost its heart to sense-urges, to narraw selfishness and inordinate love-lust of power over property, possessions and persons. The sociologist of the century, ***Pitrim Sarokin*** in his ***'Reconstruction of Humanity'*** which he has dedicated to the 'Immortal ***Mohandās Karamchand Gāndhi'*** has exclaimed in anguish that humanity has a future only if man becomes more altruistic, and cares more for the 'other' than for oneself, what we call in India, ***Parārtha*** as different and opposite to ***Swārtha***. Even science today is pointing in that direction as the great physicist ***Fritjof Capra*** has declared in his great book ***'Tao of Physics'***. He says that the 'truth' of the oneness and organic integrality of the universe as realised by the spiritualists and mystics of the East is attested to by the latest findings of ***Quantum Physics.*** He calls upon the scientists to apply to our lives, this realisation of the 'oneness of the universe which includes not only our natural environment but also our fellow human beings'. He regrets while saying, 'Thus most of today's physicists do not seem to realize the philosophical, cultural and spiritual implications of their theories'. He further remarks, that 'a radically different social and economic structure will be needed', if a dynamic balance is to be

achieved, and the harmonious inter-relatedness observable in nature is reflected in our lives and systems of organisation. In a futuristic mood, he says, 'The survival of our whole civilization may depend, upon what we can do to be in tune with the Truth of Spirituality and the Truth of Science.

About two thousand years ago there was in *Isreal* a man called *Jesus.* He preached the *Truth* of his findings, with love in his heart and in his whole being and demeanour. He was betrayed by his own men as a seditionist in religion and handed over to the *Roman* rulers. *Pilate,* the Roman authority asked him what was it that he was preaching. *Jesus* replied 'The Truth'. What is Truth ?' Queried jesting *Pilate* and stopped not for an answer. He crucified *Jesus,* the *Christ.* *Pilate* as well as humanity had to wait all those centuries till another man of the same type gave the answer, to the question what is Truth, saying *'Truth is God'.* He too sealed his answer by another bleeding martyrdom. It is now for humanity to watch its steps.'

Ahimsā Culture for Human Survival

Śri R. R. Diwakar

Ishāvāsayam Idam-Sarvam (*Isha Upanishat*). In spite of death life persists, inspite of hatred love persists, and inspite of darkness light persists : Anon.

Let me in the very beginning explain the connotation and full significance of the words I have used in the title of this talk.

Ahimsā is an ancient *Sanskrit* word and originally meant only: '*non-killing*'. It must have come into existence as a reaction to 'killing', and as a response to a feeling of aversion, distaste, repugnance to the act of 'killing' fellow human beings. Perhaps this was a first step in '*Ahimsā Culture*'. As in the case of many other Sanskrit word, such as '*Yajña*', '*Yoga*'. in course of time, Ahimsā gathered a lot of connotation and came to mean 'non-injury' to others, by thought, word or deed. In *Jainism*, it means non-injury not only to human beings but to all living creatures, and Ahimsa is the highest and primal duty for a jain. Apart from the connotations the word gathered in the course of its use through about twenty-five centuries or more, when *Gandhi* began to use it as the twin of *Satya* or Truth, and as the best means of knowing, realising and establishing Truth in life and daily human living, the word gathered still more deeper the word 'Non-violence'. Both these two words though

negative in form, have developed positive meanings and are identified with sympathy, love, identification with the 'other', service, suffering, sacrifice for the 'other' or for the Truth, for the object and or cause towards which we adopt an attitude of Ahimsa. Once when I proposed to *Gandhiji* to adopt the word *'love'* for *Ahimsa*, he said that though Ahimsa is the purest kind of love, the word 'love, has other meanings, So, he said, he was satisfied with the word Ahimsa, since he had grow with it, but he had no objection if others preferred the word 'love, in the christian sense. Thus in the present context Ahimsa means an attitude of constructive love towards all, with a view to the good and all-sided development, *Sarvodaya* of the whole of humanity.

I am using the word *'culture'* here in its widest possible comprehensive sense to include spirituality, religion, philosophy, socio-economic and political systems, literature and arts, customs and manners, in fact every activity of human beings in which they have exceeded and added and or improved upon more animal existence. *Ahimsā-Culture* would therefore mean an orientation to human activity and human affairs which is dominantly charged with love and altruistic attitudes towards all.

By '*human survival*' I do not mean mere survival for the sake of survival, here survival is not of much value if it does not lend itself to the progressive expansion and elevation of the human consciousness, culminating in blissful illumination of the highest order. I have used the words 'human survival', as the background today is one of a universal apprehension of '*human extinction*, in the wake of a nuclear holocaust, which is the logical result of the suicidal policy, man is following.

I have tried to approach the subject from two different but non-contradictory and complementary angles, namely, *intuitionistic* and *rational* or *Logical* and *pragmatic* angle. '*Ishāvāsyam Idam Sarvam*', 'all this existence that is, that moves, that lives and has its being in the vastness of infinity is the inseparable abode of the one supreme power self-existent, self-luminous, Infinite Energy with protein potentialities'. This quotation from the *Isha Upanishat*, in fact, this first *Mantra*-potent word of the *Upanishat* stands for the intuitionistic approach. The second quotation beginning with 'Inspite of death...' represents the rational approach. Death, hatred, and darkness have been very much there, they are still there to eradicate life, love, and light. And yet life, love, and light continue to live and prosper. That is proof positive that they have an edge over their negative opposites. Negatives have no positive existance. Human survival and along with it, life, love, and light survival as a step in human evolution for further progress and greater enlightment.

I would also like to explain here what I mean by the term '*evolution*'. It is a biological term and has to be explained in terms of life and all that it means. Life started as a unicallular being; but life went on developing into multicallular organisms and today man is the apex. The characteristic of this development, which is called 'evolution' is that while different types of energies and functions have gone on increasing, bringing in its work more complexity and greater organisation, there is no entropy, no loss of orderliness. The organism as a whole, say, that of man, is one single entity. howsoever complex and multicallular it might be, whatever the number variety of cells and however complicated the

inter-actions going on among the cells. There is a marvellous integrality and orderliness in the functioning of the *organism.*

This evolution is even now on, and it can never stop; and since man has developed not only a higher type of consciousness but also self-consciousness, and what we call conscience as well, we are in a position to study the elementary urges behind the phenomenon of this evolution, It may not be possible for man to arrive at total knowedge and full understanding of the urges of evolution. But even a partial understanding and right perception of the urge gives man a chance to participate in his own evolution, which has been hitherto going on, on its own, driven by natural cosmic forces, If the evolution of the *Homo-Sapiens* from his predecessors has been by a kind of mutation, it is on the cards that a superior human- being may also come into existence by another mutation. The endeavour of men at the present stages of evolution is however, to explore if he can consciously participate, even in a very small degree, in his evolution to a higher level of *conscious existence*.

In addition to the biological urges of survival and security, man hankers after peace as an opportunity and precondition for his normal, proper development of *body*, vital energies and *mental faculties*. Here peace does not mean the termasic lethargy, nor does it means the peace of sleep or the grave; it does not mean the peace which is vainly sought after through tranquilises and drugs and drinks. It is creative peace which stimulates man to higher effort and which makes it possible to develop culture of every type. In fact, all *culture* is the development and expression of the multifaced potentialities in human beings. Next to peace

of the above type, man hungers after love, harmony, and friendliness in society as the gateway to joy and happiness and which fulfil the urge for happiness.

If we cast even a casual and cursory glance and survey the prehistory, protohistory and history of mankind for the past several millenia, we shall find that it is through long periods of peace, through loving friendliness and cooperation, that man has been able to build the present great civilization, attain the high levels of culture in various parts of the world, and develop extraordinary skills in works and highly efficient organisation. This achievement is observable both in individual advance and development as well as corporate existence and *civic living*. A few thousand years ago, might be ten or fifteen or fifty thousand according to different speculative historians, were cave dwellers, cannibals, headhunters, petty tribals, scattered over in various localities and always in desperate search of food and shelter. And today we are billions settled in huts and hamlets and heavenly mansions all over the many continents, a few of us flying like birds with supersonic speads, communicating with each other as if we are next door neighbours though we are speaking a thousand languages not known to each other. We are sharing however inequitably our goods and commodities skills and crafts, our sciences and technologies. But an achievement higher than all these is the serious attempt to forge links and build bridges among peoples of different religions and races in order to integrate the whole of *humanity* into a single Family of man *'Vishwa Kutumba'*, the d ream and insight of the ancient *Vadic Ṛishis* of India. At the top of all these achievements is the sincere and heartfelt attempt to share the cares and anxieties, the fears

and hopes, the apprehensions and optimisms of peoples across oceans and continents through global organisations like the *UNO*, the *UNESCO*, the *WHO*, the *FAO*, the *ILO* in which people deliberate collectively and try to find out common remedies for ills common to humanity as a whole.

This does not mean, that as against peace there have been no wars, against attempts to build there have been no disasterous destructions, as against love and friendliness, there has been no hatred and utter enimity, as against co-operation there has been no obstructive activity, and as againts attempts to establish harmony and happiness there have been no jeelous and murderous activities to spread poison and misery. But the point is inspite of the negative and anti-forces, the positive forces evolution have been able to make headway and kindle in the doubting mind of man a flame hope for the future.

After listening to what I have said above and having noted the edge that life has against *death*, love has against *hate* and light has against *darkness*, one would ask relevantly a question as to why one should now be anxious and diffident about the ultimate triumph of life, love and light over death hatred and darkness. The answer is, it is neither a question of diffidence nor despair, but it is the question of the responsibility every human being has to bear, bearing in mind the present precarious human condition which is, on all counts, and in the estimation of the most intelligent objective observers, on the brink of the greatest disaster that can befall man his *civilization* and *culture*, as well as all life on this *small planet*. The responsibility to avoid, avert and once for all annihilate the possibility of

any such suicidal disaster rests squarely on the shoulders of man as it is he who has allowed things to drift to the extent that he is now facing extinction. He is now self-aware. He has come of age. He knows that man is born for joy and happiness, and sees, nay, experiences that he is everywhere in misery of his own making. He must now consciously, deliberately and with an adamantive will summon the total forces of love and cooperation, of knowedge and understanding to defeat all anti-life and anti-*love* *forces*. It is no longer enough to allow the forces of *love* and life and light to operate by themselves, as dumb and silent natural forces. The urges of evolution are already there but now it is time that man participates in the evolution towards higher and nobler levels of conscious existence, of creative peace, ascending symphonic harmony and universal joy and happiness of all, which was the dream as well as the ideal of *Gandhi*. *Ahimsā-Culture* in this context would mean not the passive, dorment, and occasional expression of the great and noble and self-denying emotion of love, but that cultivated and well-nourished culture in which every activity of the physical, vital, intellectual, aesthetic; moral and spiritual energy of human being is informed and instinct with love and overflows to reach through identification every being on earth.

I know that '*Ahimsā-Culture*' is a rare expression, if not a new one. But in view of the critical and dangerous phase of evolution through which man is passing, it needs to be made not only current but also popular. Today, violence overt or covert, open or secret, on all levels, individuals, social group, national, and international is obviously playing havoc and embittering all human relations. Self in a narrow and

parochial sense, self-interest in terms of possessions and or power is dominent as against all other interests, Exploitative injustice and constructive violence as that of the haves and have—nots is the rule rather than an exception. Hegemonial ambitions, arms race; piling up of atomic weaponry notwithstanding the awareness that atomic weapons are not defensive and atomic wars are '*unwinnable*' the total annual military budgets bulging to 500 billions, are all portents of a global magnitude. If man at this critical juncture fails to mobilise his *spiritual resources*, his commitment to *truth* and *love* for all, and neglects to utilise his rational faculties, there would not be any other opportunity, since humanity would itself have disappeared, *Gandhi*, with his unerring instinct and intuition in this matter pledged himeself to Truth and non-violence. *Satya* and *Ahimsā*, or rather, to Truth through non-violence alone, Satya through Ahimsa alone. His appearance on the human stage at the time that the most suicidal and devastating atomic bomb was in the making is historically also very significant. *Gandhi* might well be considered as the high priest of *Ahimsā-Culture* and all that it connotes.

Man today is in transition. He is at that cross roads. He has travelled far enough from the beast that he was and has been, towards manhood on his way to godhood, if that word can signify a very high level of superior truth-conscious existence. His has not being an easy career. He has tried hard to probe into the mysterious powers of matter and harnessed atomic energy. The tragedy is that today he is a slave of his ambitions for power, and is utilising science and technology, in addition to their other uses for human comfort and convenience, for the purpose of domination over his

brethren. It is this aspects of his activities which is jeopardising human survival. No amount of sophistication, talk of ones own defence, balance of power and terror, treaties *Salt I* and *II* can hide or camouflage the naked fact of the danger in which humanity finds itself today. *Gandhi* is not alone in calling *halt* to this madness and advising human beings to take to the path of love and friendliness. It was not he who wrote the Constitution of the *United Nations Organizations*. World without war' was a call given by the war-lords and the significant sculpture in front of the building of the UNO. of the sword to be beaten into a ploughshare, is a representation of the great saying in the Bible of the christians.

It is true that *Gandhi* gave Ahimsa-culture its shape and form by not merely preaching but by scruplously practising it throughout his eventful life and finally sealing its authenticity by his own martyrdom. But he often said that the principles he stood for and the culture he embodied were both as old as the hills. Even so, he added something to the principles and that was the method, the manner, and the detailed technique of making the principles operative. That something was *Satyāgrah*, adherence to *truth* at the cost of ones life but with *love* in ones heart for even the wrong-doer and the aggressor.

Now let us see what are the sources and origin of this culture of almost 'aggressive love', if such an expression can be appropriate, its strength and sanction, its rationale, and finally its roots in the science of today.

To the *Vadic Ṛishis*, the sun was the symbol of all power and the source of not only all life but also of all consciousness

and intelligence. They invoked in their congregational prayer the sun-god, *Savita*, to inspire and guide them. They declared that there is only one Truth, one Being, one God, ***Ekam Sat***, and people call it by different names. To them the whole universe was one family, *Vasudhaiva kutumbakam*. They therefore sang, let us march together, let our minds work together, let our aspirations be the same. These are all expressions of oneness and loves, the binding force of all life and the source of all light and wisdom. Long before *Jainism* which holds *Ahimsā* as the highest religion and duty - *Ahimsā Paramo Dharmah* - there was what was called the *Śramaṇa culture* which gave high value to non-killing. The *Buddha* through the army of missionaries, the *Bhikkus*, whom he created, preached not merely negative 'non-killing' but the positive aspects – *Karuṇā* (compassion) and *Maitri* (friendliness). He taught the conquest of anger by non-anger, hatred by love and his teaching spread over a great part of the world behind the borders of the *India*. *Jesus*, the *christ* was the prince of peace. Love, faith and charity are the fundamentals of christianity. *Islām* means Peace and the very common greetings mean peace-Sallam. To go back to the *Vedas* and *Upanishats-Ishāvāsyam Idam Sarvam*, by one supreme spiritual insight declares the omnipresence of one pervading conscionsness and through it hearkens to all to live a life of unitive communion in which the endeavour to achieve the good of all includes the good of the individuals of the living fraternity.

Faith, however, would be blind faith if it is not tasted by *reason* and *experience*. Man finds himself in the midst of constructive and destructive energies cum forces, nature or

the cosmos. Life and death, health and disease, love and hatred, peace and war, calmness and anger face us every moment in life. The question before a rational human being is, with which force should he ally himself. The plain, simple, direct reply this question is that man ought to strengthen the forces of construction as he wants and wills to live a healthy harmonious, integrated, happy life, both as an individual and as a community. The destructive forces are anti-life and to help them is obviously suicidal and against the interest of man. The evolutionary urge in man two dictates to him to shine to live and promote the potentialities inherent in man. This is the raison dectre of *Ahimsā-Culture.*

No other name is greater than that of *Einstein* in the modern world of science. He was a man of peace and admired *Gandhi* to the extent of saying that, secracely would people believe that a man called *Gandhi* in flesh and blood walked on this earth. He regretted that his own discoveries in science were utilised for foging atomic weapons of mass destruction. It is said he wept when he learnt that such weapons were being manufactured. But he is gone, leaving his message of peace and good-will to the distracted world. *Dr. Robert Oppenheimer* who was responsible for making the first fuisionable atomic bomb in USA wrote relentingly in his diary about the bomb, that it was 'born' for the annihilation of the world. Being an admirer of the *Gita* he quoted it in is diary saying, '*Kālosmi Lokakshayakrit Pravriddhah*'. He tried to delay out of remorse the coming of the *Hydrogen Bomb* by two years, after the explosion of the *Hiroshima* and *Nagasaki* bombs. And he suffered for it. He too is gone along with the qualms of

conscience which ought to move the hearts of scientists and technologists to desist from participating in the murderous game which politicians play with impurity and that too in the name of the people and their nations. Let us now listen to a living top physicist *Fritjof Capra*, the auther of 'The Tao of physics'. The most tragic thing that has happened to modern science and technology as well as to political science is that they are innocent of all moral considerations, which really are the very bedrock of human society and individual behavior and mutually beneficial relationship. *Quantum physics* and the quest of the last particle has led scientists to his conclusion that the world of matter as well as of life and consciousness is one integral organic whole in which every other particle in the universe, be it of so called inert matter, of breathing life or knowing-thinking-feeling consciousness. He calls for a radically different social and economic order which will actively reflect the *dynamic interrelation* and interaction of the seemingly separate constituents of the universe, so that real harmony and happiness can result for humanity as a whole. *Capra* avers that the survival of the whole of human civilization may depend on whether we can bring about such a change, so that we can experience the wholeness of nature and learn the art of living with it in harmony and happiness.

What other magic spell but love, and *Ahimsā-Culture* founded on it, can achieve this miracle and who can be our surer guide but *Gandhi* ?

'सत्य, अहिंसा और उनके प्रयोग' संगोष्ठी का संक्षिप्त विवरण

अखिल-भारतीय खादी ग्रामोद्योग, लखनऊ के तत्वाधान में आयोजित विश्व-विद्यालयीय स्तर के समूह परिचर्चा का संयोजन ३० तथा ३१ मार्च १९८० को संस्कृत-विश्वविद्यालय के **तुलनात्मकदर्शन** विभाग द्वारा सम्पन्न हुआ। इसमें मुख्य रूप से तीन विषयों पर उपस्थित विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया गया। वे थे—(१) भारतीय दर्शनों की दृष्टि से गांधी विचारों का विवेचन (२) गांधीजी के प्रयोग आधुनिक सन्दर्भ में (३) सत्य और अहिंसा गांधी जी के दर्शन की दृष्टि में। इसमें काशी के गांधी विचारों के सुप्रसिद्ध तत्त्व चिन्तकों के साथ-साथ तीनों विश्वविद्यालयों के दर्शन, समाज शास्त्र, धर्मशास्त्र विभागों के विद्वान तथा प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भी भाग लिया।

समूह परिचर्चा के स्वागत भाषण में संयोजक **श्री राधेश्यामधर द्विवेदी** ने संस्कृत विश्वविद्यालय की परम्परा की दृष्टि से गांधी विचारों का आकलन करते हुए गांधी जी के शिक्षा, समाज सेवीधर्म, राजनीति एवं अर्थनीति परक प्रश्नों का मुख्य तीन मुद्दों के सन्दर्भ में विवेचन करने पर जोर दिया तथा कहा कि आज की परिस्थिति में गांधी जी पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी हैं और स्वदेशीपन की उनकी भावना की दृष्टि से यह विश्वविद्यालय उनके विचारों के अधिक अनुकूल है। अतः यहाँ पर गांधीजी के विचारों को परम्परा के सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया जाना चाहिए तथा विद्वानों के विचारों से सहायता ले कर गांधी-अध्ययन के लिए यहाँ एक फोरम बनना चाहिए। हमारी परम्परा का अध्यात्म के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है और गांधी जी एक अध्यात्मवादी राजनेता तथा सन्त थे। उनका विश्लेषण एवं उनके बताये मार्गों पर चलना परम्परावादी लोगों के लिए अधिक अनुकूल होगा। यदि परम्परागत अध्यात्म तथा गांधीजी का व्यावहारिक पक्ष साथ में मिला दिया जाय तो पुनः इस समय को ध्यान में रखकर नयी सजगता लाई जा सकती है। और गांधीजी को विश्वविद्यालयों में भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए अखिल भारतीय शान्ति सेना के अध्यक्ष **श्रीनारायण भाई देसाई** ने कहा गांधीजी के विचार अध्यात्म में प्रतिष्ठित थे तथा उनका प्रत्येक विवेचन वैज्ञानिक था। उनके अध्यात्म को उनकी सामाजिक वैज्ञानिक दृष्टि के साथ संजो कर देखने की आवश्यकता है उससे उसको हटाने पर रिक्तता ही हाथ लगेगी। विश्वविद्यालयों में और विशेषकर परम्परावादी विश्वविद्यालयों में गांधी विचारों पर चिन्तन, मनन तथा कार्य सम्पन्न होना चाहिए, पर भारतीय विश्वविद्यालयों में गांधी जी पर बहुत कम काम हो रहा है। वैसे विश्वविद्यालयों की चहार दिवाली में गांधीजी बन्द नहीं किये जा सकते। गांधीजी के साथ अपने जीवन का सम्बन्ध बताते हुए उन्होंने गांधीजी के खादी कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय भाषागतनीति की चर्चा की तथा कहा—गांधीजी ने जो कहा और जिस रूप में वह थे, वह ही गांधी विचार दर्शन है। उनकी विचारधारा का सार मुख्य रूप से तीन ही है (१) उनका आदर्शवाद (२) रचनात्मक कार्य (३) सत्याग्रह। ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। गांधीजी व्यक्तिगत गुणों को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाते थे अर्थात् सबमें उन मूल्यों की प्रतिष्ठा करते थे। इसी क्रम से वह संस्कृति के जरिये क्रान्ति का संचार करते थे। यह संचार उनकी साधना के जरिए होता था। वह साधना पथ सत्याग्रह का था। इस प्रकार रचनात्मक लक्ष्य के लिए सत्य पर आरूढ़ हो संघर्ष का मार्ग अपनाते थे।

गांधी युग से आज के युग में एक परम्परा (जेनरेसन) का गैप है। पर यदि आने वाले कल में गांधी उपयुक्त लगते हो तो बर्तमान सन्दर्भ में भी गांधी का मूल्य है। विषमता समाप्त हो और दासता भी न रहे, यही गांधीजी का मन्तव्य था। उनकी रचनात्मक प्रक्रिया से यह प्राप्त किया जा सकता है। आज के विश्व में गांधी के मन्तव्यों से परायापन एवं प्रदूषण को समस्या को भी दूर किया जा सकता है। मानवीय संकटों की जड़ में यह परायापन की भावना है। इस परायेपन से दूसरे व्यक्ति के प्रति ममत्व घटता है। दिल में दूसरे के लिए ममत्व न रखना ही परायापन है। विज्ञान ने दूरियाँ समाप्त की हैं पर संकटों को समाप्त नहीं किया है। वह एक जगह के प्रदूषण को दूसरे जगह पर वैज्ञानिक साधनों से ही संक्रमण कर देता है। अतः विज्ञान ने सहूलियत के साथ खतरा भी दिया है। परायेपन से पूँजीवाद विकसित होता है। परायापन से ममत्व का अभाव भी बढ़ता है। गाँव में हर एक, हर एक को नजदीक से समझता है उसमें सांस्कृतिक एकता होती है। यह सांस्कृतिक एकता पड़ोसीपन में है, गांधी इसके हिमायती थे। गंगाजल की पवित्रता से कालरा के कीटाणु समाप्त हो जाते थे पर अब वैज्ञानिक कारखानों

के प्रदूषण से गंगा का पानी इतना प्रभावित हो गया है कि अब वह बात नहीं रह गयी। आज शहर की हवा भी प्रदूषित है फैक्टरियों के धुवें के कारण। गांधी को न समझने वाले औद्योगीकरण के हिमायती लोगों के द्वारा यह समस्या खड़ी की जाती है। क्योंकि कुटीर उद्योग का संरचात्मक कार्यक्रम उनको रास नही आता। वह कताई, खेती तथा स्वयं की सफाई से प्रदूषण नहीं रोकना चाहते। वह फैक्टरी-नुमा विश्वविद्यालय की शिक्षा को बुनियादी तालीम के साथ जोड़ते थे, उनकी शिक्षा आदर्श के साथ व्यवहारपरक भी थी, अतएव वह कहते थे जिस शिक्षा से प्रीति, मुक्ति, अभिव्यक्ति का संचार नहीं होता, वह शिक्षा शिक्षा नहीं है। वह समाज सेवा, जन जन शिक्षण तथा स्वदेशीपन पर जोर देते थे।

एक बात और कहूँगा, अध्यात्म की। गांधी जी जब प्रतिरोध करते थे तो अहिंसा को अपने लक्ष्य का साधन मानते थे, वह व्यक्तिगत जीवन में इसका पालन करते थे और सामाजिक जीवन में उसकी परीक्षा। गांधी-अहिंसा को निष्क्रिय एवं सक्रिय रूप में देखा जाता है पर वह उसकी प्रतिष्ठा जीवन में करके उसको सामाजिक स्वरूप प्रदान करते थे, बार बार उसके परीक्षण के बाद वह अपने व्यक्ति गत अहिंसक साधन को शुद्ध कर पाते थे। यह परीक्षण हमारे प्राचीन संस्कृति के पुराने पवित्र नैतिक मूल्यों का था। इनका उन्होंने प्रयोग किया और वे प्रयोग सफल रहे। समाज का कोई व्यक्ति यह प्रयोग करके देख सकता है। इस सन्दर्भ में उसके जीवन में परिष्कार संभव होगा और वह अस्पृश्यता, संकीर्णता आदि से ऊपर उठेगा। वह हमारी परम्परा की आध्यात्मिकता को प्राप्त करेगा। जिसे गांधीजी ने प्राप्त किया था। इन कतिपय विचारों के साथ मैं इस परिचर्या गोष्ठी का उद्घाटन करता हूँ।

प्रो० राजाराम शास्त्री भू०पू० कुलपति, काशी विद्यापीठ ने सभा की अध्यक्षता करते हुए कहा—सच में तो गांधी दर्शन को शास्त्रीय रूप देना आवश्यक है और यह काम बाकी है। गांधीजी का दर्शन उनके साध्य-साधन-सिद्धान्त में निहित है। और यह सिद्धान्त उनकी आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और वैयक्तिक जीवन पद्धति में भी अनुस्यूत है। साध्य-साधन का सिद्धान्त सार्वभौम सिद्धान्त है। ये दोनों परस्परापेक्षी हैं। दुनियाँ के ऐतिहासिक विश्लेषण से गांधीजी ने यह प्रतिफल निकाला कि कोई भी युद्ध अन्तिम युद्ध नहीं है और उससे स्थायी शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं है। अतएव यदि स्थायी शान्ति अभीप्सित है तो अहिंसात्मक साधन ही इसको उपलब्ध करा सकते हैं। जिस साधन से जितनी वस्तुनिष्ठ सत्य की उपलब्धि होती

है वह साधन उतनी ही मात्रा में शुद्ध माना जाता है। पर यह सम्भव नहीं है कि हर स्थिति में साधन एवं साध्य की पूर्णता प्राप्त हो सके और गांधीजी स्वयं अपनी अहिंसा को पूर्ण नहीं मानते थे। क्योंकि बीच-बीच में अपनी तात्कालिक उद्देश्यों की विफलता में गांधीजी कह उठते थे, यदि मेरी अहिंसा पूर्ण होती तो ऐसा न होता। वह प्राप्त साध्यों की मात्रा देख कर साधनों की मात्रा निर्धारित करते थे। पर प्रश्न यह है कि यदि साध्यों के सन्दर्भ को छोड़ कर साधनों का कोई महत्त्व नहीं तो गांधी दर्शन में साधनों पर अधिक महत्त्व क्यों दिया जाता है। सम्भवतः गांधी जी ने परम्परा से प्राप्त गीता के विचार पर कि फल तो साध्य है जो हमारे हाथ में नहीं है, कर्तव्य मात्र पर बल दिया। और इस सन्दर्भ में साधनों के विकास पर बल दिया कि कार्यानुकूल साधनों का आविष्कार किया जाय। पर यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि गांधीजी शुद्ध साधनों के प्रयोग पर ही अधिक बल देते हैं। इसीलिए बाद में कर्म क्षेत्र में साध्य और साधन एक बनने लगे और तभी गांधी-दर्शन में कहा जाता है कि अगर साधन अहिंसा है तो उसका फल भी अहिंसा ही होगा। अतएव अहिंसक एवं शान्तिमय साधनों से प्राप्त सामाजिक रूप भी अहिंसात्मक एवं शान्तिमय होगा।

वयोवृद्ध तथा विद्याव्यासंग के लिए सदा सन्नद्ध रहने वाले गांधीवादी विचारक **प्रो० मुकुटबिहारीलाल** ने कहा—गांधीजी धर्मनिष्ठ थे, वह आस्थापूर्वक धर्मों के सद्‌गुणों को ग्रहण करने पर बल देते थे। नैतिकता को धर्म का अंग मानते थे। मानव कल्याण के लिए समर्पित जीवन वाला व्यक्ति ही सामाजिक प्रेरणाओं को परिपुष्ट करके नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास कर सकता है। वह मानव मात्र में एकत्व स्थापित कर समत्व की प्रतिष्ठा भी कर सकता है। गांधीजी ऐसा करते थे वह स्त्री-पुरुष की समता के समर्थक थे, तथा नैतिकता की दृष्ठि से स्त्री को पुरुष से सबल पाते थे। संक्षेप में यदि कहें तो गांधीजी का विचार अद्वैतवादी था। ईश्वर तथा धर्म पर अटल विश्वास, सत्य, अहिंसा, आत्मनियन्त्रण, आत्मोत्कर्ष, आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, मानवमात्र की एकता और समता, देश बन्धुत्व पर आश्रित उदार राष्ट्रीयता मानवव्यक्ति तथा मानव श्रमका आदर, सब समाजोपयोगी व्यवसायों का समान पद और गौरव, सत्याग्रह द्वारा अन्याय का प्रतिरोध तथा न्याय की स्थापना, भरपूर काम तथा जीवन निर्वाह योग्य जीविका का अधिकार एवं समाजोपयोगी श्रम का कर्तव्य, सर्वोदय से प्रेरित स्वतन्त्र सहकार पर आश्रित आर्थिक व्यवस्था, मुनाफे के बजाय जन-कल्याण और उपयोग के लिए उत्पादन, कर्तव्य परायणता, लोकसेवा, सर्वोदय, सबसे सौजन्य एवं सौहार्दपूर्ण लोकतान्त्रिक व्यवहार, ग्राम स्वराज्य से समन्वित विकेन्द्रित लोकतन्त्र, आत्मनियन्त्रित स्वतन्त्र

सहकारिता पर आधृत राज्य विहीनसमाज, न्यासिता की भावना से परिपूर्ण व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन गांधीजी के जीवन दर्शन के मुख्य तत्त्व हैं।

श्रमणविद्यासंकाय के अध्यक्ष **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय** ने गांधीजी को शास्त्रीय अर्थ में धार्मिक नहीं मानते हुए कहा--गांधीजी सिर्फ नैतिक थे। उन्होंने नीति से भिन्न धर्म को नहीं माना। इसलिए वह धर्मों की नैतिक एकता के अन्वेषक थे। वह परधर्म की रक्षा को स्वधर्म पालन में आवश्यक मानते थे। शास्त्रवादी धर्म के विपरीत वह श्रद्धानुरोधी थे। श्रद्धा में नम्रता होती है। नम्रता का अर्थ है समर्पण। समर्पण बुद्धि से अनेकता में एकता का भान होता है, यह भक्ति का परिचायक है। इस श्रद्धा के आवश्यक एवं निर्देशक तत्त्व सत्य एवं अहिंसा हैं। वह कहते हैं कि सत्य और अहिंसा से ही उत्कृष्ट धर्म का बोध होता है। वह ईश्वरवादी थे। सत्याग्रह उनका मूलमन्त्र था। सत्याग्रह ही परमेश्वर के साक्षात्कार का मार्ग है! सत्य के लिए अहिंसा अनिवार्य है। अहिंसा का प्रयोग व्यक्तिगत ही नहीं समूह गत है। निराग्रह वृत्ति के द्वारा अहिंसक व्यक्ति सत्य का आकलन कर कर्म पर प्रवृत्त होता है। गांधीजी इस अर्थ में समस्त संसार को अद्वैतनुखी मान कर ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद की स्थापना करते हैं।

एक परम्परावादी विद्वान् आचार्य श्री **रामप्रसाद त्रिपाठी**--(वेदवेदांग संकाय के अध्यक्ष) ने कहा--गांधीजी के उपदेश भारतीय परम्परा में आगत व्रतों की भांति हैं। सत्य का नैतिक विवेचन गांधी ने किया है। उन्होंने सत्य के साधन एवं साध्य स्वरूप का आकलन करते हुए कहा--सत्य के कथन में कठोरता होती है पर जैसे ईसा ने धूर्तों को जानते हुए दया याचना की, उसी प्रकार सत्य का प्रयोग शिष्टतापूर्वक होना चाहिए। हमारी परम्परा भी यही बतलाती है। परानुग्रहेच्छा से गांधीजी ने सत्याचरण को बतलाते हुए ईश्वर तत्त्व के रूप में सत्य को माना है। सत्य तभी सत्य बन सकता है जब कि उसके प्रयोग में हिंसा का योगदान न हो। कहा भी है--"सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा, दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्"।

इसी प्रकार एक अन्य परम्परावादी विद्वान आचार्य **पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार** (प्राचीनभारतीयराजशास्त्र और अर्थशास्त्र विभाग) ने कहा--दार्शनिकों ने अहिंसादि को महाव्रत कहा है पर समाज यदि अहिंसात्मक पहलू से न चलने योग्य हो, तो भारतीय राजनीति हिंसा को भी वैध मानती है। दण्ड विधान से दौरात्म्य समाज में टिक नहीं पाता। काशीराज दिवोदास को पुरुषार्थ सिद्धि के

आधार पर अहिंसा से विरत होने का उपदेश दिया गया था। गांधीजी की अहिंसावृत्ति उनकी वैष्णवपरता में है। वैष्णव अहिंसा पर ही पूर्ण बल देते हैं। इस प्रकार भारतीयराजनीति समाज में सर्वाङ्गीण रूप से मित्रभाव स्थिति होने पर अहिंसा को उपयुक्त मानती है। अहिंसक स्थिति में मन की संयतता पर बल दिया जाता है।

काशीविद्यापीठ के शोध छात्र श्री वीरेन्द्रकुमार सिंह ने कहा--गांधीजी अहंभाव के त्याग पर बल देते थे, अहंत्व की कल्पना में भी हिंसा है। वह स्वार्थ, अहंकार तथा भौतिक भोगों की लोलुपता को छोड़कर अपने व्यक्तित्व का विसर्जन विराट के हित में कर देने में अपना विकास एवं निःश्रेयस मानते थे। उन्होंने आगे कहा—गांधी जी की दृष्टि से अहिंसा दुर्बलों का अस्त्र नहीं है प्रत्युत निर्भयता या आत्मबल से अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है। बुद्ध, महावीर, ईसा की अहिंसायें महात्मा गांधी में मौलिक बन गयीं। परम्परागत सैद्धान्तिक अहिंसा गांधी में व्यावहारिकता प्राप्त कर ली।

तुलनात्मकधर्मदर्शन के आचार्य प्रो० महाप्रभुलाल गोस्वामी ने कहा— हिंसा के दो पक्ष है बाह्य तथा आभ्यन्तर। जैन लोगों ने इसे द्रव्य हिंसा एवं भाव हिंसा के रूप में भी आकलित किया है। क्रोधादि की प्रेरणा से रहित हिंसा बाह्य या द्रव्य हिंसा है और कलुषित चित्त से उत्पन्न हिंसा आभ्यन्तर या भाव हिंसा है। गांधीजी दोनों से बचते थे। गांधीजी ने उपर्युक्त परम्परा के आधार पर अपने शत्रु से वैसे ही प्रेम किया जैसे अम्बरीष ने दुर्वासा के वचनों का कलुषित भावजन्य हिंसा होने पर भी पालन किया। लालालाजपतराय के प्रश्नों का उत्तर देते हुए गांधी जी ने कहा था—मैं जन्म से वैष्णव हूँ, अतः बाल्यावस्था से ही मुझको अहिंसा की शिक्षा मिली है। अहिंसा का अर्थ शरीर अथवा मन से किसी प्राणी को कष्ट न देना है।

काशी विद्यापीठ में दर्शन विभाग के प्रोफेसर डा० रघुनाथ गिरि ने गांधीजी के सिद्धान्त एवं व्यवहार की मीमांसा करते हुए कहा—गांधीदर्शन में सत्य पर अधिक बल दिया गया है। सत्य को ईश्वर तथा स्वरूपतः सिद्ध माना गया है। दर्शन की दृष्टि से यह अद्वैत तत्त्व, तथा समस्त ज्ञान का आधार है। गांधीजी ने इस सत्य को आस्था एवं विश्वास क्रिया एवं व्यवहार का आधार बनाया। गांधीजी ज्ञान, वाणी, एवं आचरण में इसका पालन करते थे।

अहिंसा को अपरिहार्य मानते हुए योगदर्शन के व्यक्तिगत अहिंसा की प्रतिष्ठा को गांधी जी ने सामाजिक प्रतिष्ठा दी। वह मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए अहिंसा के शस्त्र को ढाल के रूप में अख्तियार करते हैं।

गांधी-दर्शन का एक तीसरा पहलू सर्वोदय की भावना का विकास करना है। इसमें वह जातिविहीन, वर्गहीन, आर्थिक विषमता रहित समाज के निर्माण की बात करते हैं। गांधीजी का यह सर्वोदय परम्परागत रूप में 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के क्रम में अवश्य है पर इसकी व्यावहारिकता संदेह से रहित नहीं है।

उनका साध्य-साधन का दार्शनिक मत भी आदर्श प्रतिमानों एवं प्रक्रियाओं के व्यावहारिक आयोजन के बिना अधूरे प्रतीत होते हैं।

हिन्दूविश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के रीडर डा॰ **रेवतीरमण पाण्डेय** ने गांधीजी के विचारों का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा--गांधी ने जीवन के आन्तरिक मूल्यों का दैनन्दिन जीवन में कैसे प्रयोग हो? इसकी व्याख्या की है। गांधीजी में उनके पूर्व के सभी अहिंसक अध्यात्मवादी सन्तों का समावेश है। वह अद्वैत स्थित के लिए आत्मशुद्धि पर बल देते हैं। गीता की स्थित प्रज्ञता को उन्होंने पूर्ण शुद्धता के रूप में लिया है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिये एकादश आश्रम व्रतों को आवश्यक मानते हैं। गांधीजी ने आत्म शुद्धि के मार्ग से ईश्वरास्था में प्रवेश किया। जिसे वह 'सत्यस्य सत्यं' कहते हैं। उन्होंने ईश्वर सत्य है इसका प्रतिलोम करके सत्य ईश्वर है, यह स्वरूप प्रदान किया है। इस विवेचन में गांधीजी शास्त्रीयता का प्रतिभान कराते हैं पर वह ज्ञानी की अपेक्षा भक्त अधिक हैं। इसीलिए वह सर्वजन के कल्याण या सर्वोदय के लिए कर्म मार्ग में चल पड़ते हैं।

संस्कृत विश्वविद्यालय के शोध छात्र **श्री सुभाषचन्द्र तिवारी** ने कहा—गांधीजी के विचारों का आकलन दो मुख्य विन्दुओं से किया जाना चाहिए, वे हैं (१) गांधी के प्रयोग तथा (२) उन प्रयोगों का आधुनिक सन्दर्भ। गाँधीजी का सबसे बड़ा प्रयोग सत्य और अहिंसा का है उन्होंने इन व्यक्तिगत सिद्धान्तों को लोकसिद्धान्त का रूप दिया तथा लोक को इस पर चलने के लिए बाध्य किया। गांधीजी की बुनियादी शिक्षा भी एक नवीन प्रायोगिक शिक्षा थी। बुनियादी शिक्षा में प्रत्येक व्यक्ति की आत्मनिर्भता एवं स्वावलम्बन पर जोर था। स्वावलम्बन पर अधिक जोर देने के कारण ही वह चारित्रिक विकास पर बल देते थे और विना इसके स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं मानते थे। आज के सन्दर्भ में कोठारी आयोग

ने बुनियादी शिक्षा को जैसे उचित माना है वैसे ही नवयुवकों के चारित्रिक पतन को रोकने में गांधी के सिद्धान्त काफी कामगर हो सकते हैं। विकेन्द्रीकरण के हिमायती गांधीजी की बातों पर वर्तमान सरकार का ध्यान न होने से वह केन्द्रीकरण की ओर बढ़ रही है। यह प्रवृत्ति खतरनाक दीखती है तथा लोकतन्त्र की घातक बन सकती है।

काशी विद्यापीठ के समाजशास्त्र विभाग के प्राध्यापक **श्री रमेशचन्द्र तिवारी** ने सामाजिक नैतिक दृष्टि से गांधी के सत्य और अहिंसा की अवधारणा का विवेचन करते हुए कहा—गांधीजी दर्शन प्रणाली के प्रवर्तक नहीं हैं। पर उन्होंने भारतीय संस्कृति का धार्मिक सांस्कृतिक विरासत के रूप में वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर विश्लेषण किया तथा पश्चिम की उदारमानवतावादी परम्परा का उपयोग कर भारत में नये प्रकार का अहिंसक आन्दोलन प्रस्थापित करते हुए सत्य साध्य को प्राप्त किया। गांधीजो ने कहा—राजनीति को नैतिक आधार देना अत्यन्त आवश्यक है। नैतिकताविहीन राजनीति बहुत हीं अनिष्टकारक है। क्योंकि समाज में धर्म एवं परम्परा के नैतिक मूल्यों का महत्त्व घटता जा रहा है। उनका मुख्य काम राजनीतिक संस्थाओं का आध्यात्मिकीकरण है। राजनीति को धर्म के साथ रहना चाहिए। मनुष्य के आन्तरिक आध्यात्मिक नैतिक तत्त्व ही धर्म है। अतः धर्म सम्प्रदाय से पृथक् है। नैतिकता का आधार सत्य है। सत्य का तात्पर्य अनेकान्तवादी दृष्टि सम्प्रयुक्त विचारों से है। अतएव सत्य यदि व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन से जुड़ा है तो वह देशकाल को परिधियों से पृथक् लोकातीत एवं अनुभवातीत भी है। गांधीजी सत्य के पुजारी थे तथा अहिंसा को उसके लिए आवश्यक मानते थे। वे कहते हैं कि मैं मोक्ष का इच्छुक हूं पर यदि मोक्ष का सत्य और अहिंसा से विरोध है तो मुझे मोक्ष नहीं चाहिए।

अहिंसा की व्याख्या करते हुए श्री रमेशचन्द्र तिवारी ने कहा—अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है हिंसा की अनुपस्थिति या किसी को किसी प्रकार की हानि न पहुंचाना। पर भारतीय इतिहास में गांधीजी की अहिंसा श्रमण परम्परा के नजदीक है। श्रमणों में सभी पापों का मूल हिंसा मानी जाती है अतः अहिंसा के उन्मूलन का अर्थ है सभी पापों का उच्छेद। जब मनुष्य सभी को आत्मवत् समझ कर हिंसा का उन्मूलन करता है तभी वह अहिंसक बन सकता है। अहिंसा समाज के लिए आवश्यक है। गांधीजी ने इसका चार स्तर पर प्रयोग किया था सामुदायिक झगड़ों को दूर करने में, स्थापित व्यवस्था के विरोध में, विदेशी आक्रमण से बचाने

में तथा मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों में। अहिंसा छोटे समुदाय से प्रारम्भ होकर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय तक चलती है। अहिंसा धर्म एवं नैतिक सद्गुण है। अहिंसा का मूल्य गांधी की दृष्टि में हिंसा की शक्ति से लाख गुना अधिक है।

गांधीजी समाज को नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित करना चाहते थे। वह उद्देश्य को नैतिकता परक मान कर उत्तरदायित्व की नैतिकता को भी स्वीकार करते थे। इसीलिए उन्होंने राजनीति को आध्यात्मीकृत करने का प्रयत्न किया। सत्य यदि समाज व्यवस्था का मूल आधार है तो अहिंसा सत्य पर आधारित समाज निर्माण का साधन।

काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा. के. सी. मिश्र ने बताया कि गांधीजी आज के युग के बहुत बड़े सुधारवादी नेता थे। उन्होंने अपने व्यवहार से धर्म एवं सामाजिक लोगों के चिन्तन में अद्भुत परिवर्तन लाया। यह उनके निश्छल मानवीय समस्याओं के समाधान की विधि से ही बन पाया। वह बुनियादी शिक्षा, ग्रामीण उद्योग, नैतिकोत्थान, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान, धर्म एवं कुटीर उद्योग तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित के चिन्तन के द्वारा मानव जाति का भला कर सके।

अन्त में गोष्ठी का समापन करते हुए **प्रो० बदरीनाथ शुक्ल** (कुलपति, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी) ने कहा—गांधीजी इस युग के महान विचारक, सन्त तथा महात्मा थे। हमारे यहां शास्त्रों में लिखा है कि व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करना चाहिए—स्वधर्मे निधनं श्रेयः। इसका मूलतः तात्पर्य है अपने कर्तव्यों का निर्वाह। जो जिस व्यक्ति का समाज में कर्तव्य निर्धारित हो; उसका पालन आवश्यक है। यह ही दायित्व की भावना है। शास्त्रों में धर्म का कर्तव्य अर्थ में उद्बोधन है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को सार्वभौम धर्म कहा गया है। इन धर्मों के बाद भी कुछ विशेष कर्तव्य समाज में निर्धारित होते हैं। मनुष्य का यह दायित्व है कि वह सार्वभौम धर्मों का पालन करते हुए अपने अपने दायित्वों का निर्वाह करे। इसी अर्थ में हमारी वर्णव्यवस्था तथा आश्रमव्यवस्था का विधान था। गांधीजी उक्त पाँच सार्वभौम धर्मों में से सत्य और अहिंसा पर विशेष बल देते थे। 'सत्यं वद' यह धर्म में अक्सर कहा जाता है। इसका तात्पर्य है मनुष्य जो कुछ कहे, सत्य कहे, तथा जो कहे, उसको करे। सत्य की प्राप्ति तभी सम्भव है जब कि यथार्थ का बोध हो। यह बोध सार्वभौम धर्मों के अनुपालन से होता है। अहिंसा का अर्थ है हिंसा न करना। धर्म का अर्थशास्त्रों में विधिपरक भी होता है निषेधपरक भी। यहाँ अहिंसा का अर्थ हिंसा की

विरोधी क्रिया से है। हिंसा से जीव निष्प्राण होता है। जिस क्रिया से दूसरे को बाधा हो, वह हिंसा है इसलिए किसी अन्य के काम में बिना बाधा डालते हुए अपना काम अहिंसक दृष्टि से करते जाना ही अहिंसा है।

भारतीय धर्मों में यह अहिंसक व्यवहार सम्भव बन सकता है और इससे समाज परिवर्तन भी सम्भव है। क्योंकि यहाँ के धर्मों में बिना दूसरे का समूलोच्छेद करते हुए अपने पवित्र कार्य से दूसरे के ऊपर विजय प्राप्त किया जा सकता है। विजय प्राप्ति के मार्ग सत्य और अहिंसा के रूप में प्राचीन काल में थे तथा उन्हीं को गांधीजी ने व्यावहारिक रूप दे कर इनके पुनरुद्धार के स्वरूप का संस्मरण दिलाया। इसलिए गांधी विचारों का अध्ययन होना चाहिए। यदि उनका परम्परा के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाय तो वे और अधिक प्रभावी हो सकते हैं। सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालय इस सन्दर्भ में गांधी विचारों के अध्ययन का अधिक उपयुक्त स्थान है।

इस गोष्ठी के विवरण को छापते वक्त अन्त में दो निबन्ध श्री आर. आर. दिवाकर जी के दिये गये हैं। ये निबन्ध गांधीविद्यासंस्थान, राजघाट, वाराणसी में गांधी मीमोरियल लेक्चर्स में दिये गये थे। प्रो० राजारामशास्त्री उन दिनों वहाँ के निदेशक थे तथा उनके सुझाव पर ये निबन्ध इसमें दिये गये हैं। इसकी स्वीकृति के लिए संस्थान के निर्देशक डा० के० के० सिंह धन्यवाद के पात्र हैं। प्राचीन परम्परा से निकलने वाले आधुनिकतम मूल्यों के विषयवस्तु का संकलन करना मैं अपना कर्तव्य मानता हूँ और एतदर्थ परिश्रमपूर्वक इस कार्य को सम्पन्न करने में एक आनन्दानुभूति समझता हूं। इसीलिए इस विचार परिचर्चा को सफल करना हम अपना कर्तव्य मानकर करते हैं। प्रो० शास्त्रीजी के सुझाव एवं निर्देश इस सन्दर्भ में बहुमूल्य हैं।

राधेश्यामधर द्विवेदी
संयोजक
गांधी-दर्शन परिचर्चा
सं० सं० वि० वि० वाराणसी



भारतीय दर्शनों का नया वर्गीकरण

[ख]

यह संगोष्ठी २५, २६ अप्रैल १९८१ में सम्पन्न हुई थी।

वर्गीकरणमार्गेण शास्त्राणि निखिलान्यपि ।
विज्ञानविधिना सम्यक् प्रस्फुटन्ति प्रयोगतः ॥

शास्त्रज्ञानमशेषेण विज्ञाननिकषायितम् ।
विशिष्टप्रतिभोन्नीतं चमत्काराय कल्पते ॥

शास्त्रीयाभिनवा ग्राह्या वर्गीकरणकामना ।
अन्यथाशास्त्रसम्पत्तिः फलदा नैव हानिदा ॥

तुलनात्मकदृष्टिश्च दर्शने रुचिदायका ।
शास्त्रह्रासापनोदाय वैज्ञानिककथासुधा ॥

'भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण' संगोष्ठी के कुछ विचारणीय प्रश्न

राधेश्यामधरद्विवेदी

'धर्मदर्शन-संस्कृति' समिति ने सभी विभागों से तत्तद्विभागानुकूल विषयों पर परिचर्चा, वादकथा एवं विमर्श से सम्बन्धित विषयों की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए कहा था। उसी सन्दर्भ में **तुलनात्मकधर्मदर्शन** विभाग ने 'भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण' विषय पर एक संगोष्ठी कराने का प्रारूप प्रस्तुत किया। तदनुसार इस संगोष्ठी के संयोजक श्रीराधेश्यामधरद्विवेदी ने वर्गीकरण से सम्बन्धित कतिपय प्रश्नों को निम्नलिखित रूप में उपस्थित करते हुए कहा—

१—**भारतीय दर्शन** से क्या समझा जाय? दर्शन में **भारतीयता** क्या है? जिससे भारतीय दर्शनों की असाधारण पहचान समझी जाय।

२—दर्शनों का क्या आस्तिक नास्तिक विभाजन उचित है अर्थात् क्या आस्तिक एवं नास्तिक दृष्टि से निरपेक्ष भारतीय दर्शनों का कोई अपना स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है, यदि है तो उसके लक्षण क्या हैं?

३—भारतीय दर्शनों में विषयपरक भी चिन्तन हुए हैं, उदाहरण के रूप में **द्वैतवाद, अद्वैतवाद** को ही लें। देखा जाता है कि अवान्तर भेदों के साथ **शाङ्कर-वेदान्त, शून्यवाद, विज्ञानवाद** तथा अनेक **तान्त्रिक दर्शन** अद्वैतवादी ही हैं। इसी प्रकार जीव जगत के संदर्भ में या आत्मा, परमात्मा के संबंध में द्वैतवाद के भी विभिन्न रूप हैं, उसके अंतर्गत **सांख्ययोग, न्यायवैशेषिक, जैन, वैभाषिक, सौत्रान्तिक**, विभिन्न **वैष्णव-वेदान्त** तथा अनेक **तान्त्रिक दर्शन** आ जाते हैं। इसी प्रकार संपूर्ण भारतीय दर्शनों का विषयपरक वर्गीकरण किया जा सकता है। स्पष्ट है कि ज्ञान का विषयपरक विकास दर्शनों के परस्पर आदान-प्रदान एवं खण्डन-मण्डन के माध्यम से हुआ है, इस स्थिति में सांप्रदायिक वर्गीकरण को छोड़कर विषयपरक वर्गीकरण को स्वीकार करने में क्या बाधा होगी?

४—कहा जाता है कि भारतीय दर्शनों का कार्य अपनी अपनी धार्मिक मान्यताओं एवं विश्वासों की पुष्टि करना है। इसलिए यहाँ के दर्शन एक प्रकार के **धार्मिक चिन्तन** ही हैं। इस धारा में न तो स्वतन्त्र दार्शनिक चिन्तन सम्भव है और न उनका विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से वर्गीकरण किया जा सकता है। इस मत का कहाँ तक औचित्य है। क्या धर्मनिरपेक्ष दार्शनिक चिन्तन का कोई वर्ग बन सकता है?

५—भारतीय दर्शनों में प्रायः यह देखा जाता है कि **अपने मत के पक्ष में आगमों की सहमति तथा विपक्ष के खण्डन में उसकी विमति के लिए आगम वचन** उद्धृत किये जाते हैं। इसका एक अभिप्राय यह हो सकता है कि भारतीय दर्शनों का युक्तिवाद दुर्बल है। इस दुर्बलता को हटाने की दिशा में दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया क्या हो?

६—भारतीय दर्शन में देखा जाता है कि कोई **नवीन दार्शनिक प्रस्थान** खड़ा करने के लिए भी **प्राचीन सूत्र या शास्त्रों** की अपने अनुरूप नवीन व्याख्या की जाती है। इससे यह माना जाता है कि भारतीय दर्शनों में मौलिक चिन्तन अति-प्राचीनकाल में हुआ, बाद में उसकी धारा अवरुद्ध हो गयी। केवल पूर्व का या तो पिष्टपेषण किया गया या यत्किंचित् मूलाधारित नवीनता लायी गयी। कहा जाता है कि इस प्रकार दर्शन का नवीन चिन्तन सम्भव नहीं हुआ। इस स्थिति में भारतीय चिंतन की दिशा क्या हो?

७—देखा जाता कि संपूर्ण भारतीय दर्शन का प्रमुख प्रयोजन प्रायः **निर्वाण** का लाभ करना है इसी अर्थ में इसे **आध्यात्मिक** कहा जाता है। विदित है कि निर्वाण ऐहिक जीवन का आदर्श नहीं है, इस स्थिति में यह आक्षेप होता है कि सभी भारतीय दर्शन वर्तमान जीवन की समस्याओं से विमुख हैं। और समाज की दृष्टि से **पलायनवादी** हैं। यह आक्षेप जिस अंश तक संगत है उसके निराकरण के लिए क्या दर्शन को ऐहिक समस्याओं के समाधान के अभिमुख करना आवश्यक है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शनों का क्या कोई वर्गीकरण किया जा सकता है।

८—यह कहाँ तक उचित होगा कि अब भारतीय दर्शनों का नया वर्गीकरण किया जाय। उदाहरण के रूप में क्या निम्नलिखित प्रकार के वर्गीकरण में किसी प्रकार की बाधा है?

(क) **भारतीय अद्वैतवाद** (शून्यवाद, विज्ञानवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, शिवाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि)

(ख) **भारतीय न्यायदर्शन** (न्याय-वैशेषिक-बौद्ध-जैन-मीमांसा आदि)

(ग) **भारतीय योगदर्शन** (पातंजल-बौद्ध-जैन एवं तान्त्रिक आदि)

(घ, **भारतीय वस्तुवादीदर्शन** (सांख्य-वैशेषिक-मीमांसा-वैभाषिक-सौत्रान्तिक-जैन आदि)

यदि विषयपरक वर्गीकरण अपेक्षित है तो उसके पाठ्यक्रमों का निर्धारण किस प्रकार किया जाय ?



भारतीय दर्शनों के नये वर्गीकरण की दिशा

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

शताब्दियों पूर्व से नवीन **भारतीय चिन्तन** अवरुद्ध हो चुका है। इसे प्रायः सभी मनीषियों ने स्वीकार किया है। इसके कारणों की पूरी खोजबीन होनी चाहिये। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व भारतीयचिन्तन के स्वभाव पर भी ध्यान देना आवश्यक होगा।

भारतीय दर्शनों का परम्परागत वर्गीकरण स्वाभाविक था, क्योंकि अन्य सभी देशों की तरह यहाँ भी दर्शनों का उद्गम एवं विकास **धर्म** के गर्भ से हुआ। **भारतवर्ष** सदा से ही धर्मों एवं संस्कृतियों की विविधता से परिपूर्ण रहा है। इसलिए यहाँ प्रमुख धर्मों का अनेकानेक उपधर्मों एवं सम्प्रदायों में विकास हुआ। इन सबका संस्कृतिगत आदर्श और आचारगत जीवनचर्या में भेद एवं कुछ हद तक विरोध भी था। इस प्रकार की विविधता के बीच जिन विचारों का उद्गम हुआ, उन्हीं के आधार पर आगे चलकर भारतीय दर्शनों का निर्माण सम्भव हुआ। इस प्रकार के विविध दर्शनों के विकास के पीछे विभिन्न संस्कृतियों एवं धार्मिक सम्प्रदायों की विविधता एवं विशेषता प्रमुख कारण बने रहे। यह भी देखा जाता है कि दार्शनिक विकास ने एक ओर अपने विशेष धर्मों एवं संस्कृतियों को महत्त्व प्रदान किया तो दूसरी ओर उनके बीच विरोधों का यथासम्भव शमन कर उनमें एक प्रकार का सादृश्य एवं एकता भी प्रदान की। विशेषतः इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न किया है—**साधना** के क्षेत्र में **योगशास्त्र** ने, **दर्शन** के क्षेत्र में **तर्कशास्त्र** ने और **जीवन** के समान उद्देश्य के निर्धारण की दृष्टि से **मोक्ष चिंतन** ने। इस देश के सम्पूर्ण चिन्तन को इन्हीं प्रमुख प्रवृत्तियों ने भारतीयता प्रदान की है। इसी की पृष्ठभूमि में यहाँ के सम्पूर्ण चिन्तन को **'भारतीय-दर्शन'** के नाम से संकेतित किया जा सकता है।

कहा जाता है कि इतिहास काल में जिन धर्मों एवं सम्प्रदायों ने भारतीय दर्शनों के विकास के लिए अवसर प्रदान किया, आगे चल कर वे ही उसके नवीन

विकास के अवरोधक भी सिद्ध हुए। यही कारण है कि बिना पूर्व मान्यता के या किसी व्यक्तिविशेष और ग्रन्थविशेष के प्रामाण्य को स्वीकार किये केवल तर्क और आधुनिक प्रमाणों के सहारे भारतीय चिन्तन नहीं बढ़ सका।

दर्शन का एक प्रमुख काम है बुद्धि को कुण्ठाओं से निकालना। यह कार्य दर्शन तव तक नहीं कर पाएगा, जब तक चिन्तक की बुद्धि कुछ निश्चित परम्पराओं से घिरी रहेगी। पुराने विचारों शब्दों, परिभाषाओं, विभिन्न प्रकार के संस्कारों एवं संस्मरणों से मनुष्य का मन समृद्ध रहता है। सामान्यतः उन्हीं के सहारे वह अपने चिन्तन को आगे बढ़ा पाता है। किन्तु वे ही एक मात्रा के वाद उसके गतिरोध के कारण भी बनने लगते हैं। इस स्थिति में **दर्शन** की समस्या यह है कि वह **चिन्तक को उसके इतिहास के अनावश्यक बोझ से मुक्त** कैसे रखे?

उक्त मूल समस्या की ओर भारतीय दार्शनिकों का ध्यान बहुत पहले ही गया था। उनका यह निष्कर्ष था कि वास्तविक चिन्तन के मार्ग में विकल्प बाधक हैं। इसके लिये उन्होंने चिन्तन को निर्विकल्प रखने की चेष्टा की थी। उन्हें यह मालूम था कि शब्द चिन्तन को बढ़ाते हैं और उसे कुण्ठित भी करते हैं। इसके लिए मन के विविध संस्कारों और शब्दों से ऊपर उठना ही उन दार्शनिकों की प्रेरणा थी। अवश्य ही आज यह विचारणीय है कि उनका यह उद्देश्य कहाँ तक पूर्ण हुआ। यह ठीक है कि **शास्त्र** हमें चिन्तन के लिए **मार्ग** देते हैं, किन्तु यह भी ठीक है कि **शास्त्रवाद** नए मौलिक चिन्तन का विरोधी बन जाता है। यह तथ्य है कि **महर्षि व्यास के ब्रह्मसूत्र** के आधार पर परस्पर विरोधी अनेकानेक **वेदान्तों** का विकास हुआ। मूल **त्रिपिटक** को आधार बनाकर **बौद्धदर्शन** के परस्पर भिन्न अनेकानेक दार्शनिक प्रस्थानों का विकास हुआ। किसी भी स्थिति में **व्यास** या उनके **ब्रह्मसूत्र** को भगवान **बुद्ध** या **त्रिपिटक** को छोड़ा नहीं गया। इसके बावजूद दार्शनिक चिन्तन की यह महिमा है कि शास्त्र के घेरे में रहकर भी यथासम्भव परस्पर विरोधी चिन्तनों का विकास हो जाता है। इसमें शास्त्र-निरपेक्ष चिन्तन के बीज मिलते हैं। इससे यह सम्भावना निकलती है कि समय से पहले शास्त्रमुक्त चिन्तन यदि हुआ होता, तो भारतीय दर्शनों का नवीन विकास न हो सकता।

प्रश्न है कि क्या **शास्त्र निरपेक्ष** ज्ञानमीमांसा हो सकती है? इससे आगे बढ़कर एक यह भी प्रश्न है कि क्या ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा से निरपेक्ष सम्भव है? इन प्रश्नों के उत्तर का भारतीय दर्शनों के परम्परागत वर्गीकरण से घनिष्ठ

सम्बन्ध है। स्पष्ट है कि धार्मिक एवं साम्प्रदायिक वर्गीकरण द्वारा निरपेक्ष अध्ययन को अपेक्षित अवसर नहीं मिल सकता। ऊपर देखा गया है कि भारतीय दर्शनों का धर्म से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था। इतिहास में इसकी एक सीमा तक उपयोगिता थी, किन्तु अब यह आवश्यक हो गया है कि **दर्शन** को **धर्म** से यथासम्भव मुक्त किया जाय, अन्यथा **धर्मशास्त्री** की तरह **दर्शनशास्त्री** भी अपने ज्ञात तथ्यों को ऐकान्तिक रूप से प्रतिष्ठित करने लगेगा। इस स्थिति में आगे भी निरपेक्षचिन्तन की आशा करना, व्यर्थ हो जायगा। हमें इसका विचार करना होगा कि दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया में आत्यन्तिक सत्य के आकलन का आग्रह कहाँ तक समुचित है। वास्तव में भारतीय दर्शनों में ऐकान्तिकता का आग्रह, उस पर धार्मिक प्रभाव है। वास्तव में ऐकान्तिकता का आग्रह मूलतः अदार्शनिक अवधारणा है। इस प्रसंग में हमें इसका ध्यान रहना चाहिए कि **दर्शन** न तो **विज्ञान** है और न तो **धर्म**। इस स्थिति में दर्शन विज्ञान कीं तरह नितान्त अनैकान्तिक नहीं है और न तो धर्म की तरह नितान्त ऐकान्तिक। उसके चिन्तन का मार्ग दोनों के मध्य है।

इस प्रकार निरपेक्ष चिन्तन की दिशा में पहला क्रम होगा, **भारतीय दर्शनों का विषयानुरोधी नयावर्गीकरण** प्रस्तुत करना। इस नये वर्गीकरण में दर्शनों के विकासक्रम का आकलन किया जा सकता है। ज्ञानों का विकास विभिन्न सिद्धान्तों के पारस्परिक आदान-प्रदान से सम्भव होता है। पूर्ववर्ती एवं समसामयिक दर्शनों के बीच कुछ ज्ञान अन्तर्गमन करते रहते हैं और उस प्रक्रिया में ज्ञान का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। इस प्रकार के विकास क्रम में अध्ययन करने पर एक ओर दर्शनों का वास्तविक मूल्यांकन किया जा सकता है और दूसरी ओर नये चिन्तन के लिए सम्भावना खड़ी होती हैं। अब तक **शास्त्रों** की मान्यताओं को विश्वसनीय बनाने में बुद्धि एवं तर्क का प्रयोग किया गया, अब स्वयं निरपेक्ष बुद्धि को ही अधिकाधिक स्पष्ट एवं विश्वसनीय बनाने की आवश्यकता।

जब हम बुद्धि को अधिकाधिक विश्वसनीय बनाने की बात करते हैं, तो हमें उसके जो ज्ञान स्रोत हैं तो उनकी सीमाओं की ओर भी ध्यान देना चाहिए। यह ठीक है कि जो बुद्धि-बाह्य हैं, वह वास्तविक दर्शन नहीं है, किन्तु प्राचीन काल में उसके स्रोत बहुत ही सीमित थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि सामान्य अनुभव के बाहर कोई तथ्य नहीं है किन्तु उसे पौराणिक वृत्तान्त नहीं होना चाहिए। और उसे सिद्ध करने का भी आप्तत्व पर्याप्त नहीं है। कहना पड़ेगा कि ज्ञान की उत्पत्ति की सीमायें हैं। हमारे अनुभव इंद्रियाधीन हैं। इन्द्रियों की शक्ति और संख्या दोनों ही बहुत

अल्प हैं इसलिए उनसे उपलब्ध ज्ञान बहुत निर्बल होते हैं। यह भी स्पष्ट है कि अज्ञान का क्षेत्र ज्ञान के क्षेत्र से बहुत बड़ा है, इन्द्रियों की संख्या और शक्ति कम होने से हम अज्ञान का अपेक्षित निराकरण नहीं कर पाते हैं। इसके लिए हमें ज्ञान के स्रोत को बढ़ाना होगा। आधुनिक विज्ञान ने जीवन के कई क्षेत्रों में हमें ज्ञान के अनेकानेक नये स्रोत दिये हैं, हम विज्ञान की देन की ओर से आँख नहीं मोड़ सकते। अपनी ज्ञानवृद्धि के लिए हमें उसका सहयोग लेना होगा। वैज्ञानिक परिदृष्टि के विरोध में परम्परावादी विद्वान हमेंशा यह आशा रखते हैं कि कहीं न कहीं ऐसा क्षेत्र अवश्य मिलेगा, जिसमें **वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना सम्भव न होगा**। इस सम्भावना में वे लोग अपने दर्शन की सुरक्षा समझते हैं। वास्तव में ऐसी प्रवृत्ति **दार्शनिकता** के विरोध में जानी जाती है। विश्व के इतिहास ने यह सिद्ध किया है कि धार्मिक विचारकों के रहते वैज्ञानिक पद्धति को सफलता न मिली होती। यदि उनसे व्यावहारिक लाभ न होता।

भौतिकी एवं **गणित** के चमत्कार ही नहीं, प्रत्युत **मनोविज्ञान, नृवंशविद्या, भाषाविज्ञान** आदि **मानवविज्ञानों** ने भी जो हमारे सामने नई वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्रस्तुत की हैं उससे दर्शन शास्त्र को वंचित रखना दार्शनिकों का एक बहुत बड़ा अपराध माना जायेगा।

ज्ञात है कि तात्त्विक निर्णय के लिए व्याप्ति के नियमों का महत्वपूर्ण स्थान है। **व्याप्ति** को विश्वसनीय **पदार्थविद्या** के आधार पर भारतीय दार्शनिक व्याप्ति को निरूपाधिक सोपाधिक होने का निर्णय लेते हैं, किन्तु विज्ञान ने प्राचीन पदार्थविद्या का अधिकांश में खण्डन कर दिया, इस स्थिति में परम्परागत दर्शनों में व्याप्ति का नियम विश्वसनीय नहीं रह गया है। व्याप्ति के विश्वसनीय न होने के कारण **खगोल, भूगोल** तथा **पदार्थविद्या** सम्बन्धी कोई भी निर्णय लेना हमारे लिए सन्देह से परे नहीं है। इस स्थिति में इस प्रकार अपने व्याप्ति नियम को विश्वसनीय बनाने की दिशा में वैज्ञानिक उपलब्धियों से महत्त्वपूर्ण सहायता ली जा सकती है।

भारतीय दर्शनों की प्रगति में वैज्ञानिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में हमारी उपेक्षा वृत्ति किसी तरह ठीक नहीं है। हमें अध्ययन के क्षेत्र में विज्ञानों की नई उपलब्धियाँ स्वीकार करनी होंगी। विज्ञान के द्वारा जो ज्ञानवृद्धि हो उसके अनुपात से अधिक मनुष्य में विवेक बुद्धि का विकास हो, यह अत्यन्त अपेक्षित है। **विवेक बुद्धि है**—जीवन के आदर्श उद्देश्यों की निश्चित अवधारणा। विवेक बुद्धि विज्ञान

की सीमा के बाहर है। उसमें परम्परागत दर्शनशास्त्र बहुत कुछ सहायक होंगे। फिर **विज्ञान** और **दर्शन** में कौन सा श्रेष्ठ है ? यह अभी विचारणीय नहीं है। जीवन के क्षेत्र में दर्शन की श्रेष्ठता निर्विवाद है। कहा जाता है कि एक दिन विज्ञान बुद्धि (मस्तिष्क) आत्मा और पदार्थ के बीच का भेद समाप्त कर देगा। उस समय सम्भव है कि **दर्शन** और **विज्ञान** का भेद समाप्त होने लगे और उस स्थिति में इन दोनों के बीच वरीयता का प्रश्न समाप्त हो जायेगा। इस सम्भावना के लिए भारतीय दार्शनिकों को चिन्तन की दृष्टिसे समर्थ रहना चाहिए। अस्तु यहाँ वक्तव्य इतना मात्र है कि अपने दार्शनिक ज्ञान की वृद्धि में वैज्ञानिक उपलब्धियों का सहारा लेना चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण कार्य दार्शनिक चिन्तन के परम्परागत वर्गीकरण के बीच कैसे सम्भव होगा ? इसके लिए यह अपेक्षित होगा कि भारतीय दर्शन अपने धार्मिक एवं साम्प्रदायिक केचुल को उतार कर दार्शनिक समस्याओं के आधार पर यथासम्भव एक जगह मिलें।

भारतीय दर्शनों का **नयावर्गीकरण** और उसके आधार पर नवीन तत्त्व चिन्तन तभी सफल होगा जब हम दर्शन में प्रक्रिया के महत्त्व को स्वीकार करें। दर्शन एक चिन्तन की प्रक्रिया है जो ज्ञान को विशुद्ध से विशुद्धतर और विशुद्धतम बनाता है। इस प्रक्रिया के बीच **तार्किक वैज्ञानिकता** है इसके आधार पर जो नये तथ्य आयेंगे, वे परीक्षा के द्वारा या तो खण्डित होंगे या गृहीत होंगे। यह प्रक्रिया वास्तव में चिन्तन के विकास की प्रक्रिया है, यह तथ्यों का गम्भीर प्रेक्षण है। किसी भी सिद्धान्त के विकास की एक अवस्था में जो तथ्य तर्कसम्मत एवं सार्थक होंगे उसकी इयता ज्ञात रहेगी। विकास की दूसरी अवस्था में नये तथ्य उभर सकते हैं जो पूर्व से भिन्न होंगे। दार्शनिक का कार्य उसके विकासक्रम में उसका मूल्यांकन करना है। इस प्रकार इस प्रक्रिया के द्वारा सत्य का आकलन होता है और असत्य का निराकरण होता है। यह सम्भव होगा कि धर्म उसे पूर्ण न कहे। वास्तव में **पूर्णता**, धार्मिक अवधारणा है दार्शनिक नहीं। दर्शन अपनी प्रक्रिया से पूर्णता की खोज करता है किन्तु उसकी पूर्णता गतिशील है कभी रूढ़ नहीं है। समझने की दृष्टि से विज्ञान के समीप इसे ले जाकर पूर्णवाद की जगह प्रयोगवाद कहा जा सकता है।

जब हम परम्परागत भारतीय दर्शनों के नये वर्गीकरण का प्रस्ताव करते हैं तो हमारा ध्यान भारतीय दर्शनों के दुरूह एवं अतिविस्तृत साहित्य की रक्षा करने की ओर भी रहना चाहिए। अब तक उसकी रक्षा धर्मों और सम्प्रदायों के संकीर्ण वीथि

में होती रही है उसे एक खुले राजमार्ग पर यदि खड़ा कर दिया जायेगा तो विद्वानों को यह आशंका हो सकती है कि अध्ययनाध्यापन के द्वारा उनकी यथावत रक्षा नहीं हो पायेगी। वास्तव में भारतीय चिन्तन की रक्षा करना महत्त्वपूर्ण बात है जो अत्यन्त आवश्यक है उससे भी अधिक आवश्यक यह है कि नये चिन्तन के लिए दार्शनिकों को यथासम्भव धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कुण्ठाओं से मुक्त किया जाय। इन दोनों प्रकार के औचित्यों के बीच में चिन्तन का एक नया आयाम निकलना कठिन नहीं है।



भारतीय दर्शनों के वर्गीकरण से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

आचार्य पं० बदरीनाथ शुक्ल

१—भारतीय दर्शन उन दर्शनों को समझा जाना चाहिए जिनका प्रादुर्भाव इदं प्रथमतया **भारतीय मनीषीयों** के मस्तिष्क से हुआ है। इस प्रकार **भारतीय चिन्तकोपज्ञता** ही दर्शन में भारतीयता है, वह भारतीय दर्शन की असाधारणता है।

भारतीय दर्शनों को उनके उद्देश्य की दृष्टि से यदि परिभाषित किया जाय तो उसके अनुसार निःश्रेयसफलकत्व ही भारतीय दर्शनों का लक्षण कहा जा सकता है। निःश्रेयस की परिभाषा भारत के तत्तद् दर्शनों के अनुसार कुछ विभिन्न रूप में हो सकती है। किन्तु **निःश्रेयस** को सभी भारतीय दर्शनों को उद्देश्य कहने में कोई बाधा नहीं है।

२—भारतीय दर्शनों का **आस्तिक-नास्तिक** रूप में विभाजन किस आधार पर है? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर उस आधार के औचित्य पर निर्भर है। भारतीय दर्शन को मुख्य रूप से तीन आधारों पर आस्तिक-नास्तिक के रूप में निर्धारित किया जाता है।

(क) **वेदाविरोधित्व और वेदविरोधित्व**—जो दर्शन वेद के अविरुद्ध हैं—उन्हें आस्तिक, और जो वेद के विरुद्ध हैं उन्हें नास्तिक कहा जाता है। यतः वेद एक चिर परीक्षित प्रामाणिक वाङ्मय है। इसका प्रतिपादन तर्कों की कसौटी पर खरा उतरता है अतः इसके आधार पर दर्शनों के विभाजन के औचित्य कीं एक सीमा मानी जाती है।

(ख) दूसरा आधार है **आत्मा की ऐकान्तिक नित्यता और उसके अभाव** का। जिन दर्शनों में आत्मा की एकान्त नित्यता मानी गयी, वे आस्तिक हैं। जो नहीं मानते, वे नास्तिक हैं। आत्मा की एकान्त नित्यता का अभ्युपगम मनुष्य को निर्भय

बनाने का सर्वोत्कृष्ट आधार है। इस निर्भयता का समर्थक होने से दर्शनों को आस्तिक के सम्मान जनक शब्द का व्यवहार करना उचित जान पड़ता है। और जिन्हें आत्मा की एकान्त नित्यता नहीं स्वीकार है, उनके अनुसार आत्मा में किसी न किसी रूप में अनित्यता का गन्ध आता है। जो मनुष्य को पूर्ण निर्भय बनाने में बाधक है। अतः इस दृष्टि से आस्तिक-नास्तिक कहा जाता है।

(ग) तीसरा आधार है मनुष्य के सभी शुभाशुभ कर्मों के साक्षी रूप में ईश्वर के अस्तित्व का स्वीकार या अस्वीकार। जिन दर्शनों में मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों का साक्षी माना जाता है। वे दर्शन मनुष्य को अशुभ कर्मो से दूर करने में सहायक हैं जिससे मानवीय चरित्र की रक्षा स्वाभाविक है। अतः ऐसे दर्शनों को आस्तिक कहना इस दृष्टि से नितान्त उचित है किन्तु जिन दर्शनों में ऐसे साक्षी को स्वीकार नहीं किया गया, उनमें मनुष्य को अशुभ कर्मों से बचने में पूरी सहायता नहीं मिलती है क्योंकि मनुष्य अशुभ कर्मों का साक्षी न होने की स्थिति में अशुभ कर्मों में कदाचित प्रवृत्त भी हो पाता है।

३—भारतीय दर्शनों के विषयपरक विभाजन की संभावना के सन्दर्भ में इस प्रकार विचार प्रस्तुत किया जा सकता है कि विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रतिपाद्य विषयों की बहुलता है, उन विषयों में कुछ ऐसे भी विषय हैं जो सभी दर्शनों में समान रूप से परिगृहीत हैं। यदि विषयपरक विभाजन किया जायेगा तो ऐसे सामान्य विषयों के आधार पर ही किया जायेगा, किन्तु ये विषय उन उन दर्शनों में वर्णित अन्यान्य विषयों से अनुबद्ध हैं, अतः यदि केवल समान विषयों के आधार पर दर्शनों का विभाजन होगा तो अनुवद्ध विषय के छूट जाने से विभाजन के आधारभूत समान विषयों का भी समग्र रूप से बोध न हो सकेगा। अतः विषय परक विभाजन की उचित उपयोगिता नहीं प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए दर्शनों का अद्वैतवादी द्वैतवादी दर्शनों के रूप में विभाजन करना इसलिए उचित नहीं हो सकता क्योंकि शांकरवेदान्त, शून्यवाद और विज्ञानवाद में स्वीकृत अद्वैत के आधारभूत विषय भिन्न-भिन्न हैं। अतः जिन दर्शनों को अद्वैतवादी कहा जायेगा उनके अद्वैत का अध्ययन उन आधारों के साथ ही करना होगा। फलतः प्रत्येक अद्वैतवादी दर्शन का अध्ययन अलग-अलग हो जायेगा। इस दृष्टि से इस विभाग का कोई औचित्य नहीं होगा। हां आस्तिक नास्तिक दर्शनों के रूप में विभाग करने पर जिन अद्वैत प्रतिपादक दर्शनों के मानावमान की धारणा बनती हैं उनका परिहार करने की दृष्टि से इस विभाग को यदि स्वीकृत किया जाय तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, यही स्थिति द्वैतवादी दर्शनों के सम्बन्ध में भी है।

४—यह कहना कि भारतीय दर्शन में केवल **धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों** की पुष्टि की गयी है उचित नहीं है, क्योंकि सभी भारतीय दर्शनों में ज्ञान को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य **निःश्रेयस** का प्रमुख साधन बताया गया है और वह ज्ञान धर्म और आचारों का नहीं, किन्तु मुख्य रूप से आत्मानात्मा सभी पदार्थों के विषय में अपेक्षित है। धर्म और विश्वास की चर्चा उस समय आती है जब दार्शनिक ज्ञान को जीवन में उतारने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, और यह नितान्त आवश्यक है क्योंकि कोरा ज्ञान मनुष्य को नैतिक बनाने में कभी सफल नहीं हुआ है। अतः भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में सत्य यह है कि भारतीय दर्शन का समस्त चिन्तन **ज्ञेयविषयों** पर आधारित है **धर्म** अथवा **सम्प्रदाय** पर नहीं।

५—यह सत्य है कि भारतीय दर्शन के अन्तरवर्ती चिन्तक अपने चिन्तन में पूर्ववर्ती विद्वानों के संवाद का उल्लेख करते हैं किन्तु उससे यह निष्कर्ष निकालना कि भारतीय दर्शनों का **युक्तिवाद दुर्बल** हैं, ठीक नहीं कहा जा सकता, अपितु इस पद्धति से यह प्रमाणित होता है कि भारतीय दर्शन की चिन्तनपरम्परा काल की दृष्टि से बड़ी लम्बी परम्परावाली है और इस परम्परा के विद्वानों ने जो चिन्तन किये हैं उनमें लम्बे काल के व्यवधान होने पर अनेक विषयों में आज भी समता है। उत्तरवर्ती विद्वानों के चिन्तन का उल्लेख इस बात को प्रमाणित करने में उद्धृत नहीं किया जा सकता कि उत्तरवर्ती विद्वानों में स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता नहीं है और उन्होने पूर्ववर्ती चिन्तकों की बात नयी शैली और शब्दावली में प्रस्तुत की है क्योंकि संवाद का प्रदर्शन समग्र चिन्तन में न होकर किसी विषय विशेष के चिन्तन में ही प्रदर्शित किया हुआ होता है।

६—यह सत्य है कि भारतीय दर्शनो के लेखक उत्तरवर्ती विद्वानों ने पूर्ववर्ती सूत्रग्रन्थों का अथवा वैदिक और औपनिषदिक वचनों का अवलम्बन कर उनकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु ऐसा निष्कर्ष निकालना उचित नहीं प्रतित होता कि यह कार्य उत्तरवर्ती विद्वानों में स्वतन्त्र क्षमता न होने के कारण हुआ, क्योंकि यह स्पष्ट देखा जाता है कि एक छोटे से सूत्र के उपर एक अत्यन्त विस्तृत भाष्य ग्रन्थ की रचना होती है, जिसमें ऐसे असंख्य विचार भरे रहते हैं जो पूर्ण मौलिक होते हैं और प्रायः ऐसा देखा जाता है कि यथाश्रुत सूत्र से जो अर्थ उपलब्ध होता है वह व्याख्या ग्रन्थों में पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है। निश्चय ही यह स्थिति विद्वानों के स्वतन्त चिन्तन की क्षमता का परिणाम है। पूर्व सूत्रों का आधार केवल चिन्तन के इतिहास की अविच्छिन परम्परा को बनाये रखने के लिये किया जाता है।

यदि यही बातें जो **भाष्य** ग्रन्थों में कहीं गयी हैं वे **सूत्र** और **सूत्रकार** का उल्लेख किये बिना कहीं जाय तो वही कथन भारत का **स्वतन्त्र चिन्तन** कहा जाता। इस लिए इस आक्षेप में कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता है।

७—यह सत्य है कि भारतीय दर्शनों में मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य **निःश्रेयस, निर्वाण, मोक्ष** आदि माना गया है और वर्तमान में दर्शन के नाम पर जिन ग्रन्थों का अध्ययन होता है वे स्पष्ट रूप से मनुष्य की **ऐहिक** समस्याओं का समाधन नहीं प्रस्तुत करते। इसलिए ऐसा लगता है कि मनुष्य के जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने में अक्षम होने के कारण **पलायनवादी** हो गयें हैं। किन्तु विचार करने पर यह आक्षेप उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि **निःश्रेयस** और **निर्वाण** आदि का लक्ष्य मानव जीवन के जागतिक समस्याओं के समाधान का एक अन्यतम प्रकार है। कहने का आशय यह है कि मनुष्य के सामने यदि **सांस्कृतिक उत्कर्ष** ही लक्ष्य रूप में प्रस्तुत होता है तो उसकी प्राप्ति के लिए वह अविवेक पूर्ण रूप से इतना आशक्त होता है कि उससे उसे दूसरे के सुख-सुविधा की कोई चिन्ता नहीं रहती। जिसके फल स्वरूप मनुष्यों में संघर्ष की भावना बढ़ती है। और यह सुन्दर संसार समाज के लिए अत्यन्त सुखमय हो जाता है निःश्रेयस को लक्षण मानने पर मनुष्य की दृष्टि संसारिक उत्कर्ष और निःश्रेयस दोनों में विभक्त हो जाती है। इसलिए सांसारिक उत्कर्ष के चिन्तन में उसका सन्तुलन बना रहता है। और उसके समाज के लिए अभिशाप नहीं बन पाता है।

दूसरी बात यह है कि सभी **भारतीय दर्शन** मनुष्य को **दुःख से मुक्त** करना अपना उद्देश्य मानते हैं। दुःखों में मनुष्य के वर्तमान दुःख का अन्त है जिनसे तत्काल मुक्ति के लिए लौकिक साधनों की अपेक्षा होती है। उन लौकिक साधनों के लिए मनुष्य को प्रयत्नशील होने की प्रेरणा का संकेत दर्शनों से प्राप्त होता है। क्योंकि वर्तमान दुःख से छुटकारा पाने का साधन आयत्त किये बिना सभी दुःखों से मुक्त करने का दार्शनिक लक्ष्य सम्भव नहीं हो सकता।

तीसरी बात यह है कि हमारे देश का **धर्मशास्त्र** जो **राजशास्त्र, समाजशास्त्र** और **अर्थशास्त्र** भी है और ये हमारे दर्शनों के अंग हैं। अतः उनके अध्ययन के साथ ही दर्शन का अध्ययन पूरा होता है। इधर सैकड़ों वर्षों से **दर्शनों** का अध्ययन **धर्मशास्त्र** के अध्ययन के बिना पूरा माना जाने लगा है। इसीलिए भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में पलायनवादिता के अर्थ का अवसर प्राप्त हुआ है। पूर्वकाल के

दार्शनिक उच्चकोटि के धर्मशास्त्री होते थे। इसलिए वर्तमान जीवन के उन्नायक अध्ययन को भी दार्शनिक अध्ययन माना जाता रहा है जैसा कि **याज्ञवल्क्य** ने अपनी स्मृति में कहा है—**"अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्"**और उपनिषदों में **"द्वे विद्ये वेदितव्ये"** कह कर विद्या वेदन अर्थात् दार्शनिक अध्ययन को आवश्यक बतलाया गया है। और परापरा भेद बताकर **अपरा** में समग्र ऐहिक फलक विद्याओं का **परा** में निःश्रेयसफलक आत्मविद्या का समावेश किया गया है। अतः पूरे सम्बद्ध शास्त्रों को दर्शन के क्षेत्र में परिगणित करने पर उक्त आक्षेप का औचित्य स्वतः समाप्त हो जाता है।



वर्गीकरण सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर

आचार्य पं. रघुनाथ शर्मा

भारतीय दर्शनों के वर्गीकरण संगोष्ठी के विचारणीय प्रश्नों का उत्तर यथा-मति निम्नलिखित है—

१—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सौत्रान्तिक, वैभाषिकदर्शन, क्षणभङ्गवाद, विज्ञानवाद, जैनदर्शन, चार्वाकदर्शन आदि दर्शनों को भारतीय इसलिए कहते हैं क्योंकि इनकी मूल कल्पना भारतीयों की है।

२—पूर्वोक्त आद्य दर्शनों को आस्तिक दर्शन इसलिए कहते हैं कि ये दर्शन प्रारब्धवादी हैं। प्रारब्ध कर्मों को मानते हैं। 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इस पाणिनि के सूत्र से आस्तिक-नास्तिक शब्द बने हैं। 'दैवं दिष्टं भागधेयम्' यह अमर का कहना है।

भारतीय दर्शनों का अपना रूप प्रथम प्रश्न के उत्तर में बताया गया है। किन्तु वर्गीकरण के लिए आस्तिक-नास्तिक दर्शन शब्दों का प्रयोग समुचित है।

३—दर्शनों का यदि विषयों के अनुसार वर्गीकरण किया जाय तो दर्शनों का अध्ययन असम्भव अथवा दुस्साध्य हो जायेगा। अतः सम्प्रदायानुसार वर्गीकरण किया गया। अद्वैत और द्वैत कोई विषय नहीं है। आत्माद्वैत, शिवाद्वैत, शक्त्यद्वैत यह विषय हो सकता है। एक दर्शन के अनेक विषय हैं। किस विषय को लेकर आप वर्गीकरण करेंगे। अतः सम्प्रदायानुसार चिंतन नहीं होगा तो किसी विषय का गम्भीर चिंतन नहीं हो पायेगा। आज कल भी विज्ञान सिद्धान्त तथा विषय का चिन्तन सम्प्रदायानुसार ही हो रहा है।

४—भारतीय दर्शन के विषयों का चिंतन ऋषियों ने स्वतन्त्र रूप से किया। बुद्ध, जिन, बृहस्पति आदि शास्त्र प्रवर्तकों का चिंतन स्वतन्त्र हुआ। उन सभी दर्शनों के मौलिक चिंतन स्वतन्त्र हुए। बाद में सूत्रों का अवलम्बन करके व्याख्यान रूप से चिंतन हुआ और हो रहा है।

भारतीय दर्शन **श्रद्धा** तथा **विश्वास** मूलक धार्मिक चिंतन मात्र नहीं है। भारतीय दर्शन में **ईश्वर** तथा **धर्म** और **वेदों** को भी तर्क की कसौटी पर कसा गया है। **पूर्वमीमांसा** धर्मदर्शन और उसमें तर्क है। **उत्तर मीमांसा** में **ईश्वर** को तर्क से सिद्ध किया गया है। पूर्वमीमांसा में **वेदों** पर भी आक्षेप तथा तर्कमूलक समाधान किया गया है। भारतीय दर्शनों में सभी चिंतन धर्मनिरपेक्ष हैं। भारतीय-दर्शनों का विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से वर्गीकरण नहीं हो सकता।

५—भारतीय दर्शनों में स्वयूथ्य के मतखंडन में **आगम** प्रमाण देते हैं। विपक्ष खण्डन तो **तर्क** से ही करते हैं।

६—प्रश्नावली ६ में कहा गया है कि कोई नवीन दार्शनिक प्रस्थान खड़ा करने के लिए **प्राचीनसूत्र** या **शास्त्रों** की अपने अनुरूप नवीन व्याख्या की जाती है। इससे वह माना जाता है कि भारतीय दर्शनों में मौलिक चिंतन अधिक प्राचीन काल में हुआ, बाद में उसकी धारा अवरुद्ध हो गयी।

इसका उत्तर यह है कि भारतीय दर्शनों का मूल उत्पत्ति स्थान **उपनिषदें** हैं। जैसे न्याय, वैशेषिक, दर्शनों के परमाणु सिद्धान्त का उद्गम उपनिषदों से हुआ। यह उपनिषद् सिद्धान्त **पंचीकरण** प्रक्रिया के वर्णन से स्पष्ट होता है। परमाणु सिद्धान्त को ही **सांख्य** तथा **योग** वालों ने **तन्मात्र** कहकर अपनाया और इस सांख्य योग के सिद्धान्त को व्यवहार में अद्वैतवादियों ने भी माना। और परमाणु सिद्धान्त को **वैष्णव** दर्शनों ने अपनाया। पूर्वमीमांसादर्शन में अदृष्टवाद का सिद्धान्त भी उपनिषदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से आया है, क्योंकि उपनिषदों में उपासनाओं से और ब्राह्मण ग्रन्थों में योग, होम, दानादि कर्मों से फल की सिद्धि कही गयी है। वे कर्म नश्वर होते हैं। अतः उन कर्मों का फलाव्यवहित पूर्वकाल भावित्व बाधित है। अतः फल सिद्धि के लिए कोई कर्मजन्य अदृष्ट रूप अवान्तर व्यापार माना जाता है। यही **अदृष्टवाद** है।

इसी प्रकार मुख्यतः इन भारतीय दर्शनों का तीन वर्गीकरण हुआ। न्याय वैशेषिक-प्रथम वर्ग, सांख्य योग-द्वितीय वर्ग, और पूर्वोत्तर मीमांसा-तृतीय वर्ग।

न्याय-वैशेषिक में बहुत थोड़ा भेद है।

द्वित्वे च पाकजौत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य नस्खलिता बुद्धिस्तं वैशेषिकं विदुः।। इति

इसी प्रकार सांख्य-योग में भी थोड़ा ही भेद है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ इति

इस गीता वाक्य से सांख्य-योग का सिद्धान्त एक ही हुआ। भेद केवल इतना है कि **योग** ईश्वर को मानता है। **सांख्य** ईश्वर को नही मानता।

पूर्वोत्तर-मीमांसा में भी मूलतः ऐक्य है। यह **ब्रह्मसूत्र** को देखने से प्रतीत होता है क्योंकि जगह जगह **ब्रह्मसूत्रकारव्यास** ने **'इति जैमिनिः'** ऐसा लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि जैमिनिः का मत व्यास को मान्य है। भाष्यकारों में **शंकराचार्य** ने भी **'व्यवहारे भट्टनयः'** इस सिद्धान्त को अपनाया है। कुमारिल भट्ट पूर्वमीमांसा के प्रमुख विद्वान है। यद्यपि वैष्णव भाष्यकार शङ्कराचार्य के विरोधी हैं किन्तु वे सभी भाष्यकार न्यायवैशेषिक का पदानुसरण करते हैं। अतः उनका यह दर्शन न्याय-वैशेषिक दर्शनों में गतार्थ होता है। **शङ्कर-अद्वैतवाद** उपक्रमोपसंहार से उपनिषदों का परम सिद्धान्त होता है। इस प्रकार आस्तिक दर्शनों का वर्गीकरण पहले ही से हुआ है। आप नया वर्गीकरण करने का जलतांड़न प्रयास कर रहे हैं। और यह वर्गीकरण प्रयास पिष्टप्रेषण तथा अनर्थक है। अब चलिए आप अद्वैतवाद में शून्यवाद को ढकेलना चाहते हैं यह उचित नही है क्योंकि अद्वैतवाद जगत को मिथ्या (अनिर्वचनीय) कहता है। शांकरभाष्य के भामती में **'मिथ्याशब्दोऽयमनिर्वचनीचतावचनः'** यह कहा है। शून्यवाद में जगत को शून्य कहा गया है। **शून्य कोई तत्त्व** नहीं है खपुष्प एवं बन्ध्यापुत्र को शून्य कहा जा सकता है जो अलीक है। यदि कोई शून्य तत्त्व माना जाय तो वह अनिर्बचनीय भी होगा। अतः शून्यवाद तथा अद्वैतवाद का ऐक्य नहीं हो सकता। **शिवाद्वैत, शक्यद्वैत** ये भी मूलतः अद्वैत सिद्धान्त नहीं हैं। क्योंकि इन दोनों सिद्धान्तों को मानने से शिव-शक्ति का द्वैत ही सिद्ध होता है। **विज्ञानवाद** में क्षणिक विज्ञान संतान को ही आत्मा और विषय रूप मानते हैं। वह क्षणिक विज्ञान का अनन्त ऐसी स्थिति में ब्रह्माद्वैतवाद से विज्ञानवाद अत्यन्त दूर पड़ जाता है। विशिष्टा-द्वैतवाद भीं मौलिक अद्वैत नहीं है। क्योंकि उसमें जीव जगत भेद छिपा हुआ है। अतः जो पूर्वोक्त वर्गीकरण आज तक हुआ है। वह समुचित है और नवीन वर्गीकरण का प्रयास व्यर्थ है।

७—भारतीय दर्शन का वर्गीकरण आपको अपने समुचित दार्शनिक मार्ग से च्युत करने के लिए एक महान विघ्न के रूप में उपस्थित हो रहा है। आप वर्गीकरण के दुःस्वप्न को छोड़कर किसी एक भारतीय दर्शन को लेकर उसका चिंतन तथा प्रायोगिक परीक्षण में सतत् संलग्न हो जाएं। इसी में श्रेय है। किसी भी भारतीय दर्शन में, जहाँ तक चिंतन हो चुका है, उसका सावधानी से परीक्षण प्रयोग द्वारा तथा तर्क द्वारा करें। उसकी हेयता तथा उपादेयता सिद्ध हो जाएगी। इसके बाद वह दार्शनिक सिद्धान्त, यदि आपको हेय प्रतीत होता हो तो उसको छोड़ दें और दूसरे दार्शनिक सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिए। यह प्रकार अच्छा होगा। वर्गीकरण के व्यर्थ प्रयास में मत पड़िए।

८—भारतीय दर्शनों में तीन तरह की **कथा (वाद)** लिखित है—वाद, जल्प और वितण्डा।

वाद और जल्प में आगम और तर्क दोनों चलता है। **वितण्डा** में केवल तर्क चलता है। दार्शनिक चिंतन के लिए इन तीनों के सिवाय अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। भारतीय चिंतन अति प्राचीन और अपने में पर्याप्त तथा समाप्त है। उसमें सिद्धान्ततः कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है और कोई नया चिंतन नहीं हो सकता। भारतीय दर्शन आधुनिक जीवन समस्याओं से विमुख नहीं है। आधुनिक जीवन समस्याओं के--**राजशास्त्र, धर्मशास्त्र, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद** आदि पर्याप्त शास्त्र बने हैं।

(क) शून्यवाद, विज्ञानवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, शिवाद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद ये सभी सिद्धान्त विलक्षण है। अतः एक साथ वर्गीकरण नहीं हो सकता।

(ख) न्याय, पंचावयव वाक्य के प्रयोग को कहते हैं। अथवा मीमांसा दर्शन में न्याय अधिकरण निर्णीत सिद्धान्त को कहते हैं। अतः न्याय-वैशेषिक इत्यादि अपने विशेषों की प्रधानता से पृथक् पृथक् शास्त्र हैं।

(ग) योग दर्शन भी अपनी विशेषताओं से पृथक शास्त्र ही है। बौद्ध, जैन, तांत्रिक--आदि अपने-अपने बिषयों की प्रधानता से पृथक् शास्त्र ही हैं।

(घ) इसमें कहा गया वर्गीकरण भी अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से अच्छा नहीं है।

निष्कर्ष—मेरी समझ में भारतीय चिन्तन पर्याप्त और पूर्ण है। इसका प्रयोग आवश्यक है। अध्ययन और अध्यापन दोनों में प्रयोग आवश्यक है। पदार्थ का परिचय लक्षणों से होता है। अतः अध्यापक के लिए अनिवार्य है कि लक्षणों के द्वारा पदार्थ का परिचय कराये।



भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण

डा० सी० एन० मिश्र

१. भारतीय दर्शन से क्या समझा जाय ? दर्शन में भारतीयता क्या है ? जिससे भारतीय दर्शनों की असाधारण पहचान समझी जाय ?

हमारे विचार से भारतीय दर्शन उसे समझना चाहिए जिसका उद्भव और विकास भारत में हुआ हो। यों तो कुछ पाश्चात्य लेखकों के मत से भारत में साधारणतया वास्तविक दर्शन नहीं रहे हैं। जो कुछ हैं वे पौराणिक कथानक एवं आचारिक मतों के रूप में काव्य और आस्था से सम्पृक्त हैं। Even the theories of Oriental peoples the *Hindus*, *Egyption*, *chinese*, Consist, in the main, of mythological and ethical doctrines, and are rarely Complete going systems of thought : they are Pervaded with poetry and faith,' [A History of Philosophy, Intro p. 7 by Frank Thilly.] कुछ वर्तमान समय के पाश्चात्य विचार में पले हुए 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' भारतीयों से भी उक्त विचार की प्रतिध्वनि सुनने को मिलती है। इस विषय पर विचार करने का यह उचित अवसर नहीं है, अतः इस प्रसंग में अभी केवल यही कह देना पर्याप्त होगा कि 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी।'

'दृश्' धातु ज्ञान सामान्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है अतः 'दर्शन' शब्द का अर्थ होगा वह शास्त्र जिसके द्वारा वास्तविकता का ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार हो। (दृश्यते, ज्ञायते, साक्षात्क्रियते अनेन शास्त्रेण इति दर्शनम्)। पाश्चात्य दर्शन का सम्बन्ध तत्त्व के परोक्षज्ञान से रहा है इसलिए वह मुख्यतः सैद्धान्तिक है। यही कारण है कि वहाँ के दर्शन के लिए व्यावहारिकता कोई अनिवार्य पक्ष नहीं है। किन्तु भारतीय दर्शन का सम्बन्ध साक्षात्कार से है। इसी आशय को प्रगट करते हुए पञ्चदशीकार कहते हैं—

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।
अस्मि ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥

इस भेद का अनुभव कुछ पाश्चात्य मनीषियों ने भी किया है। इसलिए वे भारतीय शब्द 'दर्शन' के लिए 'Philosophy' का नहीं अपितु Philousia का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझते हैं।

Eastern wisdom, Dr. Haos (The Destiny of the Mind, East and West) maintains, is best described not as "Philosophy" which is Concerned with the objects of Conciousness, and marked by Conceptual thinking, but as "Philousia—the love of reality or essence" (Hibbert ournal, Jan. 1957, p. 203)

भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी से बड़ी विशेषता यह है कि यह जीवन की अनिवार्य समस्या के समाधान के लिए प्रवृत्त होता है किन्तु **पाश्चात्यदर्शन** की प्रवृत्ति वैसी नहीं देखी जाती है। यह पाश्चात्यों की दर्शनविषयक धारणा से ही सुस्पष्ट हो जाता है।

ग्रीकदार्शनिक **प्लेटो** के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य की वृत्ति में होती है। (Philosophy is the child of wonder.) यह सही है कि हम विश्व को कभी-कभी आश्चर्य से देखते हैं (**आश्चर्यवत्पश्यतिकश्चिदेनम्**) परन्तु यह भी तो सम्भव है कि हम इस प्रकार का आश्चर्य न करें या केवल आश्चर्य तक ही अपने को सीमित रक्खें। सभी लोग आकाश में इतनी ताराओं को देखकर कभी-कभी आश्चर्य करते हैं। कुछ लोग उनके सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत जानते भी हैं किन्तु बहुतेरे जो कुछ भी नहीं जानते हैं वे केवल क्षणिक आश्चर्य प्रकट कर रह जाते हैं। वह आश्चर्य करना उनके व्यावहारिक जीवन का स्पर्श नहीं करता है।

दकार्तें के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति सन्देह की वृत्ति से होती है (Doubt originates Philosophy)। किन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि हम सन्देह न करें और हमारी जिज्ञासा वृत्ति (instinct of exploration). है जिसे कुछ पाश्चात्य दार्शनिक दर्शन का जनक मानते हैं, उसकी तुष्टि न होने पावे, और फिर भी हम सुख से जीवें ? **न्यूटन** के पहले किसी ने सेव के गिरने पर न तो सन्देह किया था और न उसके

प्रति जिज्ञासा से प्रेरित हो कर उस घटना की व्याख्या ही की थी। फिर भी बेचैन से जीते रहे।

ब्रैडले महोदय का कथन है कि मानव स्वभाव की एक रहस्यात्मक वृत्ति होती है जिसके शमन के लिए **दर्शन** की उत्पत्ति होती है। (I have been obliged to speak of philosophy as a satisfaction of what may be called the mystical side of our nature a satisfaction which, by ecotion persons, cannot be as well procured otherwise) परन्तु जिस रहस्यात्मक वृत्ति के सम्बन्ध में ब्रैडले कह रहे हैं वह स्वयं बहुतों के लिए एक रहस्य है। फिर, उसका यदि शमन न भी हो तो साधारण मानवीय जीवन में कोई अन्तर नहीं आ सकता।

पुनः प्वायंकरे महोदय का मत है कि दर्शन का जन्म जिज्ञासावृत्ति से नहीं अपितु सौन्दर्य वृत्ति से होता है—'It is not the intellectual satisfaction but the aesthetic sense that originates Philosophy. इस मत के सम्बन्ध में यह तो कहा ही जा सकता हैं कि बहुतेरे मनुष्य ऐसे है जिनमें सौन्दर्यवृत्ति इतनी अस्पष्ट रहती है कि उसका भान तक नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि सौन्दर्यवृत्ति के तोष के बिना भी तो मानवीय जीवन जिया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सौन्दर्यवृत्ति की तृप्ति हो अथवा नहीं, यह हमारे जीवन की अनिवार्य घटक नहीं हो सकती है।

और, आज के अत्याधुनिक **विश्लेषणवादी पाश्चात्यदार्शनिक** तो स्वयं स्वीकारते हैं कि दर्शन का कार्य भाषा विश्लेषण है, जीवन विश्लेषण नहीं।

यहाँ पाश्चात्य दर्शन से कुछ दृष्टान्त इसलिए उद्‌धृत किए गये कि हम पाश्चात्यों के दर्शनविषयक दृष्टिकोण से अवगत हो जो जीवन के किसी पक्ष विशेष से सम्बद्ध हैं और मूलतः सैद्धान्तिक हैं। इसके विपरीत भारतीय दृष्टिकोण अपने उद्भव और लक्ष्य दोनों में यथार्थपरक है और इसलिए व्यावहारिक है। यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि जीवन के कार्य कलाप का एक मात्र लक्ष्य होता है दुःख का परिहार और सुख की प्राप्ति।

दुःखं न मे स्यात्, सुखमेव मे स्यात्।
इति प्रवृत्तः सततं हि लोकः॥ (बुद्धचरित)

कोई व्यक्ति तभी इसका अपवाद हो सकता है यदि वह प्रमत्त हो। यह जीवन की एकमात्र या सबसे बड़ी समस्या है। और कहना नहीं होगा कि भारतीय दर्शन का उद्भव इसी परमव्यावहारिक समस्या में है और इसका लक्ष्य भी इसी के समाधान में है।

बौद्धों के चार आर्य सत्य—**दुःखसत्य, दुःखसमुदयसत्य, दुःखनिरोध** और **दुःखनिरोधमार्गसत्य** सुप्रसिद्ध ही हैं। सांख्य कहता है—**दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ**। इसी आशय की पुष्टि करते हुए न्याय सूत्र कहता है: **दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः**। उक्त विषय को लेकर सभी भारतीय दार्शनिकों में ऐकमत्य है—**चार्वाक** भी इसका अपवाद नहीं है। इसी मौलिक सहजवृत्ति को आधार बनाकर भारतीय दर्शन प्रारम्भ होता है। सुख:दु:ख के ठोस व्यावहारिक तटों के मध्य से यहाँ के दार्शनिक चिन्तन की धारा प्रवाहित होती है इसलिए वह भी मूलतः व्यावहारिक है। चिन्तन के रूप में उसकी सैद्धान्तिकता पुनः नियमित होकर व्यावहारिक स्वरूप धारण कर लेती है जिसे **धर्म** कहते हैं। **धर्म** को यहाँ अंग्रेजी के Religion या अरबी के **मज़हब** के उस संकुचित अर्थ में नहीं लेना है जिसमें उसका आधार केवल कुछ आस्थाएँ और मान्यताएँ हैं। भारतीयविचार में **धर्म** उन सभी कर्त्तव्यों का समवेत-रूप है जो किसी भी व्यक्ति के लिए धारण करने योग्य है—'**धारणाद्धर्ममित्याहुः**।' इसी से समष्टि के लिए उस सूत्र का निर्माण होता है जिसमें गुम्फित हो कर मानव समाज को अपने लक्ष्य की उपलब्धि होती है—'**धर्मो धारयति प्रजाः**।' यह वस्तुतः वह शाश्वततत्त्व है या नियम है जो दर्शन के लिए **वस्तुपरक** (Positive truth) **सत्य** है और धर्म के लिए **आदर्शपरकमूल्य** (normative value) है। पाश्चात्य विचार में धर्म और दर्शन की एकवाक्यता आवश्यक नहीं समझी गई। फलतः वहाँ **दर्शन** और **धर्म** में दोनों पृथक् सरणियों पर चले। इसलिए **काण्ट** के लिए धार्मिक लक्ष्य की पूर्ति का मार्ग केवल विश्वास है—(By faith and faith alone) उसमें तर्क का कोई स्थान नहीं है किन्तु भारतीय चिन्तन में तर्क को धर्म का अत्याज्य सहायक माना गया है—**यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः** (मनु०)। इतना ही नहीं, यहाँ तो यह कहा गया है कि तर्क के त्याग से धर्म की हानि होती है—'**तर्कहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते**।' इसलिए भारतीय विचार में दर्शन केवल विज्ञानों का विज्ञान और कलाओं की कला ही नहीं, अपितु सभी धर्मों का आधार भी है

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

जिस प्रकार एक सिक्के के दो पहलुओं को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार भारतीय विचार में दर्शन को धर्म से पृथक् नहीं किया सकता। इस प्रसंग में इस विषय को नहीं भूलना होगा कि **चार्वाकों** का भी उनकी मान्यताओं के अनुसार जीवन मार्ग अर्थात् धर्म था जिसका उल्लेख **षड्दर्शनसमुच्चय** के प्रसिद्ध टीकाकार गुणरत्न ने किया है।

इसके अतिरिक्त, चार्वाक दर्शन को छोड़ कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें हम भारतीय दर्शनों की असाधारण पहचान मान सकते हैं जैसे **वैराग्य** की आवश्यकता पर बल, **आध्यात्मिकता**, कर्मवादसम्बलित **पुनर्जन्मवाद, भवचक्र से मुक्ति का आदर्श परमशान्ति की प्राप्ति के लिए साधना और योग** की आवश्यकता आदि।

× × ×   × × ×   × × ×

२. दर्शनों का क्या आस्तिक नास्तिक विभाजन उचित है अर्थात् क्या आस्तिक एवं नास्तिक दृष्टि से निरपेक्ष भारतीय दर्शनों का कोई अपना स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है; यदि है तो उसके लक्षण क्या हैं ?

यह प्रश्न वस्तुतः उस परम्परागत सामान्य विचार से संलग्न है जिसमें पूरे भारतीय दार्शनिक विचार को **आस्तिक** एवं **नास्तिक** के भागों में विभाजित किया जाता है। **नास्तिक** विचार में **चार्वाक, बौद्ध** और **जैन** का ग्रहण कर अवशिष्ट विचारों को **आस्तिक** वर्ग में रख लिया जाता है। परन्तु यह विभाजन युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इसका आधार आस्तिक नास्तिक शब्दों के भ्रान्त अर्थ पर स्थापित है। साधारणतया यह समझा जाता है कि **ईश्वर** में विश्वास करने वाला आस्तिक और अविश्वास करने वाला नास्तिक। परन्तु आस्तिकता यदि ईश्वरवादिता का वाचक हो और नास्तिकता अनीश्वरवादिता का, तब तो प्राचीन **सांख्य** और **वैशेषिक** जैसे दर्शनों को भी **नास्तिक** दर्शन की कोटि में रखना होगा जो परम्परा के विरुद्ध होगा। दूसरी बात यह है कि जिन **बौद्ध और जैन** दर्शनों को नास्तिक दर्शनों के वर्ग में रखा जाता है वे स्वयं इसका विरोध करते हैं। **चन्द्रकीर्त्ति** ने अपनी **माध्यमिकवृत्ति** में स्पष्ट कहा है कि बौद्ध नास्तिक नहीं हैं—**न वयं नास्तिकाः**, उसी प्रकार जैन को भी नास्तिक शब्द से चिढ़ है। फिर भी उन्हें नास्तिक के वर्ग में रखना उचित कैसे कहा जा सकता है ? **बौद्धों** और जैनों का यह विरोध युक्तिसंगत भी है, क्योंकि आस्तिक और नास्तिक

शब्दों का अर्थ वस्तुतः ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी नहीं हो सकता है। **पाणिनि** सूत्र 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (४।४।६०) की **काशिका** और **सिद्धातकौमुदी** दोनों ही नास्तिक उसे कहती हैं जो परलोक में विश्वास नहीं करता है।

परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः। (काशिका)। अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः। नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः (सिद्धान्तकौमुदी, तद्धित, ठगधिकार)।

परन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बौद्ध और जैन दोनों ही **परलोक-वाद** में विश्वास करते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि 'नास्तिक' के वर्ग से बौद्ध और जैन को हटाना ही होगा! इसे ध्यान में न रखते हुए कतिपय आधुनिक दार्शनिकों ने भी अवैदिक दर्शन मात्र को नास्तिक दर्शन की संज्ञा देकर जहाँ-तहाँ भूल की है। (देखिए Runes की Dictionary of Philosophy)। इसलिए उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण यदि 'आस्तिक' और 'नास्तिक' के भागों में किया जाय तो आस्तिक दर्शन के कोष्ठ में चार्वाकेतर सभी दर्शनों को रखना उपयुक्त होगा और नास्तिक के कोष्ठ में केवल चार्वाक रह जाएगा।

उपर्युक्त **ईश्वरवादी-अनीश्वरवादी** विभाजन का मूल भी भारतीय दर्शन के स्वभाव में न्यस्त नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि यदि हम भारतीय दर्शन के सामान्य रूप पर विहंगम दृष्टि डालें तो ईश्वरवादिता का रूप अत्यन्त गौण प्रतीत होगा। उदाहरण के लिए परम्परागत दार्शनिक प्रस्थानों में से चार्वाक, बौद्ध और जैन की ईश्वर विरोधिता प्रसिद्ध ही है। प्राचीन सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा ने भी ईश्वर विचार की कोई आवश्यकता नहीं समझी। पीछें चल कर प्रायः **पौराणिक** प्रभाव के कारण इन दर्शनों में ईश्वर के समावेश का प्रयास मिलता है। उनका यह प्रयास उनकी उक्ति से ही स्पष्ट हो जाता है :

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायती कृता।
तामास्तिकपथे नेतुं एष यत्नः कृतो मया॥

योग दर्शन में **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** (१।२३) और **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'** (१।२४) जैसे सूत्र न तो दार्शनिक दृष्टि से बहुत आवश्यक समझे जा सकते हैं और महत्त्वपूर्ण ही। ईश्वर के विचार में जो सर्वकर्तृत्व,

सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वशक्तिमत्ता आदि के भाव सन्निविष्ट किए जाते हैं, वे इनमें अनुपस्थित हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से **सांख्य** और **योग** समानतन्त्र हैं और इसलिए दोनों में तत्त्व विचार विषयक समानता है और होनी भी चाहिए। तब यदि सांख्य को ईश्वर की अवश्यकता नहीं हुई तो फिर योग को उसकी आवश्यकता क्यों पड़ी? यदि व्यावहारिक तोष के लिए उसकी आवश्यकता पड़ी तो पड़े। दार्शनिक दृष्टि से तो सांख्य-योग के दर्शन के ढांचे में उसकी आवश्यकता नगण्य-सी है। इसी से कुछ विचारकों का यह संशय कि योग में ईश्वर का विचार प्रक्षिप्त अंश है, निराधार नहीं कहा जा सकता है। यह उसी प्रकार है जैसे **ईश्वरकृष्ण** की सांख्यकारिका में ईश्वर का समावेश नहीं मिलता है। किन्तु सोलहवीं सदी में आकर **विज्ञानभिक्षु** ने अपने **सांख्यप्रवचनभाष्य** में सांख्य को भी वेदान्त का एकेश्वरवादी चोगा पहना दिया।

अद्वैतवेदान्त के दर्शन में तत्त्व तो एक मात्र ब्रह्म ही है। माया में प्रतिबिम्बित जो ईश्वर है उसकी कोई पारमार्थिक सत्यता नहीं है, इसलिए यह ईश्वर ईश्वरवादियों के ईश्वर के समान तत्त्वमीमांसा की कोई परम सत्ता नहीं है। वस्तुतः ईश्वर के इसी रूप से खींझ कर **माध्वों** ने **शंकर** को **प्रच्छन्न-बौद्ध** तक कह डाला है।

न्याय ने पीछे चल कर ईश्वर का समावेश किया और **उदयन** ने उसकी स्थापना के लिए अनेक युक्तियाँ दी। किन्तु यह स्वयं उन्हीं की उक्ति से स्पष्ट है कि उन्होंने उसे केवल अपनी प्रतिभा के बल से स्थापित किया है :

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे।
पुनर्बौद्धे समायाते ममाधीना तव स्थितिः॥

अपरञ्च, न्याय वैशेषिक ने पदार्थों का जैसा निरूपण किया है और विश्व रचना की जो प्रणाली अपनाई है, उसमें ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता आदि प्रमाणित नहीं होती है। नित्य परमाणुओं, अनेक जीवों और कर्मफल के सहारे संचालित संसार का वह केवल अध्यक्ष होता है। इससे उसकी सर्वशक्तिमत्ता बद्ध होकर उसके ऐश्वर्य में बाधक होती है।

इस प्रकार जब ईश्वरवाद ही भारतीय दर्शन का कोई मूल परिचायक घटक नहीं है तो उसके आधार पर भारत के दार्शनिक प्रस्थानों का वर्गीकरण कहाँ तक तर्क संगत कहा जा सकता है?

इस प्रश्न के उत्तर खण्ड का विचार हम पहले ही प्रश्न सं० १ में कर चुके हैं।

३. भारतीय दर्शनों में विषयपरक भी चिन्तन हुए हैं, उदाहरणस्वरूप में द्वैतवाद, अद्वैतवाद को ही लें। देखा जाता है कि अवान्तर भेदों के साथ शाङ्करवेदान्त, शून्यवाद, विज्ञानवाद तथा अनेक तान्त्रिक दर्शन अद्वैतवादी ही हैं। उसी प्रकार जीव-जगत के संदर्भ में या आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में द्वैतवाद के भी विभिन्नरूप हैं, उसके अन्तर्गत सांख्ययोग, न्यायवैशेषिक, जैन, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विभिन्न-वैष्णववेदान्त तथा अनेक तान्त्रिक दर्शन आ जाते हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों का विषयपरक वर्गीकरण किया जा सकता है। स्पष्ट है कि ज्ञान का विषयपरक विकास दर्शनों के परस्पर आदान-प्रदान एवं खण्डन-मण्डन के माध्यम से हुआ है, इस स्थिति में साम्प्रदायिक वर्गीकरण को छोड़कर विषयपरक वर्गीकरण को स्वीकार करने में क्या बाधा होगी ?

यह सत्य है कि ज्ञान का विषयपरक विकास दर्शनों के परस्पर आदान-प्रदान एवं खण्डन-मण्डन के माध्यम से हुआ है परन्तु इस विकास की प्रक्रिया बहुधा दार्शनिक प्रतिबद्धता की सीमा को पार कर स्वाभाविक रूप से आगे नहीं बढ़ सकी। विचार की स्वाभाविक उन्मुखता अनेकत्व से एकत्व और उससे फिर अद्वय कीं ओर होती है। इसी में चिन्तन के विभिन्न तत्त्वों की संगति भी बैठती है। विचार की इसी स्वाभाविक प्रगति के फलस्वरूप **अद्वैतवेदान्त, विज्ञानवाद, शून्यवाद** एवं अनेक अद्वैतवादी **तान्त्रिक** दर्शनों का विकास हुआ। परन्तु वैचारिक प्रतिबद्धता इस स्वाभाविक विकास की गति में कभी-कभी बाधक रही। उदाहरण के लिए यद्यपि जैन दार्शनिक का तर्क उन्हें अनेकत्व से निवृत्त करता है और वे अनुभव करते हैं कि उनका द्वैतवाद अशोभन है :

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं।
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्।
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥

फिर भी इनका कारण उनकी प्रतिबद्धता को ही कहना पड़ेगा कि **जैन-दर्शन** का विकास किसी प्रकार के अद्वैतवाद में नहीं हुआ। इसलिए प्रत्येक दर्शन के अन्तर्गत विषयपरक चिन्तन के सोपान स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ते हुए प्रतीत नहीं होते हैं। इससे भी यह स्पष्ट है कि किसी दर्शन की जो कुछ तात्त्विक विकास-प्रक्रिया रही, वह उसकी प्रतिबद्धता की सीमा के भीतर ही हुई। उदाहरण के लिए यदि हम बौद्ध अद्वयवाद का अध्ययन करना चाहें तो **सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद** और अन्त में **माध्यमिक** विचार की विकास परम्परा का विश्लेषण करना पड़ेगा। कहने का आशय यह है कि किसी भी उपर्युक्त अद्वैतवाद को समझने के लिए पहले इस बिन्दु से प्रारम्भ करना पड़ेगा कि वह किस प्रकार की वैचारिक प्रतिबद्धता का विकसित रूप है। अतः मूल बिभाजन सिद्धान्त (Fundamental divisions) अनेकत्व, द्वित्व, एकत्व अथवा अद्वयत्व को मानना समुचित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में इस प्रकार का विभाजन कुछ अप्राकृतिक जैसा लगता है। परवर्त्ती पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में प्रतिबद्धता समान स्रोत रहा ईसाई मान्यता का। इसलिए दार्शनिक चिन्तन में प्रतिबद्धता जन्य विविधता का अवसर नहीं रहा। तथापि **पाश्चात्य दार्शनिक** साहित्य में भी, मेरे विचार से, दर्शनों का वर्गीकरण उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया गया है। पाश्चात्य दर्शन की तत्त्वमीमांसा के ग्रन्थों में उपर्युक्त शीर्षकों के साथ दर्शन की समस्या का अध्ययन अवश्य किया गया है जो क्रमिक विकास के विश्लेषण की दृष्टि से आवश्यक और उपादेय है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में इस प्रकार की प्रवृत्ति कम देखने को मिलती है। परन्तु भारतीय दार्शनिक चिन्तन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में यदि उपर्युक्त शीर्षकों के माध्यम से विभिन्न प्रस्थानों की समस्याओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय और सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के प्रवाह में उनका मूल्यांकन किया जाय तो यह निश्चित ही एक स्तुत्य प्रयत्न होगा।

४. कहा जाता है कि भारतीय दर्शनों का कार्य अपनी अपनी धार्मिक मान्यताओं एवं विश्वासों की पुष्टि करना है। इसलिए यहाँ के दर्शन एक प्रकार के धार्मिक चिन्तन ही हैं। इस धारा में न तो स्वतन्त्र दार्शनिक चिन्तन सम्भव है और न उनका विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से वर्गीकरण किया जा सकता है। इस बात का कहाँ तक औचित्य है ? क्या धर्म निरपेक्ष दार्शनिक चिन्तन का कोई वर्ग बन सकता हैं ?

यह प्रश्न भी आंशिक रूप से गत प्रश्न के साथ सम्बद्ध है। यह प्रश्न इस बात पर आधारित है कि भारत में **धर्म** विषयक धारणा किस प्रकार की है जिसकी मान्यताओं एवं विश्वासों की पुष्टि करना दार्शनिक चिन्तन के सम्बन्ध में कहा गया है। यहां **धर्म** मात्र कुछ औपचारिकताओं का संग्रह नहीं है जिनकी पुष्टि करना **दर्शन** का कार्य क्षेत्र है। भारत के लिए धर्म विश्व का वह शाश्वत नियम है जिसके साथ जीवन को संयोजित करना है। बौद्ध दर्शन में 'धर्म' शब्द का बारम्बार उसी अर्थ में प्रयोग हुआ है जो वैदिक ऋत और सत्य के भी अर्थ का व्यंजक है। वही शाश्वत नियम जिन रूपों में मानव जीवन में अपने को प्रकट कर सकता है उन्हीं के द्वारा धर्म का लक्षण भी किया गया है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

यह आदर्शपरक (normative) है। इसका जो वस्तु परक (positive) पक्ष है उसी की मीमांसा करना भारतीय दर्शन का कार्य है। उसका साक्षात्कार **अन्तःप्रज्ञा** (intuition) से हो सकता है, उस बुद्धि से नहीं जो तर्क के बन्धनों से बंधी है। बुद्धि की अपनी सीमाबद्धता है कि वह अपनी कोटियों से बाहर नहीं जा सकती है। पाश्चात्य दर्शन में जर्मन दार्शनिक **काण्ट** ने इस विषय को अपनी Critique of pure Reason में अत्यन्त परिच्छिन्नतापूर्वक समझाया है। यह सत्य है कि अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ही उक्त तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है किन्तु अन्तःप्रज्ञा उसकी व्याख्या नहीं कर सकती है जिसकी अपेक्षा मनुष्य जैसे युक्तिशील प्राणी को है। वह कार्य तो बुद्धि का है जिसका आश्रय लेकर मनुष्य अनेक पद्धतियों से व्याख्या कर्म में प्रवृत्त होता है। इसी से दर्शन के क्षेत्र में अनेक मतवाद का उद्भावन होता है। अनेक मतवाद का अर्थ यह कदापि नहीं है कि सबके चिन्तन के भिन्न-भिन्न उपादान हैं। इसलिए प्रक्रिया की भिन्नता का अर्थ चिन्तन के विषय की मौलिकता नहीं कही जा सकती है।

इस प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए मानव संस्कृति के इतिहास के निष्कर्ष को ध्यान में रखना होगा। **टायनबी, कार्ल जैस्पर्स** आदि इतिहास दर्शन के मनीषियों की प्रतिष्ठित मान्यता है कि सभ्यता की आदि से लेकर अब तक भी मानव-संस्कृति की जो उपलब्धि हुई है उसका मानक वह सत्य है जिसका आविष्कार प्रायः एक ही समय में संसार की सभी प्राचीन संस्कृतियों में हुआ। भारतवर्ष में वह अवधि **उपनिषत्काल** से लेकर **बुद्ध, महावीर** के आविर्भाव के काल तक की है।

ई० पू० छठीं शताब्दी के बाद से लेकर अब तक जो कुछ भी चिन्तन के क्षेत्र में हुआ है वह मौलिक नहीं है। मानवता उसी ध्रुरीणकालिक (axial period) मानक के इर्दगिर्द केवल विभिन्न मुद्राओं में अब भी घूम रही है। पाश्चात्यदर्शन के क्षेत्र में आज जिन मौलिक चिन्तनों की चर्चा की जाती है उनमें से वस्तुतः एक भी मौलिक चिन्तन नहीं है। वहाँ के दर्शन का यही इतिहास रहा है कि किसी भी दार्शनिक मतवाद की स्थिति २५ वर्ष से अधिक की नहीं होती है। अपनी सापेक्षता की दुर्बलता से वे सहज ही निःशक्त होकर विलीन हो जाते हैं। और उनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व शेष रह जाता है। वे अभी भी उस **निरीक्षण और परीक्षण** अथवा **अटकलबाजी** की स्थिति में है जिसमें हम प्रायः **उपनिषत्काल** से पहले थे। यह कठोर आलोचना जैसी प्रतीत हो सकती है, परन्तु वाणी है यह इतिहास की, मेरी नहीं। अतः उपर्युक्त प्रसंग में स्वतन्त्र दार्शनिक चिन्तन का अर्थ हो सकता है केवल परिवर्त्तित जीवन प्रक्रिया के साथ वैचारिक सामञ्जस्य, जो यहाँ होता आ रहा है और होता भी रहेगा।

जहाँ तक पूर्णतः **धर्म निरपेक्ष दार्शनिक चिन्तन** के वर्ग बनने का प्रश्न है उस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यदि दर्शन और धर्म के सम्बन्ध विषयक मूल भारतीय दृष्टिकोण का त्याग कर दिया जाय और पाश्चात्य विचार का ही अनुकरण किया जाय तो वहाँ की परम्परा के अनुसार यहाँ के दर्शनों को भी खींच-तान कर उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। परन्तु यह न भूलना होगा कि उस स्थिति में यहाँ के दर्शनों की भारतीयता धूमिल हो जाएगी क्योंकि इस अप्राकृतिक विभाजन के द्वारा यहाँ **दर्शन** और **धर्म** के बीच जो गहरा सम्बन्ध रहा है, वह आवृत्त हो जाएगा।

५. भारतीय दर्शनों में प्रायः यह देखा जाता है कि अपने मत के पक्ष में आगमों की सहमति तथा विपक्ष के खण्डन में उसकी विमति के लिए आगम वचन उद्धृत किये जाते हैं। इनका एक अभिप्राय यह हो सकता है कि भारतीय दर्शनों का युक्तिवाद दुर्बल है। इस दुर्बलता को हटाने की दिशा में दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया क्या हो ?

इस प्रश्न का भी विचार और उत्तर गत प्रश्न के उत्तर के साथ सम्बद्ध है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि **रूढ़िवादिता** (dogmatism) के रूप में यहाँ आगमों का अनुसरण किया जाता है। जो अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ही सम्वेद्य है। वह वास्तविक होने के कारण सदा सबके सम्मुख है और किसी के भी द्वारा उस शक्ति

के माध्यम से उपलब्ध हो सकता है। वह ऐसा प्रत्यक्ष है जिसके लिए हमारा तर्काश्रित परोक्ष ज्ञान साधक नहीं हो सकता है। उस तत्त्व के प्रसंग में हमारे सामान्य अनुभव के सभी प्रमाण परोक्ष होने के कारण अक्षम सिद्ध होते हैं। हम उसकी व्याख्या शब्दों द्वारा कर ही नहीं सकते हैं, इसलिए उसे अवाङ्मनसगोचर कहा गया है। **कबीरदास** ने उसी के लिए **'ज्यों गूंगे का गूड़'** कहा है और **उपनिषदों** ने अपनी मान्यता रखी है कि **'नैषा तर्केण मतिरापनेया'** जो तर्क को सीमा के बाहर है और केवल स्वानुभववेद्य है उसमें तर्क को लगाना ही अनुचित है—**'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केषु योजयेत्।'** तर्क के लिए निर्लक्ष्य होकर केवल व्यापार-शील होना पतवार के बिना नाव की गति के समान है। भारतीय दर्शनों का यही दृष्टिकोण है कि जो साक्षात् अनुभव से संसिद्ध अतएव सुनिश्चित तत्त्व है वही वास्तविक लक्ष्य है। उसी में अनुगमन के लिए तर्क की सहायता लेनी है—**'श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते।** परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय-दर्शन आँख मूँदकर श्रुति का अनुसरण करते हैं। **शंकराचार्य** डंके की चोट पर घोषणा करते हैं कि **'नहि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निरप्रकाश इति ब्रुवन् प्रामाण्यमुपैति।'** तर्क की जिस अक्षमता का अन्वेषण नवीन युग में **काण्ट** ने किया, वह यहाँ बहुत पहले हो चुका था। और यह निश्चित कर लिया गया था कि केवल तर्क के द्वारा हम अन्तिम निष्कर्ष पर कभी नहीं पहुँच सकते हैं :—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः,
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ।

इसलिए शंकर ने कहा कि **'तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्।'**

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीय दर्शनों में तर्क की कभी उपेक्षा की गई। वही शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि तर्क का भी आदर अपने क्षेत्र में अवश्य करना चाहिए—**'तर्कमप्यादर्तव्यम्,'** क्योंकि तर्क की अप्रतिष्ठा भी तर्क के ही द्वारा प्रमाणित हो सकती है—**'एतदपि हि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते।'** अपरं च, तर्क का यह स्वभाव उसके दूषण के रूप में नहीं लिया गया है। यह तो उसका भूषण है कि वह अप्रतिष्ठित है—**'अयमेव तर्कस्यालंकारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम।'** तर्क के इस अलंकार का उपयोग **शून्यवादियों** और **अद्वैतवेदान्तियों** ने यथेष्ट रूप से अपने दर्शनों में किया। तर्क

जहाँ थक कर अपनी अक्षमता स्वीकार लेता है और अपने स्वत्व को जिज्ञासा में ऊर्ध्वमुख करता है वहीं **अन्तःप्रज्ञा** के उदय के लिए उपयुक्त भूमि निर्मित हो जाती है। **तर्क** का दूसरा पक्ष है उस सत्य को अपनी विधि से व्याख्या करना जो **अन्तःप्रज्ञा** के साक्षित्व से उपलब्ध और सिद्ध हो चुका है। तर्क का यह व्यापार पूर्णतः **आगमनात्मक** और **निगमनात्मक** पद्धतियों पर आधारित रहता है जिसमें सामान्य अनुभवों के आधार पर ही तत्त्वमीमांसात्मक विचार को अग्रसारिता किया जाता है। **शंकर** का अध्यासभाष्य इसी प्रकार के अतिसामान्य अनुभव के विश्लेषण से प्रारम्भ होता है—**'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायाम्, तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः'** इत्यादि। तर्क के द्वारा अभीष्ट की स्थापना कर अन्त में आगमगम्य वस्तु के साथ उसका सामञ्जस्य प्रदर्शित कर दिया जाता है। **चन्द्रकीर्त्ति** अपनी **प्रसन्नपदा** में शुद्ध युक्ति से अपने सिद्धान्त का स्थापन कर अन्त में बुद्ध वचन का साक्ष्य देते हुए कहते हैं, **'एतच्चोक्तं भगवता,' 'यथोक्तं भगवता'** इत्यादि। यही भारतीय पद्धति रही है। इसे हम आगम का न तो अन्धानुगमन कह सकते हैं और न युक्ति की दुर्बलता ही। वेदान्त में युक्ति के प्राबल्य को देखते हुए ही तो **वाचस्पतिमिश्र** कहते हैं कि **'वेदान्तमीमांसा तावर्त्तक एव।'** देशकाल की प्रवृत्ति के अनुसार चिन्तन की प्रक्रिया में अन्तर होना तो स्वाभाविक और उचित भी है। यही कारण है कि एक ही अद्वैतवेदान्त **शंकराचार्य** और **राधाकृष्णन्** के लेखों में भिन्न प्रक्रियाओं से व्याख्यात मिलता है।

६. भारतीय दर्शन में देखा जाता है कि कोई नवीन दार्शनिक प्रस्थान खड़ा करने के लिए भी प्राचीन सूत्र या शास्त्रों की अपने अनुरूप व्याख्या की जाती है। इससे यह माना जाता है कि भारतीय दर्शनों में मौलिक चिन्तन अति प्राचीनकाल में हुआ, बाद में उसकी धारा अवरुद्ध हो गयी। केवल पूर्व का या तो पिष्ट पेषण किया गया या यत्किंचित् मूलाधारित नवीनता लायी गयी। कहा जाता है कि इस प्रकार दर्शन का नवीन चिन्तन सम्भव नहीं हुआ। इस स्थिति में भारतीय चिन्तन की दिशा क्या हो ?

इस प्रश्न का उत्तर आनुषंगिक रूप से प्रश्न सं० ४ के ही उत्तर में अनुस्यूत है जिसमें इतिहास दर्शन का साक्षित्व देते हुए कहा गया है कि वस्तुतः ई० पू० छठी शताब्दी के बाद से कहीं कोई मौलिक चिन्तन हुआ ही नहीं है। इसका अर्थ

यद्यपि यह नहीं है कि भविष्य में इसकी सम्भावना भी नहीं है। किन्तु जब तक मानवसंस्कृति की कोई नई उपलब्धि सामने नहीं आ रही है तब तक चिन्तन की नवीतता का अर्थ होगा, उसी पूर्व स्थापित तत्त्व को नये परिवेश में रखना। इसी आशय से जयन्तभट्ट कहते हैं :—

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्॥

यह विकास का क्रम स्वाभाविक है जो चलता आ रहा है और चलता रहेगा। यद्यपि उसकी गति में कतिपय कारणों से अवरोध होना भी एक स्वाभाविक घटना है। उपनिषद्, शंकराचार्य, वाचस्पति, मधुसूदनसरस्वती और विवेकानन्द की रचनाओं में अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादन की जो विभिन्न प्रक्रियाएँ दीखती हैं वे उपर्युक्त कथन को ही प्रमाणित करती हैं। यदि प्रक्रियांश की नवीनता को ही नवीन चिन्तन की संज्ञा दी जाए तो भी इस आक्षेप में कोई बल नही है कि भारतीय दर्शन में अतिप्राचीन काल में जो हुआ बाद में उसका केवल पिष्ट पोषण ही किया गया। न्यायशास्त्र के साहित्य से परिचित कोई भो व्यक्ति यह कहने का साहस नहीं करेगा कि परवर्त्ती नव्यनैयायिकों ने गौतमसूत्र का केवल पिष्टपोषण ही किया है।

७. देखा जाता है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का प्रमुख प्रयोजन प्रायः निर्वाण का लाभ करना है। इसी अर्थ में इसे आध्यात्मिक कहा जाता है। विदित है कि निर्वाण ऐहिक जीवन का आदर्श नहीं है। इस स्थितिमें यह आक्षेप होता है कि सभी भारतीय दर्शन वर्त्तमान जीवन की समस्याओं से विमुख हैं। और समाज को दृष्टि से पलायनवादी है। यह आक्षेप जिस अंश तक संगत है उसके निराकरण के लिए क्या दर्शन को ऐहिक समस्याओं के समाधान के लिए अभिमुख करना आवश्यक है? उस दृष्टि से भारतीय दर्शनों का क्या कोई वर्गीकरण किया जा सकता है?

यह प्रश्न कुछ पाश्चात्य आलोचकों के विचार से अनुप्राणित प्रतीत होता है। निर्वाण वस्तुतः ऐहिक जीवन का ही आदर्श है। निर्वाण प्राप्त होने पर कोई कहीं आता-जाता नही है बल्कि यहीं ऐहिक जीवन में ही क्लेशों से छुटकारा पा जाता है :—

तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित्
क्लेशक्षयात् केवलमेतिशान्तिम्॥ (बुद्धचरित)

निर्वाण ही बौद्धेतर दर्शनों में मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य, अपवर्ग आदि नामों से विहित हुआ है जो अन्तिम पुरुषार्थ के रूप में रक्खा गया है। निर्वाण प्राप्त हो जाने पर जीवन की कोई समस्या ही नहीं अवशिष्ट रह जाती है—**'आप्तकामस्य का स्पृहा ?'** तब फिर जीवन की समस्या से विमुखता का क्या अर्थ हो सकता है ? यह आक्षेप भी निराधार लगता है कि भारतीय दर्शन समाज की दृष्टि से पलायनवादी है। **बोधिसत्व** स्वयं निर्वाण की अवस्था से संयुक्त होकर भी समाज के कल्याण के लिए अपने ऊपर समाज के सभी दुष्कर्मों के भार को वहन करने के लिए उद्यत हैं—'कलिकलुषकृतानि यानि मयि निपतन्तु विमुच्यतां हि लोकः।' उस दर्शन को पलायनवादी किस अर्थ में कहा जा सकता है जो जीवन से भागने का नहीं बल्कि सन्नद्ध होकर जूझने का उपदेश देता है—**'तस्माद्युद्धस्व भारत।'**

ऐसा समझना उचित नहीं कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन ऐहिक समस्याओं पर ध्यान नहीं देता है। हम इसकी चर्चा पहले ही इस निबन्ध में कर चुके हैं कि दर्शन का ही व्यावहारिक पक्ष धर्म है जिसके आदर्श अभ्युदय अर्थात् लौकिक उन्नति और निःश्रेयस, दोनों ही हैं।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।

(प्रस्तुत प्रश्न में उठाए गये भारतीय दर्शनों के नवीन वर्गीकरण सम्बन्धी विचार पर अपना मन्तव्य हम अन्तिम प्रश्न के विचार के प्रसंग में प्रस्तुत कर रहे हैं।)

८. यह कहाँ तक उचित होगा कि अब भारतीय दर्शनों का नया वर्गीकरण किया जाय। उदाहरण के रूप में क्या निम्नलिखित प्रकार के वर्गीकरण में किसी प्रकार की बाधा है ?

(क) भारतीय अद्वैतवाद (शून्यवाद, विज्ञानवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, शिवाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि)।

(ख) भारतीय न्याय दर्शन (न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, जैन, मीमांसा आदि)।

(ग) भारतीय योगदर्शन (पातञ्जल, बौद्ध, जैन एवं तान्त्रिक आदि)।

(घ) भारतीय वस्तुवादीदर्शन (सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, जैन आदि)।

यदि विषयपरक वर्गीकरण अपेक्षित है तो उसके पाठ्यक्रमों का निर्धारण किस प्रकार किया जाय ?

यों तो कुछ सामान्य गुणों के आधार पर किसी भी प्रकार का वर्गीकरण किया ही जा सकता है किन्तु वह अधिक उपयुक्त तब होगा यदि वर्गीकरण के लिए कोई निश्चित सिद्धान्त रहे। और वह विकास के क्रम को ध्यान में रखते हुए प्रयुक्त हो। उदाहरण के लिए (क) वर्ग में वर्गीकरण सिद्धान्त का आधार है तत्त्व की संख्या। तब वर्गीकरण का विकास क्रम यों होना चाहिए :—

(१) **अनेकवाद** (Pluralism)

(२) **द्वैतवाद** (Dualism)

(३) **एकवाद** (Monism)

(४) **अद्वैतवाद** (Non-dualism)

चार्वाक वस्तुवादी अनेकवाद (Realistic Pluralism) का समर्थक है और उसी के वर्ग में **न्यायवैशेषिक, जैन, सर्वास्तिवाद** और **मीमांसा** भी रक्खे जा सकते हैं। किन्तु विकास के क्रम में उसका प्रथम स्थान है क्योंकि वह केवल स्थूल बाह्य जड़ पदार्थ तक ही सीमित है। दूसरे सोपान पर **न्यायवैशेषिक** आदि को रखना पड़ेगा जो जड़ पदार्थों के अतिरिक्त आत्मा को भी मानता है। तीसरे सोपान पर हम **सांख्य** और **योग** को रख सकते हैं जिसमें बाह्य पदार्थों की अनेकता सिमट कर प्रकृति के एकत्व में लीन हो जाती है। इस प्रकार सांख्य-योग द्वैतवादी है। इस वर्ग में मध्व को भी रक्खा जा सकता है। चतुर्थ सोपान पर उस प्रवृत्ति को रक्खा जा सकता है जिसमें द्वैत को हटाकर तत्व के एकत्वस्थापन का प्रयास है जैसे **विज्ञान भिक्षु** का सांख्य। इसी प्रकार की एकत्ववादी भावना की

परिणति अद्वयवादी विचार में हो जाता है जिसके उदाहरण विभिन्न प्रकार के भारतीय अद्वैतवाद हैं।

'ग' वर्ग के अन्तर्गत न्याय प्रधान दर्शनों को एकत्रित किया गया है। परन्तु इस वर्ग में यह आपत्ति हो ही सकती है कि सभी दर्शनों के अपने-अपने न्यायशास्त्र हैं, जैसे **शंकर** और **माध्व दर्शन** के। उनका ग्रहण यहाँ नहीं हो पाया है।

वर्ग 'ग' के अन्तर्गत अनेक योग दर्शनों को रखा गया है। योग दर्शन वस्तुतः **पातञ्जलयोग** ही है। **बौद्ध** एवं **जैन** भी हमारे विचार से उसी से पूर्णतः प्रभावित हैं अतः उनकी स्वतन्त्र सत्ता मानने की आवश्यकता न भी हो सकती है। योग दर्शन ऐसा है जो किसी भी चार्वाकेतर दर्शन को चित्त शुद्धि के लिए व्यावहारिक पक्ष प्रदान करता है। वैदिक सम्प्रदाय के दर्शनों ने तो उसे अपरिवर्त्तित रूप में मान लिया। बौद्ध और जैनों ने केवल पार्थक्य दिखलाने के लिए ही इधर-उधर थोड़ा-बहुत शाब्दिक परिवर्तन कर लिया है।

वर्ग 'घ' के अन्तर्गत **वस्तुवादी** (Realist) दर्शनों को रखा गया है। परन्तु इस वर्ग के कई दर्शन वर्ग 'ग' के भी अन्तर्गत आ गये हैं। दूसरी बात यह है कि यदि एक कोई वर्ग **वस्तुवाद** (Realism) का बनता है तो उसका दूसरा समकक्ष वर्ग **प्रत्ययवाद** (Idealism) का होना उचित प्रतीत होता है जिसमें बौद्ध विज्ञानवाद के प्रकार के दर्शन आ जाते हैं। फिर भी पाश्चात्य दर्शन के अनुकरण पर वस्तुवाद और प्रत्ययवाद में सभी दर्शन अन्तर्भूत नहीं हो पाते हैं। उदाहरण के लिए शंकर का दर्शन उनमें से किसी में भी नहीं बैठता है। उसके लिए **वस्तुवादी प्रत्ययवाद** (Realistic Idealism) जैसे किसी भिन्न वर्ग का समावेश करना होगा। अपरंच, उपर्युक्त किसी भी वर्ग में चार्वाकों को कहीं कोई स्थान नहीं मिला है, यद्यपि भारतीय दर्शन में उनका भी एक महत्वपूर्ण स्थान है।

इसलिए हमारे विचार से भारतीय दर्शन का जो प्राकृतिक रूप है उसको ध्यान में रखते हुए ही वर्गीकरण करना अधिक स्वाभाविक होगा। अनेक ऐतिहासिक प्रभावों के कारण भारतीय दर्शन तीन समानान्तर धाराओं में विकसित हुआ—**स्वतन्त्र दर्शन, श्रमण दर्शन** और **वैदिक दर्शन**। ये तीनों मूल दृष्टियाँ हैं और **दृष्टि ही दर्शन है**—Philosophy is an attitude towords life. इसे हम रुचि भी कह सकते हैं, जिसके कारण दर्शनों के रूप में भिन्नता आती है—**रुचीनां वैचित्र्यात्**।

उपर्युक्त तीन प्रकार के दार्शनिक चिन्तनों में पहला इन्द्रियानुभूतिवादियों या स्वतन्त्र बुद्धिवादियों का था। इन्हें हम बुद्धिवादी इसलिए कह रहे हैं कि **चार्वाक** शब्द अर्थ ही **बुद्धिवादी** दार्शनिक है। विरोधियों ने खींचतान कर 'चर्व' धातु से इस शब्द को निष्पन्न कर 'पिव, खाद, वरलोचने' के साथ इस दर्शन को जोड़ दिया। काशिकाकार स्पष्ट कहते हैं कि '**चार्वी बुद्धिः, तत्सम्बन्धात् आचार्योऽपि चार्वी।**' इस दर्शन के आचार्य युक्ति के आधार पर अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन करते थे। इसलिए लोग इनका आदर करते थे। यह भाव काशिका के 'सम्माननोत्सञ्जन ' आदि सूत्र की वृत्ति में कहा गया है। इसके तीन रूप हैं, **प्रत्यक्षवादी, प्रत्यक्षानुमानवादी** और **संशयवादी**। इनकी युक्ति इन्हें परलोक में विश्वास करने से रोकती है इसलिए ये नास्तिक भी हैं। नवीन समय की इनकी परम्परा में **देवतात्मा** का **प्रकृतिवादी दर्शन** आता है और **साम्यवाद** से प्रभावित **एम.एन.रे का दर्शन**। दूसरा वर्ग है उन दार्शनिकों का जो परलोकवाद में विश्वास करते हैं और इसलिए आस्तिक है। ये श्रमण और वैदिक के भेद से दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं। **अवैदिक श्रमण दर्शन** की पुनः दो धाराएँ हुई, **बौद्ध** और **जैन**। जैन दर्शन अपनी अनेकान्त दृष्टि से समस्याओं का समाधान करता हुआ विकास के क्रम में आगे नहीं बढ़ा। किन्तु बौद्ध विचार सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक जैसे अनेकत्ववाद से आगे बढ़ कर विज्ञानवाद के रूप में विकसित हुआ। उस विकासक्रम का पर्यवसान शून्यवाद के अद्वयवाद में दीखता है। शून्यवाद के ही तन्त्रयानी रूप वज्रयान और सहजयान हुए। वैदिक दर्शन अनेक धाराओं में विकसित हुए। सांख्य-योग और न्यायवैशेषिक जैसे दर्शन आगम सम्बद्ध हैं। आगमाश्रित हैं मीमांसा और वेदान्त, जिन्होंने क्रमशः कर्म और ज्ञानपक्ष से अपना सम्बन्ध रक्खा। वेदान्त का विकास अनेक रूपों में हुआ। शुद्ध उपनिषदाश्रितवेदान्त **अद्वैतवेदान्त** है जिसके पुनः दो मुख्य प्रस्थान **विवरण** और **मण्डन** प्रस्थान हैं। उपनिषद् वैष्णवागमाश्रित हुए **विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद** आदि। उपनिषत् शैवागमाश्रित दर्शन **पाशुपत, प्रत्यभिज्ञा, शैवसिद्धान्त** आदि दर्शनों के रूप में और उपनिषत् शाक्तागमाश्रित अनेक अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शनों के रूप में विकसित हुए। नवीन युग में पाश्चात्यदर्शन का भी प्रभाव पड़ा। **वर्गसाँ** से प्रभावित **श्री अरविन्द** का **पूर्णाद्वैत** और **श्री रवीन्द्रनाथ** का **ब्रह्मसमाज** से प्रभावित दर्शन वैष्णववेदान्त के ही उपभेदों के रूप में प्रकट हुए। **विवेकानन्द** एवं **राधाकृष्णन्** के दर्शनों को अद्वैतवेदान्त के ही अवान्तर भेदों के रूप में ग्रहण करना चाहिए। यह भारतीय दर्शनों का स्थूल किन्तु वस्तुवादी वर्गीकरण

(Material classification) है जो परम्परागत वर्गीकरण के साथ भी सामञ्जस्य रखता है।

परन्तु इस संगोष्ठी में जिन मुद्दों को उठाया गया है वे नवीन दृष्टिकोणों से सम्पृक्त प्रतीत होते हैं। वे मुद्दे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इसलिए हैं कि आज के युग में **विश्लेषणात्मक प्रणाली** अधिक उपयुक्त समझी जाती है। आकारिक वर्गीकरण (Formal Classification) की विशेषता यह है कि उससे वस्तुतत्त्व का विश्लेषण अधिक परिच्छिन्नतापूर्वक होता है। भारतीय दार्शनिक साहित्य में इस प्रवृत्ति का साधारणतः अभाव रहा है जिसके कारण हमारे दर्शन के विद्यार्थी दार्शनिक विचार के ऐतिहासिक विकास के पक्ष से अपरिचित रह जाते हैं। आज इसकी बड़ी आवश्यकता है कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दार्शनिक चिन्तन को भी देखा जाय। मेरे एक मित्र डा० **जॉन सी० प्लॉट** ने इसी को ध्यान में रखते हुए Global Philosophy (**विश्वदर्शन**) नाम का कई भागों में ग्रन्थ लिखा है। भारतवर्ष में भी इसकी अत्यन्त आवश्यकता है कि उक्त दृष्टिकोण को अपनाया जाय। वह तभी सम्भव है जब दर्शनों की विभिन्न समस्याओं को पृथक् कर उनके विकास क्रम को दृष्टि में रखते हुए उनका अध्ययन किया जाय। इसलिए आज के युग में हमारे लिए यह उतना आवश्यक नहीं है कि भारतीय दर्शनों का हम किस रूप में वर्गीकरण करते हैं जितना यह कि हम किस प्रकार से भारतीय दर्शन की समस्याओं के अध्ययन को नवीन पद्धति से प्रस्तुत करते हैं। पाठ्यक्रमों में इसका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। आजकल भी विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शनों का जो अध्ययन चल रहा है उसमें साधारणतया प्राचीन प्रणाली का ही अनुसरण किया जा रहा है। अतः अब आवश्यकता इस बात की है कि दार्शनिक चिन्तन को पहले उसके अंगों में बाँट दिया जाय—जैसे **तत्त्वमीमांसा** (Ontology), **ज्ञानमीमांसा** (Epistemology), **आचारविज्ञान** (Ethics) आदि। और उनमें आई हुई समस्याओं का विश्लेषण उनके उद्भव और विकास के क्रम से करते हुए अद्यतन प्रवृत्तियों का भी उनमें प्रदर्शन किया जाय।

प्राचीन भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में राजनीति दर्शन (Political Philosophy) समाज दर्शन (Social Philosophy) **सौन्दर्य विज्ञान** (Aesthetics) आदि के तत्त्व भरे पड़े हैं, किन्तु उनका संयोजन कर नवीन दृष्टि के अनुसार उन्हें दर्शन की शाखा का रूप नहीं दिया गया। इसके कारण लोग यह समझ बैठे हैं कि भारतीय दर्शन का क्षेत्र संकुचित और केवल पारलौकिक है। अतः इसकी बड़ी

आवश्यकता है कि अपने विद्यार्थियों की दर्शन विषयक धारणा के विस्तार के लिए नये सिरे से उक्त प्रकार के ग्रन्थ लिखे जायँ। इसके लिए अधिकारी विद्वानों को एकत्रित कर इस प्रकार की एक वृहत् योजना बनानी चाहिए। इस कार्य के लिए अधिकारी विद्वान् वही समझे जायँ जिनका भारतीय दर्शन विषयक व्यापक ज्ञान उसके आकर ग्रन्थों के आधार पर हो, जिन्हें पाश्चात्य दर्शन का सूक्ष्म ज्ञान हो और जो पूर्व-पश्चिम के नवीनतम प्रवृत्तियों से सुपरिचित हों। ऐसे विद्वानों का चयन आज के युग में कठिन अवश्य है फिर भी इसे असम्भव नहीं कहा जा सकता है।



भारतीय समन्वय दिग्दर्शन

आचार्य डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

भारतीय दर्शनों की आलोचना करने पर यह प्रतीति होती है कि दार्शनिक सिद्धान्त सर्वथा परस्पर विरुद्ध हैं। आपात दृष्टि से परस्पर विरोध की अवगति तात्त्विक चिन्तन करने पर ज्ञानालोक में सर्वथा तिरोहित हो जाती है।

पाश्चात्त्य दर्शन का विश्लेषण व्यक्ति सापेक्ष होने से उनके वर्गीकरण में विशेष ऊहापोह कीं आवश्यकता नहीं होती है। देश, काल के साथ **तत्त्वमीमांसा, प्रमाण-मीमांसा, तर्कशास्त्र, कर्तव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान** आदि के द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण उपलब्ध है। भारतीय दर्शन की यह स्थिति नहीं है, इनके वर्गीकरण में अनेक विप्रतिपत्तियां सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं। इसका प्रधान कारण एक अखण्ड सत्य का सर्वत्र अनुस्यूत होना एवं जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में मोक्ष का निर्धारित होना है। भारतीय दर्शन एक निश्चित तत्त्व पर आधारित है और वह बुद्धि से परे श्रुति के द्वारा सिद्ध है, जिसमें ननु, नच का अवकाश ही नहीं है। ऐसी स्थिति में परस्पर विरोध की कल्पना बुद्धि का विलास या चीत्कार ही माना जा सकता है।

आचार्य **मधुसूदनसरस्वती** ने भारतीय दर्शनों का समन्वयात्मक विश्लेषण **शिवमहिम्नःस्तोत्र** की व्याख्या में प्रस्तुत किया, जिसे आचार्य **लक्ष्मणशास्त्री द्राविड** ने **खण्डनखण्डखाद्य** की भूमिका में प्रस्तुत किया और उनके शिष्य महा-महोपाध्याय डाक्टर श्री **योगेन्द्रनाथ वागची** ने अपने साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण में समीक्षा किया। आचार्य सरस्वती ने **वेदान्त कल्पलतिका** ग्रन्थ में प्रकरण के विभाजन के द्वारा दर्शन के वर्गीकरण का मार्ग भी प्रशस्त किया।

अस्तु, समन्वयात्मक दृष्टिका प्राशस्त्य दर्शन की एकतानता की सिद्धि के साथ वर्गीकरण का मार्ग निर्देशक होगा, अतः १६ वीं शती के आचार्य का मन्तव्य शास्त्री जी की भङ्गिमा में प्रस्तुत कर रहा हूं।

यह एकान्त नितान्त सत्य है कि दुःख हेय और सुख उपादेय होता है। दुःख के त्याग की इच्छा एवं सुख की प्राप्ति की इच्छा मुझे उनके कारणों के अन्वेषण के लिए बाध्य करती है। कारण का उच्छेद कार्य के उच्छेद का यत्न है इसलिए इससे अतिरिक्त प्रयास की अपेक्षा ही नहीं होती है। कारण के अभाव में कार्यमात्र का अभाव प्राणिमात्र को अनुमत है। मिथ्याज्ञान से रागद्वेष आदि दोष का उदय, इससे वाणी, मन शरीर के चेष्टास्वरूप प्रवृति का उदय, प्रवृत्ति से शुभ और अशुभ का आविर्भाव, शुभ और अशुभ के अनुसार जन्म ग्रहण और उससे दुःखानुभूति—यही **भवचक्र** या **संसारचक्र** है। इसी विषय को आचार्य **अक्षपाद** ने स्पष्ट शब्दों में कहा— **'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः"** (न्या० सू० १।१।२) मिथ्या ज्ञान दुःख भवचक्र का मूलाधार है, अतः तत्त्वज्ञान इसके मूल उच्छेद का साधन है। **तत्त्वज्ञान** अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन है। यह मतभेद का विषय ही नहीं है। इस दृष्टि से दर्शन **तत्त्वमीमांसा** है, जिस मीमांसा के लिए ऊहापोहात्मक अनेक साधन हैं।

आत्मतत्त्वविवेक में आचार्य **उदयन** ने भी समन्वय की दृष्टि से दसवीं शताब्दी में ही एक विश्लेषण प्रस्तुत किया था। **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** यह **मैत्रेयीब्राह्मण** भारतीय दार्शनिकचिन्तन का सारतम उपदेश है। इसी में भारतीय जनता का जीवन प्रवाह और आशा आकांक्षा का पर्यवसान होता है। इस ब्राह्मण का उपसंहार **'एतावदरे खल्वमृतत्त्वम्"** वाक्य से किया गया है। आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही अभ्युदय और निःश्रेयस का एक मात्र उपाय है। प्रियतमा **मैत्रेयी** को पारिव्राज्य ग्रहण की भूमिका में यह उपदेश दिया गया है। इस मूल भित्ति पर असंख्य जीवन दर्शन की धाराओं में दर्शन शास्त्र प्रवाहित हो उठता है। आचार्य **उदयन** ने भारत वसुन्धरा को आत्म साक्षात्कार के लिए श्रुतियों के मुखरित एवं युक्तियों के द्वारा मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा साक्षात्कार के लिए उपदेश किया है। आत्मतत्त्व का अपरोक्ष अवभासन ही **मोक्ष** है। आत्मतत्त्व के निदिध्यासन या उपासना में प्रवृत्त होने पर उसकी दृष्टि से अखिल जगत्प्रपञ्च को आत्मा से अतिरिक्त ही मानना होगा। यह वही अवस्था है जिस अवस्था में कर्ममीमांसाशास्त्र प्रवृत्त होता है। इस अवस्था में बाह्यदृष्टि की अतिशय प्रधानता अर्थात् लोककल्याणैषणा एवं राष्टहितैषणा की दृष्टि से **लोकायतमत बार्हस्पत्यशास्त्र** प्रवृत्त होता है। धर्मनीत्ति की प्रधानता न होकर राष्ट्रनीति या दण्डनोति की प्रधानता रहती है। यह मार्ग भी अवस्थाविशेष के आयाम में श्रुति समर्थित है—**"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्-**

पश्यति नान्तरात्मन्" (क० उ०) अनात्मवस्तु ग्रहणपटु-इन्द्रियग्राम बाह्य विषय वस्तु को ही दर्शन करती है और दृष्ट बाह्य वस्तु के परिप्रेक्ष्य में लोक कल्याण और राष्ट्र कल्याण की दृष्टि से अभ्युदय का निर्द्धारण करती है। किन्तु यह दृष्टि अन्तर्दार्शनिक चिन्ता की धारा से अनुस्यूत या अनुप्राणित न रहे तो चार्वाक दृष्टि से शरीर एवं कतिपय इन्द्रियों की दासता के रूप में बाह्य दार्शनिक चिन्ता के अनुरूप जीवनयापन की बाध्यता सम्मुख उपस्थित होगी। अतः इसे नियमित कर लोकैषणा एवं राष्ट्रैषणा की भावना को बलाधान करने के लिए एवं निष्काम कर्म के परिपोष के लिए कहा --**कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमृच्छमाना, अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः"**।[१] इस प्रकार कर्म का प्राधान्य कर्म की विभूति सम्पत्ति अर्थात् कर्तव्य को ही नियन्ता के रूप से स्थापित की। फलतः ईश्वर और ब्रह्म का निषेध या विधि उन तत्त्वों के विश्लेषण के लिए अनुपयुक्त समझ उदार हो करके जीवन यापन के मार्ग को सदाचार या शिष्टाचार या श्रुति प्रतिपादिताचार की दृष्टि से परिवृंहित कर उपसंहृत किया।

यह कर्तव्य भावना की दृष्टि बुद्ध या महावीर के आगमन काल तक सर्वात्मक रहकर एकान्त रूप में व्यक्तिगत भावना या वैयक्तिक जीवन के अनुसार सुस्थिर हो चुकी थी, सार्वभौम भावना स्व-आत्मा की परिव्याप्ति शरीरायत्त होने के कारण स्वार्थ का सन्निधान दैहिक सुख अर्थात् ऐन्द्रियक विषय परिभोग में निहित था। राष्ट्र भावना एवं लोक कल्याण भावना सर्वथा तिरोहित थी।

आत्मभूत भावना के शव पर उपासना की प्रकर्षता के आधार पर आत्मा को अर्थाकार के रूप में दर्शन किया जाता है। चिद्रूप आत्मा अर्थाकार हो जाता है, वह **विष्णु** हो, **कृष्ण** हो, **राम** हो, **शिव** हो, **बुद्ध** हो, **महावीर** हो, जिस रूप में भी हो सर्वैश्वर्य सम्पन्न वह सर्वात्मक हो जाता है। इस अवस्था में ब्रह्म परिणामवाद, त्रिदण्डीमत एवं उपासक सम्प्रदाय का आगमन और उसकी व्याख्या महाकरुणा हृदय की आर्द्रता या द्रवीभाव से सम्पृक्त है। भगवदाकारता की सार्वभौम प्रतिष्ठा जड़ चेतन जगत् पर होने से भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर आदि की अभिव्यक्ति के साथ महाकारुण्य के सञ्चार से अहिंसा एवं रागद्वेष के अभाव की प्रतिष्ठात्मिका भगवत्ता मुखरित होती है किन्तु उपासक भगवत्ता का सार्वभौम स्वरूप केन्द्रित कर देता है, एक अर्थाकार उपास्य में और अखण्ड दार्शनिक चिन्ता का हाहाकार सुनने

१. वात्स्यायन भा० ४-१-५९

को मिलता है सर्वात्मचिन्तन सम्प्रदाय के रूप में वर्ग विशेष के साथ व्यक्ति विशेष के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। संगीति, साम्प्रदायिक विशेषानुष्ठान इसे शिथिल करने में असमर्थ रहता है।

इतिहास के अवलोकन से यह भावना सुदृढ़ होती है कि मूर्ति की उपासना बौद्धों की देन है। इससे पूर्व उपनिषद् युग में मूर्ति की उपासना का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। अतः योगाचार तक के अभ्युत्थान अर्थाकारता उपासना के आधार पर मानना अनुचित नही है। **'आत्मैवेदं सर्वम्'** यह श्रुति इस मत का समर्थिका है। धर्म, अर्थ, काम इन तीन वर्गों की स्थिति उपासना की मूल भित्ति पर ही सम्भव है। कामना प्रवुर साम्राज्य अर्थाकारता या मूर्त उपासना की दृष्टि से समर्थित है। निष्काम उपासना अर्थाकार उपासना में सम्भव नहीं है। इस विश्लेषण के आधार पर यह निश्चित है कि विषयों का स्फुरण मानने के लिए वाध्यता है।

इस मूर्ति उपासना में ब्राह्मण विरोधी भावना की सुस्पष्ट झलक मिलती है। क्योंकि भगवत्ता की स्फूर्ति के साथ मानवीकरण (anthropomarphism) की भावना सन्निहित रखी जाय तो यह मानना ही होगा कि एक भी ब्राह्मण में भगवत्ता स्फुरण नहीं माना गया है, अपितु सभी क्षत्रिय बालक हैं। किंतु सनातन देववाद मानवीकरण वर्ण की भावना से सर्वथा असम्पृक्त सूर्य या आदित्य की प्रतीकात्मक उपासना की दृष्टि से भेदशून्य सकल जन की उपकृति लौकैषणा यथा स्वसुखनिरभिलाषा के साथ ऋत की अर्थाकारता के रूप में उपासना को सन्निहित करता है। दूसरे शब्दों में सनातन उपासना अखण्ड सत्य की अर्थात् ज्योति की उपासना है, जो स्वयं में एक एवं अभेद के साथ सामरस्य स्वरूप है।

इस अर्थाकार आत्मस्वरूप में दर्शन की विश्रान्ति भी लोक एवं राष्ट्र के कल्याण के लिए पर्याप्त नहीं थी अतः आत्मा की विषयाकारता के स्फुरण का निषेध कर विषय शून्य सर्वत्र अनुस्यूत आत्मा को उपासना पर बलाधान दिया। **"अगन्धमरसमचक्षरश्रोत्रम्" "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्"** इस श्रुति वचनों के आधार पर विषयादिस्फुरण शून्य आत्मोपासना सिद्ध हुई। विषयाकारता के निषेध से आत्मोपासक विषय के अभाव का दर्शन करता था, फलतः प्रपञ्चरहित आत्मस्वरूप भासमान हुआ। इस अवस्था का अवलम्बन कर वेदान्त-द्वारमात्र की स्थिति होती है। इसको वेदान्त की प्राथमिक अवस्था के रूप में उदयन

ने निर्देश किया है। विषयरहित चिन्मात्र सम्भावित नहीं है, अतः शून्यवादी माध्यमिक मत के सिद्धान्त का विश्लेषण प्रस्तुत होता है। **'असदेव सौम्येदमग्र आसीत्''** यह श्रुति इस सिद्धान्त के समर्थन के लिए पर्याप्त है। यही बौद्धों के नैरात्म्य-वाद का सार है। शून्यवाद की असद् रूपता को लेकर बौद्धों को नैरात्यवादी माना गया है। मृगमदवासनावसितवसन के संस्कार संक्रमण की दृष्टि से आत्मवाद का स्थान इस दर्शन म भी अक्षुण्ण है. अतः **उदयन ने** 'असदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इसके आधार पर **शून्यवाद** की दृष्टि ही **नैरात्म्यवाद** की मूलभित्ति है।

उपासक को इस अवस्था से निवृत्त करने के लिए अर्थात् नैरात्म्यवाद के साम्राज्य से मनुष्य का उद्धार करने के लिए **'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः'** इत्यादि श्रुतियाँ के आधार पर अग्रिम विश्लेषण प्रस्तुत होता है। यह वही स्थिति है जहाँ मानव आत्मा और विषय का विवेक दर्शन करता है, अर्थात् आत्मा अन्य है और विषय अन्य है। इस विवेक दर्शन या अन्यथाख्याति को ग्रहण कर सांख्य सिद्धान्त का उपक्रम और उपसंहार होता है। फलतः प्रकृति विश्व की जननी है, आत्मा निर्लेप है--इस सिद्धान्त का अभ्युत्थान होता है।, **'प्रकृतेः परस्तात्'** इत्यादि श्रुतियों के द्वारा इसी सिद्धान्त का समर्थन हो रहा है।

बौद्धों ने सांख्य दर्शन को अपने विवेचन का आधार अवश्य ही वनाया, किन्तु इससे आगे आ कर प्रकृति के असत्त्व के साथ चिद्रूप का भी असत्यत्व प्रतिपादन कर शून्यता के रूप में नैरात्म्य का समर्थन किया। अतः सांख्य में दो तत्त्व भिन्न रूप में अवस्थित हैं और शून्यवा में एक भी तत्त्व अवशिष्ट नहीं है। जब विषय नहीं है तब विषयशून्य ज्ञान का अस्तित्व कैसे सम्भव है? यह इस सिद्धान्त का समर्थक तर्क है।

इसी विवेक दृष्टि को लेकर इस तत्त्व शून्य, शून्यवाद के खण्डन के लिए श्रुति में कहा गया है—**'नान्यत् सत्'**। आत्मा से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ सत् नहीं है। इस अवस्था में सत् ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही सत्यत्व प्रतिपादन रहता है। इसी तात्त्विक विचार धारा को लेकर अद्वैत सिद्धान्त का उपसंहार होता है। **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह''** इस श्रुति के द्वारा इसी मत का प्रतिपादन किया गया है। शब्द और मन से अतीत आत्मा का अस्तित्व कभी भी हेय नहीं हो सकता है, अतः शून्यवाद की स्थापना सम्भव नहीं है। आत्मस्वरूपमात्र में प्रकाश की अवस्था में विषय का दर्शन नहीं होता है। यह वही अवस्था है, जहाँ

सभी एक अर्थात् सदाधार स्वरूप रहता है। "न पश्यतीत्याहुरेकी भवति" इस श्रुति के आधार पर निषिध्यमान वस्तु का उल्लेखपूर्वक उसका प्रतिपादन अभीष्ट है। **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति** आदि श्रुतियाँ अनेक का, द्वैत का निषेध करती हैं, किन्तु निषेधमुख से तत्त्व का प्रतिपादन सद्रूपता का अभाव के अधिकरण के रूप में ही प्रतिपादन है, अतः शून्यवादियों के द्वारा निषेध मुख से तत्त्व के प्रतिपादन से विरत होकर 'न द्वैतं नापि चाद्वैतम्' आदि श्रुतियों के द्वारा तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इतना ही नहीं **यद्यद्वैते न तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वदा स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम्'** (संक्षेप शारी० २-८९)। यह दर्शन जगत् की वह अवस्था है, जहाँ जीव के अविद्या संस्कार भी अभिभूत हो जाते हैं। फलतः आत्मविषयक सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति का अवसर ही नहीं रहता है। निर्विकल्पक आत्मविषयक ज्ञान के उदय की यही अवस्था है। दूसरे शब्दों में मोक्ष नगर में प्रवेश के द्वार पर अवस्थिति है। ज्ञानवान् आत्मा के रूप में स्वीकार करने वाले न्याय दर्शन का यहीं उपसंहार होता है। इतना ही नहीं तत्त्वज्ञान की स्थिति के कारण चरम वेदान्त भी यहां उपसंहृत होते हैं। इस अवस्था का प्रतिपादन आचार्य वात्स्यायन ने—**निष्काम आप्तकाम आत्मकामः स ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते**" इन शब्दों में कहा है। (वात्स्यायन भा० ४।१।५९) नव्यनैयायिक **रघुनाथशिरोमणि** ने शुद्धस्वप्रकाशचित्स्वरूपब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तानामुपसंहारः वेद्यान्तरविरहात्। इस प्रकार स्वयं ज्योतिः स्वरूप का प्रतिपादन ही दर्शन का अभीष्ट है, जो वेद के उषःकाल से एक रूप में प्रतिपादित हो रहा है।

मनुष्य भूमि से आसुरी भूमि अर्थात् देहेन्द्रिय में ममंबुद्धिमूलक प्रेरणा स्वाभाविक है। दार्शनिक चिन्तन, श्रवण एवं मनन के आधार पर दैवी प्रकृति की प्रेरणा भी उससे भी अधिक सहज एवं स्वाभाविक है। इस दैवी प्रकृति की प्रेरणा के साथ जीव की चेष्टा का सम्प्रेषण होने पर ही मणिकाञ्चन योग होता है। और यह आत्म-जीवन की उत्तीर्णता की भूमि पर विश्वजन के जीवन के निस्तार का साधन है। इस उर्द्ध्वस्रोत के बलाधान के लिए आवश्यक है विपुल चेष्टा और अभ्यास, जिससे सत्त्वशक्ति सकल देहेन्द्रिय को परिव्याप्त कर सके। अविराम जीवन संग्राम में सत्त्व तत्त्व की परिव्याप्ति के अनुस्मरण के साथ ही प्रवृत्ति सत्य पर प्रतिष्ठित लोक शिवात्मक और परम सुन्दरात्मक होता है। लोक के साथ अतिशय सान्निध्य (close relation) एकत्व या अभेद बुद्धि या निर्विकल्पक ज्ञान ही शरण है। यह अभेद बुद्धि तद्भावभावित कर देती है। जीवन के अन्त काल पर्यन्त यह स्मरण

के फलस्वरूप ध्रुवा के स्मृति की प्राप्ति के साथ नष्ट मोह विधूत मिथ्याज्ञान कर देती है। नष्टमोह निर्वेद की भूमिका है। यह निर्वेद अज्ञान नाश का उच्छेदक शस्त्र एवं discriminating अवस्था है। यही भूमि मनुष्य की unity दशा है, जो व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रतिष्ठित करती है गीता की पंक्ति—"**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥**' के अनुसार यह कहा जा सकता है कि final unity या धर्म की यह परिपूर्णावस्था है। यही से भारतीय दार्शनिक दृष्टि से morality या complete perfection या आध्यात्मिकता (spirituality) की परिसमाप्ति है। व्यक्ति से समाज के लिए दार्शनिक चिन्तन का अर्थ और समाजोद्धार के साथ परम चरम चरितार्थता है।

इस विश्लेषण से यह कहा जा सकता है कि **दर्शन का मूल लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन है।** बौद्धिक विचार का परम उद्देश्य है, विश्व में सर्वत्र अनुस्यूत एक तत्त्व में अवस्थिति या उपसंहृति है।

बुद्धि का विचार के आधार पर प्रधान कार्य एक तत्त्व की अवगति है। **सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते,** यह इक्षण ही दर्शन है। वेद से लेकर जितनी भी आध्यात्मिक चिन्तायें प्रवाहित हुई हैं सभी का एक ही उद्देश्य है, द्वैत दर्शन की एक तत्त्व में उपसंहृति अर्थात् Subject & Object रूप दो तत्त्वों को किसी एक Unity अर्थात् तत्त्व में परिपुष्टि। क्रिया विशेष बहुल इस जीवन में एक working principle या Uniform Law या विधि को ग्रहण कर चाहे नैतिक या प्राकृतिक अर्थात् Moral और Natural Law दोनों ही ब्रह्म संभूत अर्थात् एकतत्त्व का द्विधा भाव भासित होने से उन दोनों में एक नित्य तत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। यही दर्शन का प्रशस्त चरम परमयान है। यह जो भवचक्र है यह एक ऐसा वृत्त है जिस वृत्त के परिभ्रमण के साथ वह मेरु या भिन्न रूप से परिवर्तन करता हुआ अभेद या Unity and Difference में प्रवेश करता है। इसीलिए परा या अपरा नैतिक और प्राकृतिक विधि Moral Law & Natural Law पृथक् रूप में परिदृष्ट होने पर भी यह पुरुष अद्वय पुरुषोत्तम की भूमिका मात्र है। इसलिए महायान या ज्ञानयान का साधक भेद को अभेद सूत्र से आबद्ध रखता है। अन्तर्निहित शक्ति की धारणा मानव में उदय होने के साथ ही एक विराट के साथ सामञ्जस्य स्थापित होता है। कर्मभूमि से आरम्भ मानव ज्ञान क्रमशः 'स्व' में विश्रान्ति लाभ करता है। अर्थात् अपने ही द्वारा मैं संचालित हूं, यह भावना प्रकृति की अधीनता से परिक्षीण मार्ग पर अवतीर्ण करती है। यह अवस्था क्षीण कर्तृत्व

की बोधिका है और बाह्य जगत के कर्तृत्व से मुक्त होकर अन्तर्जगत् के कर्तृत्व में में प्रतिष्ठित होता है। अर्थात् अहं के साथ बाह्य जगत् का सामरस्य स्थापित होता है। यह परिपूर्णता या भेदशून्यता की भूमिका होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आदित्य के प्रकाश से सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है किन्तु जाग्रत् से स्वप्नावस्था में अन्तःप्रकाश ही सकल विश्व का प्रकाशक होता है। यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय का प्रकाश, मन का प्रकाश, बुद्धि का प्रकाश और अवसान में आत्मा के स्वयं प्रकाश राज्य में स्वयं प्रविष्ट होता है। यह वही अवस्था है जहाँ Materialism और Idealism दोनों खंडित हो पूर्ण दर्शन में प्रतिष्ठित होते हैं। इस अखंड राज्य में जिसे Spritual life कहा जा सकता है या अभेद का राज्य कहा जा सकता है इसमें कर्म जीवन सकलजनहिताय, सकलजनसुखाय होता है। वह अपनी जीवन की प्रियता को आत्ममय और ज्ञानमय के आधार पर अवश्यं भावि कर्मफल के रूप में स्वीकार करता है।

१—दर्शन में देश का विशेषण तत्त्व को दृष्टि में रख कर नही दिया जा सकता, वरन् वहाँ के तत्त्वज्ञ मनीषियों को दृष्टि में रख कर दिया जा सकता है। भारतीय-दर्शन भारतीय तत्त्ववेत्ता मनीषियों के द्वारा इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निश्रेयस के पथ प्रदर्शक सिद्धान्त को कहा जा सकता है। आध्यात्मिक साम्राज्य को अविचल-स्थिर, ध्रुव और शाश्वत मार्ग के अन्वेषक की तत्त्व दृष्टि का अनुशासक एवं नियन्त्रण करने की दृष्टि भारतीय दर्शन है जो समाज एवं राजनीति को प्रभा, भास्वरता प्रदान करता है। प्रमाण, प्रमेण, प्रमाता और प्रमिति इन चार वर्गों के स्वरूप निर्देश के लिए भारतीय दर्शन शास्त्र प्रवाहित है। प्रमेय की अवधारणा मूर्धन्य है। किन्तु प्रमाण स्वरूप कीं अवधारणा के अधीन होने के कारण प्रमाण की अवधारणा में भारतीय दार्शनिक सचेष्ट हैं। इसी तरह से प्रमिति और प्रमाता अनात्म वस्तु में आसक्ति से मुक्ति के लिए आत्मदर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन जो भारतीय जनता के जीवन प्रवाह और आशा आकांक्षा का पर्यवसान ही इस दर्शन की पीठिका है। हजारों धाराओं में प्रवाहित भारतीय दर्शन के प्रवाह का सम्पूर्ण परिचय प्रदान करना सम्भव नहीं। किन्तु इतना कहा जा सकता है **भारतीय आत्मतत्त्वद्रष्टा के द्वारा श्रुत तत्त्व का युक्तियों के द्वारा, मनन के द्वारा सम्भावित अर्थ का साक्षात्कार ही भारतीय दर्शन है।** यही दर्शन में 'भारतीयता' है। जिसे हम इसके असाधारण पहचान के रूप में मान सकते हैं।

२—ज्ञान के सौलभ्य की दृष्टि से आस्तिक-नास्तिक विभाजन चिन्ता धारा के आरम्भकाल से ही उपलब्ध है। यही कारण है कि पाणिनि ने अस्तिक शब्द प्रयोग

की सिद्धि के लिए एक सूत्र लिखा किन्तु यह भारतीय दर्शन का स्वरूप लक्षण नहीं है न कोई असाधारण विभाजक धर्म है। किन्तु किसी भी रूप में वर्गीकरण किया जाय तो भी कतिपय दर्शनों के सामान्य परिचय के लिए आस्तिक-नास्तिक शब्द प्रयोग अपरिहार्य है।

३—कोई भी दर्शन चाहे वह भारतीय हो या अभारतीय वह **विषय दर्शन** से बहिर्भूत नही होता है। जिसे साम्प्रदायिकरूप माना जा रहा है वह उस दर्शन के विषय वैशिष्ट्य का परिचायक हैं, यथा सांख्य न्याय आदि। बाद के दर्शन व्यक्ति के नाम से सम्बद्ध होने के कारण उसके पूर्ववर्ती सिद्धान्त भी साम्प्रदायिक दर्शन के रूप में माने गये हैं। किन्तु पूर्व में ये इसलिए विषय परक रहे कि उन्हीं विषयों के अध्ययन से सम्बद्ध अधिकारी अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए उस दार्शनिक चिंता में अपने को केन्द्रित कर सके। अतः पूर्व का दर्शन अपने विषय के आधार पर नाम से निर्दिष्ट है। किसी रूप में भी वर्गीकरण हो, विषय सम्बद्ध दार्शनिक संज्ञा का परिहार सम्भव नहीं। इतना सत्य है कि **जैन और बौद्ध** दर्शन जो व्यक्ति सापेक्ष है उनको विषय सापेक्ष नाम से निर्दिष्ट किया जा सकता है। और इससे सम्प्रदाय का संकीर्ण अर्थ परिष्कृत हो जायेगा। यद्यपि यह आशंका की जा सकती है कि परवर्ती काल में **शंकर, रामानुज** के आधार पर दर्शनों की परिभाषा दी गई हैं किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि ये दर्शन बादरायण सूत्र के प्रयोजन परिवेश में परिवृंहित अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि विषय सम्बद्ध वर्गीकृत हैं जो बाद में मठों के आधार पर नाम से परिचित हो गये।

४—जहाँ तक चतुर्थ प्रश्न है यह आरोपित है वेद के मंत्र भागों में ही सभ्यता और संस्कृति के आधार पर दार्शनिक चिंता उपलब्ध है। यह कोई उपनिषद् कालीन ज्ञान धारा नहीं। निःशंक होकर बहुत दिनों से ही भारतीय ज्ञानधारा के सम्बन्ध में यह आरोप है कि वेद का मंत्र भाग मात्र धार्मिक चिंता एवं याज्ञिक आलोचनाओं से परिपूर्ण है। इतना ही नहीं यह भी आरोप है कि यह असम्बद्ध प्रलाप और निःसार चिंता से परिपूर्ण है। किंतु वेद के मंत्रों के अध्ययन से यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय ज्ञानधारा की मूलभित्तिं वेद का मंत्र भाग है। भारतीय दार्शनिक चिंता का बीज मंत्रभाग में निहित है और भारतीय सभ्यता-संस्कृति का अनन्य साधारण वैशिष्ट्य उसमें सन्निहित है। राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन जागरण से उपलब्ध होता है। अतः भारतीयदर्शन मात्र धार्मिक मान्यताओं का परिपोषक नहीं वरन् विशुद्ध दार्शनिक चिंता प्रवहमान धारा से परिपुष्ट है।

५—यह मनन को मुख्यतम स्थान देने वाला भारतीय दर्शन मात्र **श्रुति** की अपेक्षा नहीं रखता, वरन् युक्तियों के आधार पर श्रुत अर्थ के निदिध्यासन की प्रेरणा प्रदान करता है। अतः यह प्रसिद्धि है कि **"मानाधीना मेयसिद्धिः"** अर्थात् प्रमाण की प्राधनता मानी गयी है। इसलिए युक्ति का मुख्यतम स्थान भारतीय दर्शन की अनन्य साधारण सम्पत्ति है। अतः युक्ति सापेक्षदर्शन है मात्र वस्तु या सापेक्ष नहीं।

६—षष्ठ प्रश्न के ऊहापोह करने पर यह तो मानने के लिए वाध्य होना पड़ता है कि भारतीय दर्शन एक ऐसे चिर शाश्वत सत्य को लेकर चलता है जिसके साथ समन्वित होना ज्ञानियों के लिए अपरिहार्य सा हो जाता है। किन्तु साधन के भेद का प्रौढ़ प्राज्य प्रताप इस दार्शनिक चिन्तन धारा में प्रतिष्ठित न रहता तो आज दर्शन के असंख्य चिन्तन धारा का स्रोत उपलब्ध न होता और सभी को समान मान्यता नहीं मिलती। वस्तुतः भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि नवीनता की जो मनन की भित्ति पर समर्थित है उसे उचित स्थान प्राप्त होता है। और आज भी यह दार्शनिक शिक्षा समाज और आचार के प्ररिप्रेक्ष्य में अक्षुण्ण नवीन धाराओं में प्रवहमान है, यथा गान्धी, अरविन्द आदि।

७—सप्तम प्रश्न के उत्तर में मैं इतना ही कहना उचित समझूंगा कि एकान्त दृष्टि एवं एकान्त रूप से अन्य व्यक्तियों का इस दर्शन के उपर आरोप ही मुझे इस दिशा की ओर भ्रान्त रूप से बढ़ने के लिए बाध्य कर रहा है। वस्तुतः **निर्वाण** ही एक मात्र भारतीय दर्शन का प्रतिपाद्य विषय नहीं है यथा न्यायभाष्य में **वात्स्यायन** ने कहा है—तदिदं तत्त्वज्ञाननिःश्रेयसाधिगमश्च यथाविधं वेदितव्यम्। **त्रयी, वार्ता, दण्डनीति** और **आन्वीक्षिकी** ये चार विद्यायें हैं। सभी के भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस हैं और उनमें भेद भी है। त्रयी का फल स्वर्ग प्राप्ति और ज्ञान है स्वर्ग आत्म साक्षात्कार फल है। अग्निहोत्रादि साधन समूह एवं ज्ञान तत्त्वज्ञान है। कर्म शास्त्र का भूजलादि का परिज्ञान तत्त्वज्ञान है। शस्य तृण इंधन की प्राप्ति निःश्रेयस है। नीति में **साम, दाम, दण्ड, विभेद** चार उपायों का यथा समय विनियोग तत्त्वज्ञान है। पृथ्वी नय और प्रजा का अनुरूप साधन निःश्रेयस है। आत्म-विद्या का आत्मज्ञान तत्त्वज्ञान और अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्रयोग है। इसीलिए ये विद्याएं परस्पर भिन्न है। अन्यथा सभी विद्याऐं त्रयी में ही अन्तर्भूत हो जातीं। अतः भारतीय दर्शन चिन्ता मात्र निर्वाण प्रयोजनपरक नहीं है। वरन् जीवन के समग्र सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक सभी समस्याओं का सम्यक् दर्शन है, अतः इसे पलायनवादी नहीं कहा जा सकता।

८—भारतीय दर्शनों का प्रदर्शित वर्गीकरण आज भी इसी रूप में परिगृहीत है और लोग इन्हीं नामों से उन्हें समझते भी हैं अतः यह वर्गीकरण प्रमाण और प्रमेय के अवधारण की दृष्टि से यदि किया जाय तो और भी समीचीन हो सकता है जैसे—प्रमाणदर्शन—न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध, जैन। इसी तरह से भारतीय तत्त्व समीक्षा-बादरायणसूत्रमूलक एवं बौद्ध दर्शन। योग दर्शन जिसमें पातंजल, बौद्ध, जैन, तंत्र आदि। इसी तरह से इसका विशिष्ट वर्गीकरण अध्ययन को सुलभ करने की दृष्टि से किया जा सकता है किन्तु मूलरूप में परिवर्तन नहीं हो सकता।



भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण

आचार्य पं० विश्वनाथशास्त्री दातार

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरं ।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ।।

(१) प्रश्न—भारतीय दर्शन से क्या समझा जाय ?

उत्तर—भारतीय दर्शन की व्याख्या करने के पहले दर्शन की व्याख्या समझनी होगी। तभी दर्शनों की भारतीयता का चिंतन संगत होगा। मतिभावात्मक मनोवृत्ति के निरूपण में कहा गया है—'नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना मतिः स्याच्छ्रुतधारिणी' शिष्यों के हित में व्यावहारिक एवं पारमार्थिक जीवन को देखते हुए शास्त्रनिष्णात मति विद्यार्थी को पुरुषार्थसाधक मार्ग का प्रकाशन कराती है। उक्त प्रकाशन करना ही दर्शन है। उक्त प्रकाशन जिन शास्त्रों में निरूपित हैं वे भी लक्षणया दर्शन कहे जाते हैं। इस व्याख्या के अनुसार भारतीय मनीषियों ने न्याय, योग, वैशेषिक आदि के समान अन्यान्य शास्त्रों को दर्शन-संज्ञा से व्यवहृत किया है यथा "दर्शनात्तस्य सुहृदो विद्यानां पारदृश्वनः ।"

दर्शन में भारतीयता

दर्शनों में जो प्रमेय निरूपित होते हैं। वे यदि प्रमाणों से पुष्ट हैं तो संवादी कहे जाते हैं। प्रमाणों के अन्तर्गत जिन प्रमाणों का उल्लेख शास्त्रों में प्राप्त होता है उनमें प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द—इन तीन प्रमाणों के बल को ही भारतीय मनीषियों ने प्रमेय के निरूपण में उपादेय माना है। इदंप्रथमतया शब्द (परोक्ष) को प्रमाण मानना भारतवासियों की भारतीयता है। मतिभाव-प्रकाशन में 'सहायसाधनादिपञ्चांगमन्त्रसंख्याफलप्रधानगुणभावस्वरूप' निर्वचन की पर्याप्ति में पूर्णता मानी गयी है। अतः दर्शनों के उपदेश अकाट्य एवं सिद्धान्त रूप हैं।

भारतीय दर्शन वेदों को सर्वांशेन सर्वोपरि प्रमाण मानता है। अनुष्ठान लक्षण प्रामाण्यकी स्वीकृति के लिए तो वेद ही अग्रगण्य है।

(२) प्रश्न—भारतीय दर्शनों का आस्तिक-नास्तिक भेद से विभाजन क्या उचित है?

उत्तर—इदं प्रथमतया शब्द प्रमाण की अधीनता में वर्णाश्रम धर्म स्वीकार करते हुए ईश्वर की सत्ता को मानना आस्तिक पक्ष है। प्रत्यक्षानुमान पर ही चलने वाला ईश्वर को न माननेवाला नास्तिक है क्योंकि उसके लिए शब्द का साधक प्रत्यक्षानुमान है।

भारतीय दर्शन का स्वतन्त्र स्वरूप

उपर्युक्त प्रत्यक्षादिप्रमाणत्रयप्रमित अर्थपरक मति के प्रकाशक को दर्शन मानते हुए आस्तिक या नास्तिक वादों का संग्रह सम्भव नहीं है। अथवा परीक्षा कीं दृष्टि से परमत प्रतिषेध एवं स्वमत-व्यवस्थापन को एक इकाई के रूप में स्वीकृत किया जाय तो पूर्वोत्तरमुखेन सभी भारतीय दर्शन संग्रहीत हो सकते हैं।

(३) प्रश्न—भारतीय दर्शनों के विषयपरक चिन्तन में सांप्रदायिक वर्गीकरण को छोड़ कर विषयपरक वर्गीकरण को स्वीकार किया जाय तो क्या बाधा होगी?

उत्तर—विषयको देखकर वर्गीकरण करने में प्रथमतः प्रश्न उपस्थित होता है कि यह चिन्तन उपासना-निरपेक्ष है या उपासना-सापेक्ष। स्मरण रखना चाहिये कि पूर्वपरंपरा के अनुसार भारतीय दर्शनों में विवेचित सभी वाद उपासनापरक हैं जैसे उदाहरणार्थ—

अद्वैतवाद — एके त्वखिलकर्माणि सन्यस्योपशमं गताः।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥

द्वैतवाद — अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥

कर्मकाण्ड — त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिकाः द्विजाः।
यजन्ते विततैर्यज्ञैः नानारूपामराख्यया ॥

उपासना निरपेक्ष चिन्तन के प्रति भारतीय मनीषी उदासीन हैं। उपासना करने के लिए प्रमाण की सापेक्षता आवश्यक है अन्यथा उपासना में भ्रम की सम्भावना हो सकती है। भारतीयता तो प्रमाणत्रय पर आश्रित है, नहीं तो भारतवासित्वेन मतों की ग्राह्यता-अग्राह्यता अविविक्त ठहरेगी। इस प्रकार विषय के वर्गीकरण में उपासना को दृढ़मूल बनाने के लिए प्रमाणों का विभाजन करना अभ्यर्हित है।

प्रमाणप्रसूत उपासनाएँ जिनमें कुछ का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनकी आलोचना करना बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं है।

प्रमाण सापेक्षता की दृष्टि से प्रायः सभी वाद उपासना में अंगतया विनियुक्त हैं जो शास्त्रों को इष्ट है। जैसा कि मंगलाचरण में उद्धृत है। **'त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्। बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते'** इस भागवतोक्ति के अनुसार द्वैत-अद्वैतवाद, वैष्णव-शैवमत आदि की विविधता परस्पर खण्डन-मण्डन के लिए नहीं है बल्कि अपने मत में उपासकों को कृतार्थ का अनुभव कराने के लिए है। शंकाओं के उत्थान से जब किसी मत को मलिन बनाने का प्रयत्न होता है तब उसके निरास के लिए तथा अपनी-अपनी उपासनाओं में दार्ढ्य एवं विश्वास को जागृत करने में **"बह्वाचार्यविभेदेन"** की उपादेयता है। बुद्धि-वैशारद्य का यह एक शिक्षण-क्रम है। यह विचार वर्णाश्रमेतर को मान्य नहीं होगा, क्योंकि उनके मत में **वेदों** के प्रति स्थलविशेष में आपेक्षिक प्रामाण्य की मान्यता है। अतः ऐसी स्थिति में सभी वाद वर्गीकृत हो जायेंगे, कहा नहीं जा सकता।

पूर्व इतिहास से विदित है कि जब तक **नास्तिकवाद** प्रमाण सापेक्ष हो उपासनारत था तब तक **वर्णाश्रम** समाज ने उसका भी आदर किया तथा जीविका आदि की समस्याओं को सुलझाया। पर जब **वर्णाश्रम** धर्म के विरोध में उन्होंने वेद प्रामाण्य की उपेक्षा आरम्भ की तब वेदाभिमत वादों से उनको पृथक् करना पड़ा। जिस मत या वाद में पूर्ण **वेदप्रामाण्य** नहीं है, उसको **भारतीय दर्शन** नहीं कहा जा सकता। भारतीय होने के लिए वेदानुयायित्व में उनको अपना योगदान करना पड़ेगा। यदि इसको इष्ट मानते हैं तो अपनी उपासना में उन वर्णाश्रम निरपेक्ष मतों के प्रचार के लिए क्षेत्र अति विस्तृत है। अतः कहना होगा कि वेदों के वर्णाश्रम विधान विशेष के अधिकारी वर्णाश्रमी ही हैं। किंबहुना वर्णाश्रमियों को अपनी-अपनी उपासना में प्रवृत्त न कराना नास्तिकवाद का लक्ष्य है तथा वर्णाश्रम के नाम पर वैदिक मर्यादा में रहते हुए ईश्वर की आराधना के माध्यम से राक्षसी प्रवृत्ति को जो पूर्ण

करना चाहते हैं उनके मोहार्थ ही उनको नास्तिक्य की ओर प्रवृत्त कराते हैं, उन मताचार्यों की इस उपकृति के लिए मनीषियों ने उनको प्रणाम किया है—**"नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने।"**

इस प्रकार सभी दर्शनों का समन्वय इष्ट है तो सभी वादों से प्रार्थना है कि वे अपने पक्ष के समर्थन में वर्णाश्रम की उपेक्षा से **वेदों** का विरोध करना छोड़ दें। अन्यथा प्रमाण सापेक्ष और प्रमाण निरपेक्ष का समन्वय करना दुःसाध्य है।

(४) प्रश्न—धर्म निरपेक्ष दार्शनिक चिन्तन का कोई वर्ग क्या बन सकता है? धार्मिक चिन्तन की धारा में स्वतन्त्र दार्शनिक चिंतन सम्भव नहीं है और न दार्शनिक दृष्टिकोण से उनका वर्गीकरण किया जा सकता है, इस मत का औचित्य कहाँ तक है?

उत्तर—धर्मनिरपेक्षता में आत्मचिंतन का लाभ क्या होगा? जब कि शमदमादि संपत्ति एवं वैराग्य के अभाव में मिथ्याभाषण, प्रतारणा आदि से निवृत्त करनेवाला नियामक धर्म का शासन नहीं रहेगा। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है—किंचित् विषय विषयक घृणा है तो **वीभत्स** है। विषय मात्र में घृणा है तो **शम** है। अतः वीभत्स के बाद ही शम की सिद्धि मानी गयी है। धर्मसापेक्षता में उत्तरोत्तर जुगुप्सा को प्रोत्साहन है। धर्म निरपेक्षता में जुगुप्सा की न्यूनता है जिसमें विलास, अनाचार, व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलेगा। अतः वर्णाश्रम धर्माचरण में आरम्भ में धर्मसापेक्षता पर ही भारतीय मनीषियों ने बल दिया है। विषयों में घृणा का पूर्ण उदय होने पर ही हीं कर्म का संन्यास है और तत्पश्चात् दर्शन चिंतन में आनन्द तथा कृतार्थता है।

धर्मनिरपेक्ष स्वतंत्र चिंतन का अर्थ है **प्रमाण निरपेक्षता** को अपनाना। वेदों की प्रमाणता इसलिए मान्य है कि ब्रह्म के यथार्थ निरूपण का सामर्थ्य प्रमाणान्तर में नहीं है। ध्यातव्य है कि वेदों के प्रमाण को सीमितार्थ में मान कर स्थलान्तरों में उसकी उपेक्षा करने में स्वतन्त्र दर्शन का कोई महत्त्व नहीं है। **शंकराचार्यजी** ने भी अध्याहार न करते हुए **उपनिषद्** के पूर्वापर वचन से ही **ब्रह्म** को सत्-चित्-आनन्द माना है, और कहा है **"औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।"** वेद की प्रामाणिकता में भ्रम रहते या निर्दोषिता का भाव न रखते हुए अंश विशेष में मानना उपनिषद् को अप्रमाण ठहराना है। सर्वांश में उपनिषद् संहितादि यथोचित प्रमाण हैं तो विभिन्न पंथों का समन्वय उपासना भेद को स्वीकार करने पर ही सम्भव है; जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है।

(५) प्रश्न—अपने मत के पक्ष में समर्थन और विपक्ष का खण्डन करने में वेदवचन को प्रमाण के रूप में उद्धृत करना भारतीय दर्शनों की युक्तिवाद की दुर्बलता है। इसको दूर करने में दार्शनिक चिन्तन की क्या प्रक्रिया हो?

उत्तर—खण्डन-मण्डन में **वेदवचन** को प्रमाण या आधार मानना युक्ति-युक्त है। पूर्वपरिगृहीत उपासना की दृढ़ता के लिए खण्डन-मण्डन है। इसका प्रयोजन दूसरे में दोष देखना, अपने इष्ट में अनन्यता, प्रेम विश्वास उत्पन्न करना है। यह विचार पत्नी की पति में निष्ठा के उदाहरण से व्यक्त है। जिससे व्यावहारिक नैतिक भाव बनाने में बाधा नहीं देखी जाती। दूसरा उदाहरण यह वैदिक वचन है। **"उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति"** इन दोनों विधानों को वेदों ने निन्दित बताया है। वेदों को सर्वांशेन प्रमाण मानने वाले मनीषियों का इस पर यह निर्णय है कि उदितानुदित होम अन्यतर पक्ष की स्वीकृति होने पर दूसरा पक्ष सदा के लिए निन्दित और त्याज्य हैं।

(६) प्रश्न—भारतीय दर्शन की नवीनता में प्राचीन सूत्रों के अनुरूप व्याख्या की जाती है। इसका अर्थ हुआ कि अति प्राचीन काल में जो मौलिक चिंतन हुआ उसके बाद उस धारा का विलोप हुआ! इस प्रकार नवीन चिंतन पिष्टपेषण ही है और उसे दूर करने के लिए भारतीय चिन्तन की क्या दिशा हो?

उत्तर—शब्द प्रमाण वेद्य अर्थ एक ही है, अप्रमाणवेद्यता अनन्त है। औपनिषद अर्थ भारतीय दर्शन के चिन्तन का विषय है, उसको उपनिषदों ने प्रकट किया है वह अर्थ प्रमाण सिद्ध है, त्रिकालाबाधित है क्योंकि निर्दुष्ट प्रमाण का बाध नहीं होता। उस चिन्तन के विपरीत चिन्तन को मनीषीगण प्रमाण प्रसूत कहने में विश्वास नहीं करते। अतः भारतीय दर्शन में उपनिषदानुमोदित नवीन चिन्तन धारा का अवकाश न होने से उसका विलोप होना इष्ट है। विद्वानों की विशेषता यही है कि मूल सिद्धान्त पर उदित आक्षेपों का समाधान कर प्रमाण सिद्ध सिद्धान्त का निर्बाध बनावें। इस दृष्टि से दर्शन की नवीनता को कोई स्थान है, कहना कठिन है। ब्रह्म के सम्बन्ध में चिंतन की नवीनता की कल्पना तो सर्वथा निराधार है।

(७) प्रश्न—भारतीय दर्शन का प्रयोजन **निर्वाण** है। आध्यात्मिक अर्थ में निर्वाण ऐहिक जीवन का आदर्श नहीं है। इसलिए भारतीय दर्शन जीवन की समस्याओं से विमुख हैं। इस आक्षेप के समाधान में क्या भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण किया जा सकता है?

उत्तर—आत्म चिन्तन का सम्बन्ध **न्याय, निर्णययुक्त दण्डता, माधुर्य नीत्युक्त सामप्रयोग सिद्धि एवं स्नेह की स्थापना** से है। उक्त पाँचों तत्त्व आदर्श जीवन

से सम्बन्द्ध हैं। राजनीतिशास्त्र ने **संन्यास की** उपयोगिता को ध्यान में रख कर ही संन्यास पर बल दिया है। विशेष विवेचन राजनीति के **'क्रोड पत्र'** में द्रष्टव्य है।

भारतीय दर्शन में चिन्तन का संबंध स्नेह के साथ इस प्रकार है। वही शासन भारतीय नित्यानुगामी सफल माना जाता है जिसमें शासक अपने प्रति देश-वासियों का सम्बन्ध स्नेहमय बना सके। स्नेह ही जीवन का प्राण है जो शुचि उज्ज्वल शृंगार रस का प्रतीक है। **साहित्यशास्त्र** में प्रेम का व्यभिचारी भाव चपलता मानी गयी है जिसका उदय राग द्वेष में होता है। उसका परिणाम अविमृश्यकारिता, ताड़न, बन्धन या वध कहा गया है जो वैर का कारण है। अतः आत्मत्राण के लिए रागद्वेष से विमुक्ति उपादेय है। बिना दर्शन के यथार्थ चितन नहीं और बिना यथार्थ तर्क युक्त विचार के रागद्वेष विमुक्ति सम्भव नहीं है। इस रीति से निर्वाण को जीवन का आदर्श न मानना नीतिसंगत नहीं है। यद्यपि विविदिषा में धर्म के अंगत्व का सिद्धान्त दर्शन सिद्धान्त को मान्य है, फिर भी नीतिसिद्धान्त की दृष्टि इससे पृथक् है अर्थात् संपूर्ण विद्या एवं तत्प्रकाशित धर्म राजधर्म की स्थापना में अंगभूत हैं, इस सिद्धान्त के पोषण में भारतीय दर्शन जिस प्रकार वर्गीकृत हैं, वह ऊपर कहा गया है।

(८) प्रश्न--भारतीय दर्शनों का नया वर्गीकरण करके उसमें बौद्ध, जैन आदि का संग्रहण करने में क्या बाधा है?

उत्तर—**वेदप्रमाण** सापेक्षता व निरपेक्षता, **वर्णा**श्रमधर्म की मान्यता व अमान्यता, पारमार्थिक सत्य की व्यावहारिक सत्य पर स्वीकृति-अस्वीकृति, शून्यवाद एवं सत्-वाद, वेदाधीन शुचिता एवं प्रमाण निरपेक्ष अशुचिता तथा पूर्वपक्ष एवं उत्तर-पक्ष के भेद जहाँ तक जागरूक हैं वहाँ तक वर्गीकरण के नाम पर किसी के भी मत को अन्धेरे में रखना भावी पीढ़ी के साथ प्रतारणा करना होगा। उक्त मतों को वर्गीकरण से पृथक् रखना ही है 'और यदि वर्गीकरण में उनको स्थान देना ही है तो पारस्परिक सहयोग देते हुए अपने-अपने स्थान में उनके तथाकथित पार्थक्य को सर्वत्र प्रत्यभिज्ञात कराते हुए यथास्थान रखने में ही प्रतारणा का अभाव सिद्ध होगा। अन्यथा भविष्य में सन्मैत्री, यथार्थवादिता, क्षीर-नीरविवेकिता को खोकर वर्तमान विद्वान अविश्वास के पात्र होंगे।



भारतीयदर्शनों के वर्गीकरण पर एक विचार

श्रीरामविहारी द्विवेदी

अनेक दार्शनिकों के द्वारा इस पर विचार होने के बावजूद आज इस प्रश्न की पुनरावृत्ति कि 'भारतीय दर्शन से क्या समझा जाय ? दर्शन में भारतीयता क्या है ? जिससे भारतीय दर्शनों की असाधारण पहचान समझी जाय' ? विषय की जटिलता का द्योतक है, फिर भी एक अकिंचन प्रयास किया जा रहा है।

जिस जगत् में हम रहते हैं और जगत के साथ जो हमारा सम्बन्ध है, उसी की सम्मिलित अवधारणा दर्शन है। प्लेटो (Plato) ने दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से बताया है (Philosophy begings in wonder) मध्ययुगीन शास्त्रीय चिन्तकों ने–' विश्वास के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति होती है (Credo ut Intelligam) प्रतिपादित किया। किन्तु आधुनिक युग का प्रख्यात् विचारक डेकार्ट् स (Descartes) ने सन्देह पद्धति [Method of Doubt] का अवलम्बन कर सन्देह को ही दर्शन की उत्पत्ति का मूल प्रतिपादित किया। डेकार्टस् ने कहा कि—ज्ञान की उत्पत्ति सन्देह से होती है [Dubeto ut Intelligam]। कुछेक ने जिज्ञासा से दर्शन की उत्पत्ति बताई है।

स्पष्ट है कि—किसी भी नई वस्तु के निर्धारण में द्विविधा का आना स्वाभाविक है। वैदिक ऋषि मनुष्य की उत्पत्ति और उनकी समस्याओं की, व्रह्माण्ड और प्राकृतिक रूपों की, ज्ञान, विचार, जीवन, कला और उसकी समस्याओं की, चिन्तन और अस्तित्व के मध्य उपस्थित मूलभूत सम्बन्धों की समस्याओं की, मस्तिष्क और पदार्थ के बीच सम्बन्ध की समस्याओं की व्याख्या करने में निरन्तर प्रयत्नशील से प्रतीत होते हैं, और वास्तव में दर्शन का क्षेत्र भी यही है।

दर्शन इस प्रश्न का उत्तर ढूढ़ता है कि इस ब्रह्माण्ड का निर्माण ईश्वर ने किया या यह अनादिकाल से मौजूद है। सबसे पहले पदार्थ का उद्‌भव हुआ या आत्मा का ? अस्तित्व का अथवा विचार का ? क्या इस जगत् का वास्तविक ज्ञान

हमारे विचार में हो सकता है ? इस जगत का अस्तित्व हमारे चिन्तन में ही है ? अथवा चिन्तन से परे भी इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है ? इन प्रश्नों के उत्तरों के साथ ही समस्त देशों में आध्यात्मिक और भौतिकवादी विचार धारा का विकास हुआ। भारतीय दर्शन को समझने की बात जहाँ उठेंगी, वहीं हमारा ध्यान चिन्तन की प्रारम्भिक विन्दु की ओर आकर्षित होगा, और सही मानने में तभी हम निष्पक्ष रूप से इसके विकास के स्वरूप को समझ सकेंगे।

"भारतीयदर्शन आत्मा का विज्ञान है"[1] कुछ विद्वान् कहते हैं। किन्तु यह कहने से पूर्व हमें सावधानी पूर्वक यथासम्भव सम्बन्धित तथ्यों को एकत्र करने के साथ ही निष्पक्ष एवं पूर्वाग्रहों से विलग और तटस्थ रहना होगा। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि विषय की उपस्थापना में हमारी धार्मिक एवं पारम्परिक मान्यताएं तो नहीं प्रवेश कर रही हैं ? वस्तुतः अपने वास्तविक स्वरूप को छोड़ा नहीं जा सकता, किन्तु विषयगत प्रयत्न निष्पक्ष होना चाहिए और तटस्थ निष्पक्षता के अभाव में यह कहने का कारण हो सकता है कि-"भारतीय दर्शनों का कार्य अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं एवं विश्वासों की पुष्टि करना है। इसलिए यहाँ के दर्शन एक प्रकार के धार्मिक चिन्तन ही है"।

फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) ने दर्शनशास्त्र के समीक्षात्मक चिन्तन को अन्धविश्वासों एवं व्यक्तिगत रुचियों को व्यक्तिगत सिद्धान्तों से बचा रहना चाहिए, कहा। इन्होंने आगे कहा है कि "आलस्य के कारण भाग्य मानकर सन्तोष करना, सुन्दरता की दृष्टि से स्वर्ग अमृत आदि की कल्पना कर, मन को बहलाना आदि दार्शनिक का कार्य नहीं है[2]। किन्तु बेकन का यह दृष्टिकोण अनुभवहीन तथा तथ्यहीन प्रतीत होता है।

यह तो स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन ब्रह्म की एकात्मकता को किसी न किसी रूप में स्वीकार करता है और विश्वास की पुष्टि आनुभविक तथ्यों की परिपुष्टता के आधार पर करता है। **ऋग्वेद** के ऋषि एक ओर इन्द्रत्व, वरुणत्व की कल्पना करते हैं, वहीं दूसरी ओर उसी पर सन्देह करते हैं कि उसे किसने देखा है[3]। किन्तु अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन्द्र, वरुण, सोमादिदेव अलग-अलग नहीं, अपितु एक

१. नारायण राव, इन्ट्रोडेक्शन टू वेदान्त पृ० ३३
२. रामअवतार शर्मा यूरोपीय दर्शन पृष्ठ ३२
३. ऋग्वेद ८।१००।३

ही शक्ति के अनेक नाम हैं[१] इसी प्रकार प्राचीन **यूनान** में भी ज्यूअ, पोसीडान, अपोलो और एथिना का स्वरूप है, साथ ही हिब्रू जाति में जेहोवा का भी यही स्थान है।

प्राचीन **भारत** की सभ्यता, संस्कृति और दर्शन के विकास की प्रक्रिया से बहुत कुछ मिलता हुआ ग्रीस देश की सभ्यता, संस्कृति और दर्शन है। ग्रीक दार्शनिकों ने सर्वप्रथम जड़-जगत् का विवेचन किया। आगे चलकर चैतन्यस्वरूप आत्मा का और बाद में जड़ और आत्मा के समन्वयात्मक रूप तत्त्व [Matter] को स्वीकारा। जिस प्रकार ग्रीक दर्शन के प्रारम्भिक विचारक जगत् या ब्रह्माण्ड के कारण की परिकल्पना अर्थात्—यह जगत् जल, अग्नि, वायु किसी एक अव्यक्त द्रव्य और परमाणु आदि का परिणाम है, मानते थे। वहीं भारतीय वैदिक ऋषि जल, अग्नि, वायु आदि पर देवत्व आरोपित कर आवाहन करते हुए दीखते हैं, जिसकी मान्यता आज भी भारत में है।

कहा जाता है कि ग्रीक दर्शन का प्रारम्भिक चिन्तन प्रकृति दर्शन है, और उसी के अन्तर्गत ज्योतिष्, गणित, प्राकृतिक ज्ञान की सम्पूर्ण शाखाओं तथा औषधि-विज्ञान तक को दर्शन की सीमा में रखा गया था। वास्तव में इन विचारकों को आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों में भेद का ज्ञान नहीं था। समय के अविरल प्रवाह में **एनेक्जिमेण्डर** (Anaximander) ने तर्क के अभाव में भी मनस को जगत् का मूल घोषित किया। आगे **पाइथागोरस** (Pythagoras) ने द्रव्य (Matter) और मन, शरीर और आत्मा, तथा ईश्वर और जगत के भेद को निरूपित किया था[२]। किन्तु पाइथागोरियन्स भी गणितीय रहस्यवाद के कारण आध्यात्मिक दर्शन का विकास करने में अक्षम रहे। आगे **सोफिस्टो** ने अपने सन्देहवादी और वितण्डावादी सिद्धान्तों के जरिए एक ऐसी पद्धति को जन्म दिया जो व्यावहारिक रूप से लाभप्रद थी। इस निकाय का सिद्धान्त व्यक्तिवादी तथा स्वार्थपूर्णता से ओतप्रोत था, और औचित्यानौचित्य का मानदण्ड मानव की संवेदनाएं और आकांक्षाएं ही थीं।

इसके पश्चात् **सुकरात** (Socrates) नामक ओजस्वी महापुरुष ने प्रत्यय को एक उच्चतर सत्ता के रूप में स्वीकार करते हुए चिन्तनशील तत्त्व अन्तश्चेतना (Spirit) को शरीर से पृथक् मान, वस्तु और तत्त्व में भेद करते हुए तत्त्व को ही

---

१. एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति। ऋग्वेद १।१६४।४६

२. छोटेलाल त्रिपाठी ग्रीक दर्शन पृ० १५

दार्शनिक चिन्तन का विषय प्रतिपादित किया। सुकरात ने ज्ञान की उपलब्धि के लिए अनेक आवश्यक शर्तों का विवेचन किया, जिसके फल स्वरूप तर्कशास्त्र का जन्म हुआ। इनके शिष्य प्लेटो के द्वन्द्व-न्याय (Dialectic) और अरस्तू के प्रथम दर्शन (First Philosophy) के रूप में नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र का विकास हुआ।

यजुर्वेद या सामवेद जो ऋग्वेद की ही शृङ्खला के हैं, याज्ञिक प्रक्रिया से ओतप्रोत हैं। यज्ञक्रिया का विकसित रूप ब्राह्मण ग्रन्थों में देखा जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद आरण्यकों की रचना हुई, जिसके कुछ अंश को दार्शनिक काव्य (Philosophical Poems) की संज्ञा दी गयी, जो आज उपनिषद् के नाम से विख्यात है। आनन्दमय जीवन की भावना से ओत-प्रोत उपनिषद् की दार्शनिक दृष्टि भौतिक एवं ऐन्द्रियक नहीं, अपितु अलौकिक एवं आध्यात्मिक है। यहीं से भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाएँ अविरल धारा में प्रवाहित हुईं।

ईशा पूर्व सातवीं शताब्दी से दूसरी शताब्दी के मध्य अनेक ऋषियों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने अपने ओजस्वी चिंतन से अनेक दर्शनों को जन्म दिया। इनमें मुख्यतः—वृहस्पति, कपिल, गौतम, कणाद, जैमिनी, वादरायण, वर्द्धमान और बुद्ध ने क्रमशः—लोकायत, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदान्त, जैन और बौद्ध दर्शन का प्रतिपादन किया।

प्राचीन भारत के इन महान दार्शनिकों ने अपने आनुभविक तथ्यों को सूत्रों और संक्षिप्त सूक्तियों में व्यक्त किए। जिसके खण्डन-मण्डन से भारतीय दर्शन विभिन्न शाखाओं-प्रशाखाओं में विकसित हुआ। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ये सूत्र इन दार्शनिक प्रणालियों के आरम्भ बिन्दु नहीं थे, अपितु ये परिकल्पनाओं के एक लम्बे दौर के समापन के सैकड़ों वर्षों से मौजूद किसी विचार के अस्पष्ट स्वरूप के स्पष्टीकरण के द्योतक थे[१]। अर्थात् इनका आरम्भ-विन्दु वैदिक वाङ्मय ही है।

प्रकृति-प्रदत्त ऐहिक जीवन की आवश्यकताओं की सामग्री तो सुलभ है ही, पर इस दुःखमय संसार में जहाँ, अनावृष्टि, बाढ़, प्रचण्ड गर्मी, भयंकर तूफान आदि का प्राबल्य है, वहीं मानवीय संवेदनाओं का, हिंसा-प्रतिहिंसा का, नीति-अनीति का, सत्यासत्य के विचार का सर्वथा अभाव है। ऐसे परिवेश में किसी दिव्य शक्ति की

१. के० दामोदरन् भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० ८५

परिकल्पना स्वाभाविक हो जाती है। इस प्रकार त्रिविधताप से सन्तप्त मानव की शान्ति के लिए भारत में दर्शन शास्त्र का आविर्भाव हुआ है। वस्तुतः मानव में दो स्वाभाविक अवधारणाएँ विद्यमान रहती हैं—(१) भौतिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली तथा (२) अलौकिक आदर्श से सम्बन्ध रखने वाली।

प्राचीन भारत के तपोनिष्ठ मनीषियों ने अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर परिवर्तनशील अनेकरूपात्मक पदार्थों के अन्तः में विराजमान एकरूपता को पहचाना। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार इस परिवर्तनशील जगत् में एक अपरिवर्तनशील तत्त्व विद्यमान है उसी प्रकार एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की सत्ता इस शरीर के भीतर विद्यमान है। वही जगत का नियामक तत्त्व ब्रह्म है, और शरीर का नियामक तत्त्व आत्मा के नाम से अभिहित है।

श्रुति हमें उपदेश देती है कि—आत्मा का साक्षात्कार करो— **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'**'[१]। आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य है। कहा भी गया है कि—"आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिर्मोक्षः"। श्रुति वाक्यों से आत्मतत्त्व का श्रवण करना चाहिए। तार्किक वृत्तियों से उसका मनन करना चाहिए तथा योग प्रतिपादित उपायों के द्वारा उसका निदिध्यासन करना चाहिए।

भारतीय दर्शन का मुख्य लक्ष्य मानव को सांसारिक दुःखों से, बन्धन से मुक्ति दिलाना है और वह मुक्तितत्त्व ज्ञान या आत्मज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है। अज्ञान ही बन्धन का मुख्य कारण है। बार-बार जन्म लेना और सांसारिक दुःखों को सहना ही बन्धन है। भारतीय दर्शन पुनर्जन्म की संभावना का नाश कर मोक्ष-प्राप्ति का उपाय-मार्ग प्रतिपादित करता है। इसीलिए अज्ञान के नाश के लिए वह निदिध्यासन की बात कहता है। निदिध्यासन का अर्थ है स्वीकार्य सिद्धान्तों का निरन्तर चिन्तन। आदर्शमय जीवन की प्राप्ति के लिए, एकाग्र चिन्तन और ध्यान हेतु योग दर्शन का विकास हुआ है। मात्र तर्क के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त स्थायी नहीं होते। और यही कारण है कि भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं जैसे—सांख्य, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शनों में भी योग का वर्णन किसी न किसी रूप में निरूपित है।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।८

भारतीय दर्शनों में अपवादस्वरूप एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है जो मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं मानता। अन्य सभी दर्शन भिन्न-भिन्न अर्थों में मोक्ष को स्वीकार करते हैं। वेदान्त और जैनादि दर्शनों के अनुसार मोक्ष से जीवन के दुःखों का मात्र शमन ही नहीं, अपितु परमानन्द की उपलब्धि भी होती है। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन का कार्य **निःश्रेयस् फल** की प्राप्ति कराना है।

अब यहाँ प्रश्न है कि क्या भारतीयदर्शन का आस्तिक नास्तिक रूप में विभाजन प्राचीन चिन्तन धाराओं की दृष्टि से उचित है। यह पहले भी लिखा जा चुका है कि किसी भी समस्या के समाधान से पूर्व उस समस्या को ठीक से समझा जाय, साथ ही इस बात का विशेष ध्यान रखा जाय कि समस्या का समाधान किसी पूर्वाग्रह या पारम्परिक और धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित न हो। ईशा पूर्व के **पातञ्जलि** के अनुसार आस्तिक का अर्थ है 'अस्ति' को मानने वाला और नास्तिक का अर्थ है वह जो 'नास्ति' को माने। यह माना जाता है कि आस्तिक वह है जो परलोक को मानता है। और 'नास्तिक' वह है जो परलोक में विश्वास नहीं करता। किन्तु इन शब्दों के साथ बाद में नये अर्थ जुड़े। वेदों की सत्ता स्वीकार करने वाली प्रणालियाँ आस्तिक कही जाने लगीं, और वेदों की सत्ता न स्वीकार करने वाली प्रणालियों को नास्तिक कहा जाने लगा[१]। इस नये वर्गीकरण के अनुसार सांख्य, न्याय-वैशेषिक, योग, वेदान्त और मीमांसा को आस्तिक वर्ग में रखा गया। वहीं लोकायत माध्यमिक, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और जैन को नास्तिक वर्ग में रखा गया।

एक अत्यन्त प्रख्यात अवधारणा कि नास्तिकवाद अनीश्वरवाद है, गलत प्रमाणित किया जाता है। यदि भारतीय दर्शन का आस्तिक-नास्तिक विभाजन ईश्वरवाद के आधार पर किया गया होता तो सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा को भी अनीश्वरवादी होने के कारण नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में गिना जाता। सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा इस जगत के उद्भव का मूलतत्त्व ब्रह्म अथवा परम चेतना के आदर्शवादी सिद्धान्त को नहीं, अपितु कोई न कोई भौतिकवादी सिद्धान्त ही मानते हैं।

भारतीय दर्शनों के वर्गीकरण के अनेक प्रयत्न हुए हैं। कुछ तो रूढ़िवादी और धर्म विरोधी प्रणालियों के रूप में विभाजन करते हैं। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा को रूढ़िवादी प्रणाली तथा लोकायत, बौद्धदर्शन और जैनदर्शन को विधर्मी प्रणाली का मानते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि स्वयं अपने आपको

---

१. नास्तिको वेदनिन्दकः।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म रूढ़िवादी मानते थे, वहीं वेदान्त को वे दर्शन की विधर्मी प्रणाली मानते थे।[१] इस प्रकार मनचाही अनेक प्रणालियों में भारतीय दर्शनों का विभाजन हो जायेगा। जैसा कि "भारतीय दर्शनों के वर्गीकरण से सम्बन्धित कुछ विचारणीय प्रश्न" में भी एक नई प्रणाली दर्शायी गयी है।

अतः अगर भारतीय दर्शन का **भौतिकवादी** और आध्यात्मवादी या **अभौतिकवादी** प्रणालियों के रूप में विभाजन किया जाय तो यह अत्यन्त यथार्थ और निष्पक्ष सा प्रतीत होता है।

अध्यात्मवाद के खेमे में वे दार्शनिक आते हैं जो आत्मा को प्राथमिकता देते हुए किसी न किसी रूप में इस जगत को ब्रह्म का कौशल मानते हैं। दूसरी ओर भौतिकवादी दार्शनिक वे हैं जो आत्मा के अलावा प्रकृति की प्राथमिकता की उपस्थापना करते हैं।

भारतीय समाज ने न केवल आध्यात्मिक या आदर्शवादी विचारों को ही अपितु भौतिकवादी विचारों को भी जन्म दिया। वैसे तो देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक लोकायत में आध्यात्मिक विचारों के उदय के सन्दर्भ में लिखा है कि— आदर्शवाद आदिम आद्य-भौतिकवाद के, जो 'आदिमवर्ग पूर्वसमाज की चेतना का द्योतक था, ध्वंसावशेषों पर हुआ।[२] इनके अनुसार न केवल लोकायत, अपितु सांख्य और योग, और यहाँ तक कि मध्ययुगीन तन्त्रवाद, कबीलों के रूप में रहने वाले लोगों के आदिमकालीन प्रजनन-सम्बन्धी जादू से उत्पन्न हुए थे, जिसे सुव्यवस्थित भाषा में आद्य भौतिकवाद कहते हैं। आद्य-भौतिकवाद में प्रकृति की धरती माता की उत्पादकता को मानव प्रजनन की प्रक्रिया का अनुकरण करके बढ़ाया अथवा आकर्षित किया जा सकता है और इसी प्रकार मानव उर्वरता प्राकृतिक उर्वरता से सम्बद्ध है,[३] पर आधारित है। इनके ही अनुसार वैदिक विश्व दृष्टिकोण एक प्रकार से आद्य भौतिकवाद की धरती का उपज था, क्योंकि वह कर्मकाण्डों से जुड़ा हुआ था[४]।

---

१. के० दामोदरन् भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० ८८

२. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय लोकायत पृ० २३ देखिए, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० ८६

३. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय लोकायत पृ० २०, ६३, ,, ,, ८५

४. के० दामोदरन् भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० १८

यहाँ विचारणीय विषय यह नहीं है कि आदर्शवाद कैसे पैदा हुआ ? बल्कि मानव मस्तिष्क की आध्यात्मवादी अवधारणाओं का प्रारम्भ अवश्य देखना होगा और वस्तुतः तभी हम निष्पक्ष प्रमाणित हो सकेंगे।

अब तो यह स्पष्ट ही है कि प्राचीन भारत में अध्यात्मवाद की दो धाराएँ थीं। एक आनुभविक तथ्यों पर आधारित थी, तो दूसरी वस्तु जगत से सम्बन्ध रखती थीं। इस प्रकार भारत की विकसित एक प्रणाली ने ऐसा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसके द्वारा मनुष्य को अपने जीवन काल में आने वाली कठिनाइयों और पीड़ाओं से मुक्ति प्राप्त हो सके।

वस्तुतः भारतीय इतिहास में भौतिकवाद ने भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखा है। भौतिकवाद ने मानवतावाद की रक्षा करते हुए जीवन के प्रति सच्चे प्रेम का सबक सिखाया और सामाजिक उत्थान का साथ दिया। भौतिकवाद के अन्तर्गत अनेक शास्त्रों, जैसे—कला, संगीत, साहित्य, नृत्य और ज्ञान, चित्रकला तथा नाट्य-शास्त्र के विकास के साथ ही यौन सम्बन्धों के बारे में अत्यन्त शिष्टतापूर्वक छानबीन की भावना भी पल्लवित हुई।[१]

भारतीय दर्शनों के वर्गीकरण के सन्दर्भ में मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि विषय का प्रतिपादन स्वरूप तत्त्वों की दृष्टि से होना चाहिए। वह प्रतिपादन भौतिक-वादी और अभौतिकवादी या अध्यात्मवादी रूप में हो सकता है। विषय के बोध के लिए तर्क आदि का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु तर्क को शास्त्र मान लेना उचित नहीं है, बल्कि तर्क को इन्ही के अन्तर्गत समझना चाहिए।



१. के० दामोदरन् भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० ९०

'भारतीयदर्शनों का नया वर्गीकरण' परिचर्चा का संक्षिप्त विवरण

दिनांक २५-४-८१ को "**भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण**" विषय पर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के मुख्यभवन के व्याख्यान कक्ष में द्विदिवसीय परिचर्चा **डा० देवस्वरूप मिश्र** के स्वागत भाषण के अनन्तर प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम संगोष्ठी के संयोजक **श्रीराधेश्यामधरद्विवेदी** ने गोष्ठी से सम्बन्धित प्रश्नावली को विद्वानों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया। तदनन्तर विश्वविद्यालय के कुलपति **डा० गौरीनाथ शास्त्री** ने अपने संक्षिप्त उद्घाटन भाषण में इन प्रश्नावलियों का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा कि—सभी दर्शनों के प्रवक्ता ऋषि थे। ऋषि सत्य द्रष्टा होते हैं और सत्य एक ही होता है। ऐसी स्थिति में यह भी विचारणीय है कि ऋषियों से सम्बन्धित इन दर्शनों में मतभेद कैसे होता है। और जैसे आस्तिक दर्शनों के तत्त्वद्रष्टा ऋषि गण थे वैसे नास्तिक दर्शन के तत्त्व द्रष्टा बुद्ध को भी ज्ञान का प्रकाश हुआ था। ऐसी स्थिति में दर्शनों का आस्तिक नास्तिक भेद करने का औचित्य क्या है?

विषयोपस्थान में धर्मों के बीच से भारतीय दर्शनों का कैसे उद्भव हुआ और किस प्रकार प्रारंभ से अन्त तक भारतीय दर्शन विभिन्न धार्मिक धाराओं से प्रभावित रहा है इसे बताते हुए **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय** ने कहा कि—वर्तमान परिस्थिति में धर्म एवं सम्प्रदायों से निरपेक्ष होकर दार्शनिक चिन्तन करना आवश्यक हो गया है। इसके लिए उन्होंने प्रस्तावित किया कि दर्शनों का **विषयानुरोधी** नया वर्गीकरण किया जाना चाहिए। अबतक शास्त्रों की मान्यताओं को विश्वसनीय बनाने में बुद्धि एवं तर्क का प्रयोग किया गया, अब स्वयं निरपेक्ष बुद्धि को ही अधिकाधिक स्पष्ट एवं विश्वसनीय बनाने की आवश्यकता है। इसके लिए उन्होंने यह भी कहा कि प्राचीन काल में ज्ञान के स्रोत अल्पतम थे। अब भौतिक विज्ञान कुछ ऐसे तथ्यों को प्रगट करता जा रहा है जिनसे विश्व का दार्शनिक चिन्तन एक नया मोड़ ले रहा है। हमें भी अपने ज्ञान की वृद्धि में यथा सम्भव उनकी उपलब्धियों की सहायता लेनी चाहिए। अन्त में उन्होंने कहा कि दर्शनों के नये वर्गीकरण और उसमें नये तत्त्व

चिन्तन की सफलता इस पर निर्भर है कि हम दर्शन को एक चिन्तन की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करें जिसके द्वारा ज्ञान को विशुद्ध से विशुद्धतर और विशुद्धतम बनाया जा सके। **उन्होंने भारतीय दर्शनों की असाधारणता को योग, तर्क, तथा मोक्ष के रूप में परिभाषित किया।**

उपर्युक्त प्रस्ताव पर विचार करने के पूर्व उस सम्बन्ध में **पं० रघुनाथ शर्मा** (भू० पू० वेदान्त विभागाध्यक्ष सं० वि० वि०) तथा **पं० बदरीनाथ शुक्ल** (भू० पू० कुलपति सं० वि० वि०) के लिखित विचार प्रस्तुत किये गये। **श्रीशर्मा जी** ने कहा कि यदि विषयों के अनुसार दर्शनों का वर्गीकरण किया जाय तो उनका अध्ययन असम्भव अथवा दुःसाध्य हो जायेगा। इसलिए सम्प्रदायानुसार वर्गीकरण किया गया है। भारतीय दर्शन के विषयों का चिन्तन ऋषियों ने स्वतन्त्र रूप से किया। **बुद्ध, जैन, बृहस्पति** आदि शास्त्रप्रवर्तकों का चिन्तन स्वतन्त्र हुआ। प्रारम्भ में सभी दर्शनों के मौलिक चिन्तन स्वतन्त्र हुए। बाद में सूत्रों का अवलम्बन करके व्याख्यान रूप से चिन्तन हुआ और हो रहा है। श्रीशर्मा जी ने अनेक दृष्टान्तों के द्वारा यह बताया है कि भारतीय दर्शन विश्वास मूलक धार्मिक चिन्तन मात्र नहीं हैं। सभी चिन्तन धर्म निरपेक्ष हैं। उन्होंने भारतीय दर्शनों का मुख्य रूप से तीन वर्गीकरण बताया—

(१) न्याय-वैशेषिक

(२) सांख्य-योग

(३) पूर्वोत्तर-मीमांसा

उन्होंने कहा कि विषयानुसार नये वर्गीकरण में **अद्वैतवाद में शून्यवाद, विज्ञानवाद, शक्त्यद्वैत, शिवाद्वैत** आदि को जो रखने का प्रस्ताव है यह कथमपि ठीक नहीं है। क्योंकि ये मूलतः अद्वैत सिद्धान्त नहीं हैं। विशिष्टाद्वैत भी मौलिक अद्वैत नहीं है।

निष्कर्ष में उन्होंने कहा कि **परम्परागत भारतीय दर्शन** पर्याप्त एवं पूर्ण है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन अपेक्षित नहीं है।

आचार्य **पं० बदरीनाथ शुक्ल** (भू० पू० कुलपति सं० सं० वि० वि०) ने भारतीय दर्शनों के विषय परक विभाजन की सम्भावना के सन्दर्भ में कहा कि भारतीय दर्शनों के प्रतिपाद्य विषयों की बहुलता है। उनमें कुछ ऐसे भी विषय हैं जो सभी

दर्शनों में समान रूप से परिगृहीत हैं, ऐसे सामान्य विषयों के आधार पर ही विषय परक विभाजन किया जा सकता है। किन्तु ये विषय उन उन दर्शनों में वर्णित अन्यान्य विषयों से अनुबद्ध हैं। अतः यदि केवल समान विषयों के आधार पर ही विभाजन होगा तो अनुबद्ध विषय के छूट जाने से विषयों का समग्र रूप से बोध न हो सकेगा। अतः विषयपरक विभाजन की उचित उपयोगिता नहीं प्रतीत होती।

उन्होंने कहा कि भारतीय दर्शन में केवल धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों की पुष्टि की गयी है। यह उचित नही हैं क्योंकि सभी दर्शनों में ज्ञान को ही निःश्रेयस का प्रमुख साधन बताया गया है। वह ज्ञान **धर्म** और **आचारों** का नहीं किन्तु **आत्म-अनात्म** सभी पदार्थों के विषय का है। परवर्ती चिन्तक अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के साथ संवाद के लिए उनके वचनों का उल्लेख करते हैं। उसका निष्कर्ष यह नहीं कि उनका युक्तिवाद दुर्बल है या उत्तरवर्ती विद्वानों में स्वतंत्र चिन्तन की क्षमता नहीं है। क्योंकि उन्होंने पूर्ववर्ती चिन्तकों की बात नयी शैली और नयी शब्दावली में प्रस्तुत की हैं।

उन्होंने कहा कि यह ठीक है कि **प्राचीन सूत्रों** को आधार बना कर बाद में विस्तृत टीकायें लिखी जाती हैं। किन्तु यह देखा जाता है कि एक छोटे से सूत्र के ऊपर जो रचना होती है, उसमें ऐसे विचार भरे रहते हैं जो पूर्ण मौलिक होते हैं।

अन्त में उन्होंने यह कहा कि हमारे देश का **धर्मशास्त्र** जो **राजशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र** भी हैं, वे यहाँ के दर्शनों के अंग भी हैं। अतः उनके अध्ययन के साथ ही किसी दर्शन का अध्ययन पूरा होता है। इधर के सैकड़ों वर्षों में दर्शनों का अध्ययन धर्मशास्त्र के अध्ययन के बिना पूरा माना जाने लगा है। इसलिए भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में समाज की दृष्टि से पलायनवादिता का आक्षेप होता है।

उपर्युक्त तीन विचारों के प्रस्तुतीकरण के अनन्तर उस पर विचार विमर्श में निम्नलिखित विद्वानों ने भाग लिए—श्रीरामशंकर त्रिपाठी, श्री हेब्बारशास्त्री, श्रीकेदारनाथ मिश्र, श्री सी० एन मिश्र, श्री सेम्पा दोर्जे, श्रीशिवजी उपाध्याय, डॉ० महाप्रभुलाल गोस्वामी, प्रो०राजाराम शास्त्री, डॉ० रेवतीरमण पाण्डेय, पं० विश्वनाथशास्त्री दातार, पं० सुधाकर दीक्षित, डा० गोकुलचन्द जैन और डा० नरेन्द्रनाथ पाण्डेय।

उपर्युक्त विद्वानों ने भारतीय दर्शन किसे कहते हैं ? और उन सबमें सामान्य रूप से वह भारतीयता क्या है ? जो इन दर्शनो को अन्य धाराओं से व्यावृत्त करती है। इस विषय पर अपने-अपने विचार व्यक्त किये।

श्री रामशंकर त्रिपाठी ने पं० रघुनाथ शर्मा तथा पं० बदरीनाथ शुक्ल के इस मत की समीक्षा करते हुए कहा कि दर्शनों का विषयानुसारी विभाजन ठीक नहीं है। यद्यपि उनका साम्प्रदायिक धार्मिक परिवेश में उद्गम एवं विकास हुआ है। फिर भी एक विषयक विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का एक साथ अध्ययन करने से उस विषय के ज्ञान में व्यापकता एवं गम्भीरता तथा विकास में सहायता मिलेगी। उन्होंने आगे कहा कि भारतीय अद्वैत सिद्धान्त का ज्ञान तभी अधिक विकसित माना जायेगा जब कि **शिवाद्वैत, शक्त्यद्वैत** के साथ-साथ **हीगेल, कान्ट** और **ब्रैडले** आदि के अद्वैत का भी अध्ययन किया जाय। इसी प्रकार प्राचीन भारतीय विद्वानों ने परमाणु विषयक जो विचार प्रस्तुत किये हैं। उसके ज्ञान के लिए एक साथ ही **वैशेषिक, वैभाषिक, सौत्रान्तिक** एवं **जैन** दर्शनों के परमाणु विषयक ज्ञान का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

श्री हेब्बार शास्त्री (रामघाट, वाराणसी) ने भारतीयदर्शन का दृष्टिसृष्टि-वाद के आधार पर विवेचन किया। उन्होंने आत्यन्तिक आनन्द को दर्शन का उद्देश्य बताया। उन्होंने दर्शन के अध्ययन में विज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार विज्ञान के सिद्धान्त परिवर्तित होते रहते हैं। जब कि भारतीय दर्शनों के सिद्धान्त अनन्त वर्षों से एक समान कायम है।

प्रो० सी० एन० मिश्र (दर्शनविभाग-भागलपुर) ने पंडित रघुनाथ शर्मा एवं पं० बदरीनाथ शुक्ल का समर्थन करते हुए कहा कि भारत में उत्पन्न विचार भारतीय दर्शन है। उन्होंने दुःख निवृत्ति में भारतीय दर्शनों की सर्व सम्मत ऐक्य धारणा को स्वीकार करते हुए धर्म दर्शन के ऐक्य पर विशेष जोर दिया।

डा० के० एन० मिश्र (दर्शनविभाग, का० हि० वि० वि०) ने भारतीय दर्शन की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा कि यद्यपि भारत में उत्पन्न लोगों का चिंतन ही भारतीय दर्शन है। किंतु विस्तृत काल के परिप्रेक्ष्य में देश-काल-परिस्थिति तथा भौगोलिक सांस्कृतिक तथा राजनैतिक परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना होगा। बृहत्तर भारत के काल में उस समय के समस्त उत्पन्न विचार भारतीय दर्शन ही हैं।

मोक्ष को भारतीय दर्शन की विशेषता बताया जाता है। किंतु पूर्ववर्ती **मीमांसा** दर्शन एवं **लोकायत** मोक्ष नहीं मानते। इसी प्रकार आधुनिकविचारकों में भी **महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य** आदि के दर्शनमोक्ष परक नहीं माने जा सकते हैं, फिर भी वे भारतीय दर्शन हैं। इस स्थिति में भारतीय-दर्शन की निश्चित परिभाषा करना कठिन है। किंतु उसके सन्दर्भ में कुछ विवरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में **पं० आनन्द झा** के विचारों को प्रस्तुत करते हुए प्रायः उन्हीं के समान अपना मत व्यक्त किया कि जीवन में गहरी रुचि, जीवन की सार्थकता, विशेष अनुभव, लोकहित के आधार पर भारतीय दर्शन को समझा जा सकता है।

श्रीसेम्पादोर्जे (उपाचार्य-तिब्बती संस्थान, सारनाथ) ने कहा कि दर्शन के साथ किसी देश को जोड़ना उचित नहीं है। उन्होंने अविद्या और उसके विरोधी विद्या के गम्भीर और व्यापक स्वरूप के विवेचन को ही भारतीय दर्शन का भेदक स्वरूप बताया। उन्होंने आस्तिक-नास्तिक वर्गीकरण की अपेक्षा भारतीय दर्शनों को आध्यात्मिक दर्शन कहना अधिक उपयुक्त माना। उन्होंने विषयानुरोधी वर्गीकरण के पथ को स्पष्ट करते हुए कहा कि **वस्तुवाद, अवस्तुवाद** जैसा वर्गीकरण करना अधिक समीचीन होगा।

प्रो. जगन्नाथोपाध्याय के विषय प्रस्तावना का विश्लेषण करते हुए **श्री शिवजी उपाध्याय** (सं० सं० वि० वि०) ने धर्म-सम्प्रदाय निरपेक्ष दार्शनिक चिंतन, वर्गीकरण, विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में आग्रह मुक्त चिंतन, व्याप्ति के नवीकरण तथा शास्त्र-मुक्तचिंतन का सुझाव दिया।

प्रो० महाप्रभुलाल गोस्वामी (सं०सं०वि०वि०) ने कहा कि यहाँ के दर्शनों का भारतीय नामकरण नितान्त अनुचित है किन्हीं पूर्ववर्ती शास्त्रों में इसका उल्लेख नहीं है। भारतीय चिंतकों में यह प्रवृत्ति भी नहीं रही है कि वे अपना उद्गम और विकास निर्देशित करें।

श्रीरामशंकर त्रिपाठी ने कहा कि दर्शन का लक्ष्य सत्य का अन्वेषण हैं। यह सभी पर लागू होता है। किंतु दर्शन का उद्देश्य जीवन का परिष्कार करना भी है। यही भारतीय दर्शन की विशेषता है।

प्रो० राजाराम शास्त्री ने कहा कि भारतीय दर्शनों का उद्गम वेदों के परिप्रेक्ष्य में हुआ। उनके अनुसार वैदिकसाहित्य में जो प्रत्यय, शब्द, भाषा विचारों

द्वारा प्राप्त थे, उन्हीं के अनुमोदन या विरोध में जिन विचारों का विकास हुआ, वह भारतीय दर्शन है।

भारतीय दर्शन के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए **पं० विश्वनाथशास्त्री दातार** (सं० सं० वि० वि०) ने **"नाना शास्त्रार्थनिष्पन्ना मतिः स्याद् श्रुत-धारिणी"** के आधार पर शिष्यों के हित को उनके व्यावहारिक एवं पारमार्थिक जीवन को देखते हुए शास्त्रनिष्णातमति को प्रगट करना दर्शन माना, जो पुरुषार्थ के साधन का मार्ग प्रकाशित करती है।

प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाणों से पुष्ट ज्ञान संवादी होता है, इसलिए दर्शन शास्त्र के द्वारा भारतीय मनीषियों ने उसे प्रकाशित किया। वास्तव में इदं प्रथमतया शब्द को प्रमाण मानना दर्शनों की भारतीयता है। **पं० दातारशास्त्री** ने भारत का निवासी होने से दर्शनों को भारतीय कहना उचित नहीं बताया। उन्होंने सम्पूर्ण के उद्गम का मूल स्रोत **वेद** को ही निर्धारित किया।

प्रो० राजाराम शास्त्री ने **पं०दातारशास्त्री** से अपने कथन की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए कहा कि दातारशास्त्री जी सभी भारतीय विचारों को वेदों से निर्गत मान कर वेदों के प्रामाण्य के आधार पर उसे वैदिक मानते हैं जबकि मैं वैदिक परि-प्रेक्ष्य में उनके संप्रत्ययों के आधार पर उद्गत विचारों को भारतीय कह रहा हूं। इस स्थिति में वेद को प्रमाण न मानने वाले उनके विरोधी स्वतन्त्र विचारों का भी उद्गम स्रोत भारतीय ही है ऐसा मैं मानता हूं।

श्री सुधाकरदीक्षित ने प्रो० राजाराम शास्त्री के विचारों पर टिप्पणी करते हुए कहा कि जिस प्रकार वैदिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में शास्त्री जी ने जो कहा है वह समस्त भारतीय वाङ्मय पर लागू होता है। मात्र भारतीय दर्शन की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वेदों के आधार पर जो आत्मा का प्रत्यय बनता है उसके परिप्रेक्ष्य में जो अनुकूल या प्रतिकूल विचार उद्गत हुए हैं, वे भारतीय दर्शन हैं। इसी प्रसंग से ज्ञातव्य है कि वेदों के आधार पर मोक्ष के सम्बन्ध में जो प्रत्यय बनता है उसे आधार मान कर जो विचार उद्भूत हुए हैं, वे सभी भारतीय दर्शन हैं। **श्री केदारनाथ मिश्र** जी का यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता कि मीमांसा दर्शन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने मोक्ष की कल्पना नहीं की, क्योंकि स्वयं जैमिनी का सूत्र है— **"सः स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्"** इसमें स्वर्ग शब्द नित्य सुखरूप मोक्ष का ही बोधक है। और इसी की प्राप्ति के लिए समस्त वैदिक कर्मों का अनुष्ठान होता है। उन्होंने आगे कहा—जिस प्रकार वैदिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में उन्नत

विचारों को भारतीय कहा जाता है तो आत्मवाद को भी भारतीय दर्शन का लक्ष्य क्यों न माना जाय।

इसके उत्तर में **प्रो० राजाराम शास्त्री** ने स्वीकार किया कि आत्मप्रत्यय एवं अनात्मप्रत्यय दोनों ही वैदिक संप्रत्यय हैं। संप्रत्यय मानकर कहा जा सकता है ?

डा० गोकुलचन्द जैन ने इस विषय पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि दर्शनों के साथ भारतीय विशेषण देना उचित नहीं है। क्योंकि जिन विषयों पर भारतीय दार्शनिकों ने विचार व्यक्त किया है। उस पर पाश्चात्य विचारकों ने भी विचार किया है। इस प्रकार कोई व्याप्ति नहीं है। जिसके आधार पर भारतीय विशेषण को उपयुक्त माना जाय।

डा० रेवतीरमण पाण्डेय ने पाश्चात्य दर्शन से भारतीय दर्शन की भिन्नता बतलाते हुए कहा कि भारतीयदर्शन अध्यात्मवादी है। जबकि पाश्चात्य दर्शन भौतिक-विज्ञानवादी है। भारतीय दर्शन धर्मपरक है जब कि पाश्चात्य दर्शन काम और अर्थपरक। उन्होंने **सर्वदर्शनसंग्रह, सर्वदर्शनसमुच्चय** तथा **डा० राधाकृष्णन** के भारतीय दर्शन में जिन विषयों का समावेश किया गया है उन विषयों की तालिका प्रस्तुत करते हुए कहा कि इतने विशाल वाङ्मय को आत्मसात करने वाला भारतीय दर्शन है।

श्रीनरेन्द्रनाथ पाण्डेय (सं० सं० वि० वि०) ने कहा कि सभी भारतीय दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति दुःखनिवृत्ति एवं सुखप्राप्ति रही है। चार्वाक और सभी मोक्षवादी दर्शन सुख के लिए दुःख को ही लक्ष्य मानते हैं। इसलिए यही लक्षण भारतीय का नियामक है।

दिनांक २६-४-८१ को **प्रो० राजाराम शास्त्री** की अध्यक्षता में सर्वप्रथम तुलनात्मक दर्शन के शोधछात्र **श्रीरामविहारी द्विवेदी** ने अपना निबन्ध पढ़ा। तदनन्तर गतदिन की परिचर्चा का सारांश प्रस्तुत किया परिसंवाद गोष्ठी के संयोजक **श्री राधेश्यामधर द्विवेदी** ने।

विषय की उपस्थापना करते हुए **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय** ने कहा—सर्वप्रथम धर्म का दर्शन से क्या सम्बन्ध है ? तथा दर्शन के प्रामाण्य के लिए शास्त्रों का क्या

योगदान है इस पर विचार किया जाना चाहिए। पुनः अन्य प्रश्नों पर चर्चा प्रारम्भ की जाय।

भागलपुर विश्वविद्यालय के उपाचार्य डा० सी० एन० मिश्र ने संवाद प्रारम्भ करते हुए कहा कि वेदों तथा उपनिषदों में धर्म को ऋत एवं सत्य के रूप में स्थापित किया गया है। मनु ने धर्म को धृतिःक्षमादमोऽस्तेयं' के रूप में प्रतिपादित किया है। इन आदर्शमय नीति वचनों में धर्म भी संगृहीत है। इनका साक्षात्कार हम बुद्धि के द्वारा करते हैं। यह बुद्धि तर्क में उलझी हुई नहीं, वरन् अन्तःप्रज्ञा रूप होगी। इसका दर्शन से सम्बन्ध बनता है। काण्ट ने भी इस अन्तःप्रज्ञा के द्वारा नैतिक धर्मों की उपलब्धि का स्वरूप बताया है।

इतिहास दर्शन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्रायः सभी सत्यचिंतक संसार में एक ही समय आविर्भूत हुए। पुनः उन्हीं के आधार पर विभिन्न व्याख्याएँ करके नया दर्शन बनाया जाता रहा। यह तत्त्वचिंतन वेद से लेकर बुद्ध, महावीर तक होता रहा और उसके बाद का भारतीय दार्शनिक चिंतन व्याख्या मात्र है। इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन में भी हुआ है। पूर्णरूप से धर्म से दर्शन को निरपेक्ष करने पर यह भारतीय दर्शन की विचार सारिणी से पृथक जैसा हो जायेगा। इस प्रकार धर्म का दर्शन से अलगावपरक चिंतन पाश्चात्य के प्रभाव से ही सम्भव होगा।

दूसरी बात यह है कि भारतीय दर्शन का सम्बन्ध आगम के साथ रहा है। वह अनुभव संसिद्ध तत्त्व का तर्क के आधार पर अनुगमन करता है। कहाँ भी है— 'श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते' पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल श्रुति पर ही आश्रित रहकर भारतीय दर्शन अनुगमन करता है। काण्ट ने तर्क की अप्रतिष्ठा स्वीकार की है तथा शंकराचार्य ने भी कहा कि यह अप्रतिष्ठा तर्क पर ही आश्रित है। न केवल वेदान्त में अपितु शून्यवाद में भी यह बात देखी जाती है। 'तर्काः अप्रतिष्ठिताः भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्।' इस प्रकार देखा जाता है कि जहाँ तर्क थक कर अपनी अक्षमता स्वीकार कर लेता है। वहाँ अन्तःप्रज्ञा के बल पर सत्य की व्याख्या करता है। इस सत्य का साक्षात्कार करने पर भी आगमगम्य साक्ष्य के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना पड़ता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया आगम का अन्धानुगमन वाली नहीं प्रत्युत् युक्ति प्रधान है।

डा० देवस्वरूप मिश्र (वेदान्तविभागाध्यक्ष सं० सं० वि० वि०) ने दर्शन से धर्म का सम्बन्ध बताते हुए कहा कि 'धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं' आदि धर्म के लक्षण

है। वैसे वेदविहितकर्मानुष्ठान ही धर्म है। दर्शन को धर्म से अलग वताने का क्या तात्पर्य है ? क्या धर्म विना दर्शन के चल सकता है ? दार्शनिक ज्ञान भी आगमोपदेश के आधार पर साक्षात्कृत होता हैं। निष्काम कर्म के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर अज्ञान का निवर्तन होता है। भारतोय दर्शन कर्मों के विधान तथा अननुविधान को बतलाता हुआ अभ्युदय साधन की ओर प्रवृत्त करता है। यहीं से धर्म एवं दर्शन बनता है।

दर्शन के प्रमाण के लिए आगम की आवश्यकता है क्योंकि विना नियामक के कार्य सम्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार बिना आगमिक (शास्त्रीय) प्रमाणों के दर्शन द्वारा साक्षात्कृत वस्तु का प्रमाणिक परिचय नहीं हो सकता।

प्रो० रामशंकरत्रिपाठी (बौद्धदर्शनविभागाध्यक्ष सं० सं० वि० वि०) ने कहा कि सत्य की परीक्षा करना दर्शन का काम है। किसी आगम पर आग्रहशील होकर सत्य का अधिगम नहीं हो सकता। सच में तो मानव को चित्तमलों को दूर कर बुद्धि के द्वारा अवितथ अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। यही दर्शन का विषय है।

श्री सुधाकर दीक्षित (सं० सं० वि० वि० वाराणसी) ने कहा—रागद्वेष से मुक्ति के लिए अन्तःकरण की शुद्धि की आवश्यकता है। और यह विभिन्न यौगिक साधनाओं आदि से सम्भव है। सत्यान्वेषण ही दर्शन है तथा सत्य ही धर्म है। यह चाहे वेद प्रतिपादित हो या अन्य प्रतिपादित हो। परन्तु यह दर्शन है इस प्रकार प्रकार धर्म और दर्शन का अटूट सम्बन्ध है।

डा० श्रीराम पाण्डेय (न्यायविभागाध्यक्ष सं० स० वि० वि०) ने कहा धर्म का दर्शन के साथ नित्य का सम्बन्ध है। तत्त्व का निर्णय धार्मिक ही कर सकता है। धर्म तथा तत्त्व पूर्णतः निर्णीत होते हैं। तत्त्व की उपपत्ति ज्ञान द्वारा होती है। ज्ञान अधिकारी को दिया जाता है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो। यह भारतीय दर्शन के विवेचन का क्रम है।

काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के उपाचार्य **डा. केदारनाथ मिश्र** ने कहा—चिन्तन दो प्रकार का होता है एक शास्त्र-प्रतिबद्ध दूसरा मुक्त या स्वतन्त्र। सम्प्रदायानुसारी चिन्तन शास्त्रप्रतिबद्ध होता है। दर्शन यदि स्वतन्त्र चिंतन बन भी जाय, तब भी धर्म के बिना उससे कोई बात नहीं बन पायेगी। पर सम्प्रदाय मूलक चिन्तन में परिपूर्णता मान ले, तब तो विचार आगे ही नहीं बढ़ पायेंगे।

इसलिए अब दर्शन की अवधारणा को स्पष्ट करना चाहिए। दर्शन का मतलब दायित्वहीन या उधार खाते का चिंतन नहीं होना चाहिए। यद्यपि भारतीय दर्शन में भी अनुभव रहित चिंतन हुआ है। क्योंकि यहां ऊह के द्वारा पुष्टि मानी गई है और शास्त्र इसके लिए प्रमाण बनते हैं।

पर इससे भिन्न स्वतंत्र विचार या चिन्तन भी चल सकता है जिसमें मानवीय उद्देश्यों, आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर विवेचन किया जाता है। **श्रीसुधाकर दीक्षित** (सं० सं० वि० वि०) ने कहा कि उन्मुक्त चिन्तन को वेद के तथ्यों को परीक्षानुसारी चिंतन से जोड़ दिया जाय तो शायद अधिक उपयुक्त होगा।

डा० गौरीशंकर दुबे (गांधीविद्यासंस्थान-राजघाट वाराणसी) ने कहा— भारतीय दर्शन अध्यात्म के सम्बन्ध में अधिक जोर देता है लेकिन सांसारिक जीवन का सम्बन्ध यदि इसका विवेचन है तो वह स्पष्ट रूप से सामने नहीं आता।

दूसरी बात यह है कि जो विचार आगे नहीं चलता है और उसमें नवीनता नहीं आती है तो वह पिछड़ जाता है। विचार हमेशा आगे रहता है और उसका व्यावहारिक प्रयोग उसके पीछें चलता है। लेकिन भारतीय दर्शन में जो कुछ कह दिया गया है वही सब कुछ है, उसके बाद चिंतन की कोई ऐसी धारा विकसित नहीं हो पायी जो आज के समाज के लिए ग्राह्य हो; इसीलिए उसके मानने वालों की संख्या दिन प्रतिदिन सीमित होती जा रही है।

प्रो० डा० देवस्वरूप मिश्र ने कहा कि यह सत्य है कि हम वैज्ञानिक साधनों का उपभोग करते हैं पर हमारा कर्मानुष्ठान ऐसा होना चाहिए जिससे **लौकिक** एवं **मोक्ष साधन** दोनों ही अधिक उपयुक्त बन सके।

प्रो०डा०आर०एस० मिश्र (काशीहिन्दुविश्वविद्यालय) ने कहा कि धर्म से दर्शन के सम्बन्ध को बताने के लिए पहले दर्शन या धर्म की परिभाषा निश्चित की जानी चाहिए। धर्म के बारे में ईसाई धर्म में बताया गया है कि **जीव का ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करना धर्म है।** इस परिभाषा के अनुसार **बौद्ध, जैन** धर्म नहीं बनेंगे। भारत में धर्म तथा दर्शन अलग अलग नहीं रहा है। पर भारतीय दर्शन का चिन्तन अमूर्तात्मक है।

क्या यह अमूर्तचिंतन समाज का भला कर पायेगा। समाज परक चिंतन को हम विदेश से निर्यात कर रहे हैं या विदेशी समाजवादी विचारों को आत्मसात कर

रहे हैं। हमको इस क्षेत्र में देखना चाहिए कि हमारा चिंतन समाज से सम्बन्धित कुछ बना है या नहीं। यदि नहीं है तो इसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। क्या भारत विदेशी सामाजिक चिंतन को स्वीकार कर पायेगा, इस पर भी विचार होना चाहिए।

प्रो० राजाराम शास्त्री ने कहा धर्म और दर्शन को अलग करने में कठिनाई होगी। क्योंकि पारलौकिक सत्ता से मनुष्य का सम्बन्ध धर्म के द्वारा होता है। धर्म से हम साक्षात्कार करते हैं। उस साक्षात्कार का अनुभव तो करते हैं कहते नहीं। कहने में वह दार्शनिक बुद्धि पर आधारित होता है। यह साक्षात्कार स्वयं में प्रमाण है क्योंकि इसको समझाने के लिए बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। बुद्धि संप्रेषण के लिए प्रतीकों के बल पर, उदाहरणों के आधार पर उसे बताती हैं। इसी को आप्तवचन के रूप में शास्त्रों में कहा गया है। सच में तो साक्षात्कृत सत्य प्रेषणीय नहीं है। क्योंकि प्रेषणीय भाषा समाज की देन है तथा सत्य का साक्षात्कार वैयक्तिक है। इस प्रकार विचारविमर्श के सन्दर्भ में दर्शन तथा भाषा का प्रश्न उठता है। शब्द प्रमाण या शास्त्र प्रमाण एक ही है और प्रमाणों का काम उस साक्षात्कृत धर्म से संवादित्व स्थापन है।

डा० कमलाकर मिश्र (का० हि० वि० वि०) ने कहा—दर्शन का कार्य सत्य को समझाना है उसके लिए तर्क ही उसकी विधि है। तर्क की सत्य तक गति है या नहीं ? यदि गति है तो हम कैसे जानते हैं कि गति है। यदि इस गति का सहारा बुद्धि मात्र है तो बुद्धि से ऊपर उसके अनुभव के data का सहारा लेना होगा। वह अनुभव धर्म के आधार पर ही होगा इसलिए ही दर्शन को धर्म पर आधारित रहना पड़ेगा।

बात को समझाने के लिए बुद्धि साधन है और बुद्धि तथा उसका तर्क अप्रतिष्ठित है, यह बुद्धि ही बतलाती है। इसलिए बुद्धि तथा अतिभौतिक तत्त्व का समन्वय ही धर्म और दर्शन का समन्वय होगा।

प्रो० जगन्नाथोपाध्याय ने पुनः विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहा— रहस्यात्मक कथन को धर्म नही कहा जा रहा है। यहां तो धर्म की पुस्तक, यज्ञ-विधान, ईश्वर-जीव मिलन, चार आर्य सत्य आदि जैसी बातों से धर्म का तात्पर्य लिया जा रहा है। यहाँ यह तय करना है कि दर्शन की सीमा उपर्युक्त के विवेचन में है या इनसे पृथक्।

प्रो० महाप्रभुलाल गोस्वामी ने कहा—मानव कर्त्तव्य निर्देश से भिन्न धर्म क्या है? ज्ञान के लिए दर्शन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन आवश्यक है। यह ही दुःख निवृत्ति का मार्ग है। यह बुद्धि का भी उद्देश्य है।

श्री नरेन्द्रनाथ पाण्डेय ने कहा--ज्ञान दो प्रकार का होता है (१) परोक्षात्मक तथा (२) अपरोक्षात्मक। साक्षात्कारात्मक ज्ञान संप्रदाय गत् मार्ग पर चलने पर मिलता है। इस प्रकार आचारपालन धर्म है तथा तत्त्वाधिगम दर्शन।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी ने कहा—सत्यान्वेषण के लिए परम्परागत मार्ग से बंधना उचित नहीं है। स्वतन्त्ररूप से सत्य का अन्वेषण किया जाना चाहिए।

श्री श्यामनारायणदीक्षित (वेदान्त विभाग सं० सं० वि० वि०) ने कहा—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के नियमों का पालन करता हुआ ही चल सकता है। इसीलिए आगमानुसार ही ज्ञान प्राप्त किया जाना चाहिए। परम्पराबद्ध क्रियानुष्ठान ही धर्म है।

श्रीसुधाकर दीक्षित ने कहा—धर्म विश्वास पर आधारित है दर्शन साक्षात्कार पर। यागादिधर्म को मीमांसक स्वीकार करते हैं इनकी फलाधायकता अधिकतर है इनसे उत्पन्न अदृष्ट को नैयायिक धर्म मानते हैं।

श्रीविश्वनाथशास्त्री दातार ने कहा—यज्ञादि कर्म का पर्यवसान शुचिता में है। राग, द्वेष, विरहित होने पर शुचित्व वृत्ति उदित होती है। कभी-कभी साधनों का प्रयोग वीभत्स भाव की उत्पत्ति में भी किया जाता है। इस वीभत्स से मन में जुगुप्सा की मनोवृत्ति पैदा होती है। फलतः व्यक्तित्व शुचिता की ओर बढ़ता है। इस प्रकार धर्म का तात्पर्य अशुचिता से निवृत्ति कराकर शुभ की ओर प्रवृत्त कराना है। यही धर्म करता है और दर्शन भी इसी ओर उन्मुख होता है। फलत धर्म दर्शन का भेद नहीं ऐक्य ही है।

दर्शनों का वर्गीकरण

भारतीय दर्शनों का नवीन वर्गीकरण किया जा सकता है या नहीं? इस विषय की प्रस्थापना करते हुए **प्रो०जगन्नाथ उपाध्याय** ने कहा **पं० रघुनाथ शर्मा** ने अपने निबन्ध में कहा है कि नवींन वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं है। हमारे दर्शनों के पूर्व वर्गीकरण पूर्ण एवं अन्तिम रूप से है। **पं० बदरीनाथ शुक्ल** ने कहा है कि नये प्रस्तावित वर्गीकरण में बहुत से विषयों के छूटने की सम्भावना है। समानता के

आधार पर किया गया वर्गीकरण शास्त्रों के गम्भीर चिन्तन में सहायक नहीं है। उपस्थित विद्वद्जनों को इस पर विचार करना चाहिए।

प्रस्तावित विषय पर बोलते हुए **डा० सी० एन० मिश्र** (भागलपुर विश्वविद्यालय) ने कहा—वर्गीकरण को सिद्धान्त आधारित होना चाहिए। यदि (क) वर्ग का वर्गीकरण तत्त्व की संख्या पर आधारित है तो उसे निम्नलिखित प्रकार से बनाया जाय—

(१) **अनेकवाद** (Pluralism) चार्वाक, न्याय, वैशेषिक, जैन, मीमांसा और सर्वास्तिवाद।

(२) **द्वैतवाद** (Dualism) सांख्ययोग, और मध्व।

(३) **एकवाद** (Monism) विज्ञान भिक्षु का सांख्य।

(४) **अद्वैतवाद** (Non-Dualism) अद्वैतवादी।

नहीं तो दार्शनिक चिन्तन को आधार बनाकर यदि वर्गीकरण करना है तो उसको निम्नलिखित अंगों में बाटा जाय जैसे—

(१) ज्ञानमीमांसा (Epistemology)।

(२) तत्त्वमीमांसा (Ontology)।

(३) आचार विज्ञान (Ethics)।

(४) राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy)

(५) समाजदर्शन (Social Philosophy)

(६) सौन्दर्य विज्ञान (Aesthetics)

प्रस्तावित वर्गीकरण की समालोचना करते हुए **डा० के० एन० मिश्र** (का० हि० वि० वि०) ने कहा—प्रस्तावित वर्गीकरण में कोई नवीनता नहीं है। दर्शनों के प्रतिपाद्य विषयों के विकास क्रम को समझा कर यदि विभाजन किया जाय, तो इससे तत्तत् दर्शनों के आनुषंगिक विषयों में भी ज्ञान बने रहेंगे और यह परिचय ऐतिहासिक होगा। वर्तमान में जो दर्शनों का ऐतिहासिक इतिहास बताया जाता है वह दर्शनों का संक्षेप मात्र है, न कि क्रमिक विकास का इतिहास। इसलिए विशेष दर्शनों के विशेष प्रत्ययों की सेटिंग को समझ कर प्रत्ययों के विकास क्रम का इतिहास लिखा जाना चाहिए। इसमें साम्प्रदायिक ज्ञान के साथ-साथ विकासात्मक ज्ञान भी सम्भव होगा। इस प्रकार के अध्ययन से दर्शन के विद्यार्थी को काफी लाभ हो सकेगा।

प्रो० राजाराम शास्त्री ने कहा—दर्शन के दोनों प्रकार के वर्गीकरण बन सकते हैं, **साम्प्रदायिक** तथा **विषयगत**। पर यदि सम्प्रदायगत विषय वस्तु को निकाल कर अन्य के साथ जोड़ दिया जाय तथा उसको अध्ययनाध्यापन का विषय वस्तु बनाया जाय तो उससे समग्रता की जगह पर एकरूपता आयेगी। जैसे **आरम्भवाद** के वाद **पणिामवाद** और पुनः **विवर्तवाद** विकास के क्रम में दिखाई देता है। पर आज विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि वह **आरम्भवादी** है। इसलिए विकास क्रम का मतलब यह नहीं होना चाहिए कि पूर्व का दार्शनिक संप्रत्यय अब विकास क्रम में अर्थहीन हो गया है। प्रत्युत दार्शनिक चिन्तन देश काल में परिच्छिन्न नहीं होता है। हर विकास क्रम को जानने के लिए इतिहास क्रम को रखा जा सकता है।

साम्प्रदायिक ढंग से अध्ययन करने पर खण्डन मंडन के क्रम में अन्दरूनी विकास का बोध होता है। सम्प्रदायगत विकास क्रम के साथ अध्ययन करने पर स्वतः विकास का बोध हो जायेगा। न्यायों का अध्ययन अनुसंधान करने वाले करेंगे। पर इसके लिए अलग विभाजन करके उनका एक वर्गीकरण करना उचित नहीं है।

श्रीसुधाकर दीक्षित ने कहा—वर्गीकरण विषय के ज्ञानवृद्धि में सहायक होता है। अतः भारतीय दर्शन अनादि काल से वर्गीकृत है। पर यदि एक नया वर्गीकरण करना हो तो प्रमाणों के आधार पर एक वर्गीकरण किया जा सकता है। वास्तव में दर्शनों का कोई ऐतिहासिक क्रम सम्भव नही है। क्योंकि ये अनादिकाल से वेदों से ही उद्धृत हैं। अतः ऐतिहासिक क्रम से इनका वर्गीकरण सम्भव नहीं है। विद्वानों की सामान्यतया राय थी कि यदि वर्गीकरण आवश्यक ही हो तो उसके लिए **वर्कशाप** का स्वरूप देकर आयोजन होना चाहिए, सामान्य गोष्ठी में इस बात को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है।

अन्तिम प्रश्न को प्रस्तुत करते हुए **प्रो० उपाध्याय** ने कहा—जीवन की वर्तमान समस्याओं के समाधान में दर्शन का चिन्तन होना चाहिए। **समता** एक मूल्य है। यह मूल्य राजनीति, अर्थनीति तथा नैतिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार का है। दर्शन की पुरानी दृष्टि को क्या नये मूल्यों के अनुसंधान तथा विश्लेषण में नहीं लगाना चाहिए ? हमारे दर्शन प्राचीन हैं तथा समस्यायें नवीन हैं तो क्या इनका सम्बन्ध पुराने विचारों को नए सन्दर्भ में रख कर नहीं किया जा सकता ?

प्रो० राजाराम शास्त्री ने कहा—जैसी चुनौती विद्यार्थी को मिलती है पाठ्यक्रम में उसको ध्यान में रख कर विचार किया जाना चाहिए। पर समाज की समस्या या अर्थ की समस्या की चुनौती को **दर्शंव में कैसे रखा जा सकता है ?** प्रत्येक शास्त्र

उन समस्याओं के समाधान के लिए दर्शन बनाते हैं। अतः दर्शन का मात्र काम है कि वह देखे कि जो दार्शनिक परिप्रेक्ष्य समस्याओं के समाधान के लिए रखा गया है वह दर्शन की दृष्टि से उचित है या नहीं। जैसे द्वन्द्वात्मक भूतवाद का कैसे विकास होगा, इसको जानना अपनी परम्परा एवं दार्शनिकता के क्रम में आवश्यक है।

डा० सी० एन० मिश्र (भागलपुर) ने कहा—यद्यपि भारतीय दर्शन का चिन्तन मोक्ष या निर्वाण के लिए है। फिर भी नई समस्याओं के समाधान के लिए नये सिरे से विचार होना चाहिए। नयी पद्धति के दर्शन का अध्ययन करने पर समस्याओं के समाधान के उपाय मिल सकते हैं।

श्रीदातारशास्त्री ने कहा—भारतीय शास्त्रकार जीवन की समस्याओं पर विचार करते हैं। न्याय पढ़ने का यह अर्थ नहीं है कि वह लोक व्यवहार से अनभिज्ञ रहे। नीति से च्युत होने पर जीवन अंधकारमय लगता है। पर जगत् की उपकार बुद्धि का विकास होने पर समस्याओं का समाधान भारतीय चिन्तन की दिशा से भी हो सकता है।

पं०सुधाकर दीक्षित ने कहा—भारतीय दर्शन जीवन की समस्याओं से अछूते नहीं हैं। **गौतम** ने प्रत्यक्ष के विवेचन के साथ प्रवृत्ति एवं दोष का भी विवेचन किया है। इन्हें आज के सन्दर्भों में न सोचने से समस्याओं का निदान अपने दर्शनों में नहीं दीख रहा है। पर इस तरह का चिन्तन यदि प्रारम्भ किया जाय तो सबका समाधान भारतीय दर्शनों के माध्यम से किया जा सकता है। **वैशेषिकदर्शन** में भी साङ्गोपांग रूप में वह आचार शास्त्र विवेचित है जो सामाजिक दर्शन का प्रशस्त आधार बन सकता हैं।

डा० रामशंकर मिश्र (का० हि० वि० वि०) ने कहा—भारतीय दर्शनों में आधुनिक जीवन से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान का तत्त्व तो मिल सकता है, पर भारतीय दार्शनिकों ने अपने शास्त्रों में जीवन सम्बन्धी बातों पर कम ध्यान दिया है। यहाँ **प्लेटो, अरस्तू** के समान दर्शन के साथ सामाजिक समस्याओं या जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए दार्शनिक चिन्तन नही उपलब्ध है। हमारे यहां केवल **तत्त्वप्रमाण** आदि मीमांसायें ही उपलब्ध हैं सामाजिक दर्शन नहीं। इसलिए आज के दर्शन को इन सामाजिक समस्याओं का भी दर्शन प्रस्तुत करना ही चाहिए।

अन्त में **प्रो० उपाध्याय** ने कहा—परिचर्चा के बाद संक्षिप्त में चर्चित बातों का रखा जाना तथा उस पर विद्वानों की राय जानना आवश्यक होता है। पर इतने

कम समय में यह संभव नही है। मैं दो एक प्रकार की बातों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूंगा।

इस संगोष्ठी में दो प्रकार की प्रवृत्तियां ध्यान में आ रही है। (१) **परम्परागत** तथा (२) **नवीनतावादी**। एक परम्परा से नवीनता की ओर ले जाने वाले लोग थे तो दूसरे दो टूक बातें रखने वाले परम्परावादी लोग भी थे। इस प्रकार के विचार से पंडित में भी नयी समस्याओं के समाधान के लिए विवेक जगेगा।

अन्त में गोष्ठी के संयोजक **श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी** ने काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, सारनाथ तिब्बती संस्थान, गांधी संस्थान राजघाट, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्याल के छात्रों, अध्यापकों के साथ **डा० सी० एन० मिश्र** भागलपुर को धन्यवाद दिया।

श्री राधेश्यामधर द्विवेदी



नये दर्शनों की संभावनायें

[ग]

यह संगोष्ठी २९, ३० एवं ३१ मार्च १९७६ में सम्पन्न हुई थी।

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित् । महा० शान्ति० २९९।२०

To be radical means to go to the roots,
and the root is man himself–Max. द सेन सोसाइटी पृ० ३५३

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछें बता तेरी रज़ा क्या है—इकबाल

भारतीय चिन्तन परम्परा में नये दर्शनों की सम्भवनायें

श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी

अनवरत चिंतन और नयी जिज्ञासाओं के समाधान के बीच दर्शन की उर्बरता उभरती है। भारतीय दर्शनों ने सामाजिक प्रश्नों की अपेक्षा जीवन के अन्तरंग प्रश्नों के समाधान में शताब्दियों तक गंभीर एवं व्यापक चिंतन किया है। पाश्चात्यदर्शनों ने समाज, राज्य, विज्ञान और जीवन के विविध विकसमान सन्दर्भों के व्यापक आयाम में उभरते नये प्रश्नों की ओर अधिक ध्यान दिया। फलतः पाश्चात्य दर्शन जिस मात्रा में जीवन के बहिरंग प्रश्नों से आज तक जुटे रहे हैं, उस मात्रा में भारतीयदर्शन उससे संशक्त नहीं हुए। भारतीय दर्शनों की गौरवशाली पृष्ठभूमि में नये प्रश्नों के सन्दर्भ में नये चिंतन के लिए पर्याप्त अवसर है। इसके लिए यह आवश्यक है कि नये सन्दर्भ में प्राचीन विचारों की बार-बार मीमांसा की जाय, जिससे नये विश्लेषण एवं वर्गीकरण से विचारों का नवीनीकरण हो। इसके पहले कि हम किसी आशाप्रद निष्कर्ष पर पहुँचें, यह आवश्यक है कि सभी स्थितियों में कुछ चिरन्तन प्रश्नों पर विचार किया जाय, जिससे निष्कर्ष यह निकले कि आधुनिक सन्दर्भ में दर्शन एवं जीवन का लक्ष्य क्या है? दर्शन का विषय और क्षेत्र क्या है? इस प्रकार चिंतन से एक ओर अनुभव एवं तर्क की नई विधियों के विकास की भी सम्भावना बढ़ेगी और दूसरी ओर नये प्रस्थानों के निर्माण द्वारा नये दार्शनिक तथ्यों के उद्गम् के लिये अवसर मिलेगा।

ये ही कुछ विचार हैं जो प्रेरित करते हैं कि भारतीय परम्परा में नये दर्शनों के उद्भव पर विचार किया जाय। यहां विचार को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित प्रश्न प्रस्तुत किये जा रहे हैं। जिनका प्रतिदिन विवेचन होगा।

प्रथम दिवस २९-३-७६

विषय :—दर्शन सम्बन्धी भारतीय एवं पाश्चात्य विचार (उद्देश्य, विधि, क्षेत्र)

(१) दर्शन शब्द से क्या अभिप्राय है ?

(२) क्या भारतीय एवं पाश्चात्यदर्शन के दर्शनप्रत्यय से सम्बन्धित विचार एक सा है या भिन्न-भिन्न ?

(३) दर्शन का उद्देश्य और सत्य प्राप्ति से क्या सम्बन्ध है ? सत्य क्या है ? विचार या विचार से भिन्न।

(४) भारतीय दर्शनों का उद्देश्य क्या अज्ञान को दूर करना मात्र है ?

(५) दर्शन की उपयोगिता क्या है ? क्या उपयोगिता के आधार पर दर्शन का विवेचन होना चाहिए।

(६) मानवकल्याण का दर्शन से क्या सम्बन्ध है ?

(७) क्या संतों का अनुभव दर्शन की कोटि में आता है ?

(८) क्या दर्शनों के विकास के लिए धर्मनिरपेक्षता आवश्यक है ?

(९) नये चिंतन के लिए क्या वादनिरपेक्ष होना आवश्यक है ?

(१०) मानव का सर्वोत्कृष्ट महत्त्व स्थापित करना क्या दर्शन का एक उद्देश्य है ?

(११) दार्शनिक चिन्तन ने क्या वास्तविक समस्याओं को उलझा रखा है ?

(१२) भारतीय दर्शनशास्त्र अनुभव जगत् को महत्त्व देता है या अनुभवातीत को ?

(१३) निःश्रेयस इहलौकिक है या रहस्यात्मक है।

(१४) क्या भारतीय धर्मों एवं नीति का भारतीय दर्शनों से सम्बन्ध है ?

(१५) दर्शन का क्षेत्र क्या है ? और वह किन-किन विषयों पर विशेष रूप से ध्यान देता है।

(१६) 'पाश्चात्यदार्शनिक बाह्य एवं समाज की ओर अधिक उन्मुख है तो भारतीयदार्शनिक अन्तः तथा व्यक्ति की ओर' इस कथन में यथार्थता कहाँ तक है ?

(१७) क्या जगत् को मिथ्या न मानकर भी श्रेष्ठ भारतीयदर्शन नहीं बन सकता ?

(१८) विकासवाद भारतीय दर्शनों के अनुकूल क्यों नहीं है ?

(१९) क्या दर्शन मूल्य मीमांसा (पुरुषार्थ) है ? धार्मिक मूल्य एवं दार्शनिक मूल्यों में क्या अन्तर है ?

(२०) दर्शन के अध्ययन की कौन-कौन सी प्रक्रियायें हैं तथा उनमें कौन-सी श्रेष्ठ हैं ?

(२१) दार्शनिकविधि एवं वैज्ञानिकविधि में क्या सम्बन्ध है ?

द्वितीय दिवस ३०-३-७६

विषय :—आधुनिक जीवन मूल्य और प्राचीन आध्यात्मिक दर्शन।
(समाज, राज्य, धर्म और विज्ञान

(१) भारतीय दर्शन आध्यात्मिक है, इसका अर्थ क्या है ?

(२) क्या भारतीय दर्शनों की इहलौकिक एवं आभ्युदयिक व्याख्या भी की जा सकती है ?

(३) अध्यात्म का समाज से क्या अनिवार्य सम्बन्ध है ?

(४) समाज, राज्य एवं अर्थ सम्बन्धी दुःखों से मुक्ति क्या दार्शनिक मोक्ष के अन्तर्गत है ?

(५) भारतीयदर्शनों की आधुनिक समतावादी मूल्यों से क्या सम्बन्ध है ?

(६) भारतीयदर्शन की दृष्टि से मानव के मूल अधिकार क्या है ?

(७) विभेदों को हटाने के लिए क्या वैशिष्ट्य को हटाना आवश्यक नहीं है ?

(८) भारतीयचिंतन में स्वाधीनता और दर्शन का क्या सम्बन्ध है ?

(९) क्या भारतीयचिंतनपरम्परा में नये जीवन दर्शन बनने की सम्भावना है ?

(१०) धर्म और नोति में क्या भेद है और उसका दर्शन से क्या सम्बन्ध है ?

तृतीय दिवस ३१-३-७६

विषय :—भारतीय दर्शनों का नवीन वर्गीकरण एवं नये प्रस्थान।
(परम्परागत, विषयगत, तथा अन्य)

(१) भारतीय दर्शनों का नया वर्गीकरण क्या आवश्यक है ?

(२) क्या पाश्चात्य दर्शनों के वर्गीकरण से भारतीय दर्शनों के नये वर्गीकरण में कुछ लाभ लिया जा सकता है ? भारतीय दर्शन के सांप्रदायिक वर्गीकरण की जगह विषयाधारित वर्गीकरण क्या उचित होगा ?

(३) भारतीय दर्शन की दृष्टि में दर्शन शब्द के प्रयोग का क्या अभिप्राय है ? जिसमें एक ओर षड्दर्शनों, बौद्धों, जैनों का संग्रह हो जाता है और दूसरी ओर व्याकरण, आगम, तन्त्र आदि भी संगृहीत हो जाते हैं ?

(४) नये प्रस्थानों में भारतीय दर्शनों के वर्गीकरण से ज्ञान में व्यापकता आयेगी या ह्रास।

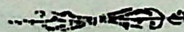
(५) क्या भारतीय दर्शनों के तीन नये प्रस्थानों को स्वीकार किया जाय, जैसे—

(क) सन्तदर्शन—जिसमें सिद्ध, नाथ था, अन्य सन्त लोगों के विचारों का संग्रह हो।

(ख) नव्यभारतीय दर्शन—जिसमें श्री तिलक, श्री अरविन्द, श्री जे० कृष्णमूर्ति, श्री एम. एन. राय, श्री आर० जी० रानाडे, श्री इकबाल तथा श्री के. सी. भट्टाचार्य।

(ग) व्यावहारिक दर्शन—जिसमें शिक्षादर्शन, समाजदर्शन, राजनीतिदर्शन, आचारदर्शन आदि का सन्निवेश हो और इस सन्दर्भ में भारतीय परम्परागत चिन्तन भी निकले।

उपर्युक्त विवरण सभी माननीय विद्वानों को इस सन्दर्भ में भेजे जा रहे हैं कि आप वर्तमान जीवन की समस्याओं का आकलन कर एक नवीन दर्शन की सम्भावना पर अपना विचार प्रस्तुत करें। विचारों को एक जगह संकलित करते वक्त लगा कि परम्परावादी विद्वान् नये दर्शन के पक्ष में नहीं हैं तथा नये अध्ययनशील दार्शनिक नये दर्शन की सम्भावना पर पूर्णरूप से सहमत हैं। संस्कृत-विश्वविद्यालय परम्परावाद का पोषक है फलतः वह भी नये विचारों के सन्दर्भ में कम ही उत्साह दिखा पाता है। पर आज जिस प्रकार हम मानवीय समस्याओं से घिरे हुए हैं उस पर विचार न करना अपना आत्मघाती स्वरूप प्रस्तुत करना है। परम्परावाद के कुछ मूल्य समाज में जन्मतः प्राप्त हैं उन मूल्यों का सुधार यदि हम अपने धार्मिक, दार्शनिक एवं नीति ग्रन्थों के सन्दर्भ से प्रस्तुत करें तो वह अधिक ग्राह्य होगा। हमारा समाज से कटाव हमारे भविष्य के लिए अच्छा नहीं है। इसी सन्दर्भ में **तुलनात्मकदर्शनविभाग** द्वारा नये समायोजन का यह कार्य सम्पन्न किया गया है। परम्परावादी विद्वानों को इसमें आगे आकर भाग लेना चाहिए तथा जहाँ तक शास्त्रीय दृष्टि बन सके, सहयोग देकर समाज को परिष्कृत करना चाहिए। इन दृष्टियों से नवीन एवं प्राचीन परम्परावादी विद्वानों के सहयोग से नये विचार दर्शन की स्थापना में सहयोग मिलेगा।



भारतीय चिंतन में नये दर्शन के उद्भावना की आवश्यकता नहीं

स्वामी करपात्रीजी महाराज

सनातन धर्म के प्रचारक तथा हिन्दू दर्शन के व्याख्याता **स्वामी करपात्रीजी** महाराज से जब **"भारतीय चिन्तन परम्परा में नवीन दर्शन की सम्भावना" विषय** पर बातचीत की गई तो उन्होंने उत्तर दिया कि हमारे षड्दर्शन वर्तमान कालिक समस्याओं के समाधान में समर्थ हैं, अतएव उनसे जब सभी समस्याओं का समाधान हो ही जा रहा है तो **नये दर्शन की आवश्यकता नहीं है**। नये दर्शन की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई क्योंकि उस समय आत्यन्तिक और एकान्ततः दुःखों का नाश अन्य उपायों से सम्भव नहीं था। इसी प्रकार नये दर्शन की उद्भावना की आवश्यकता तो तभी समझी जानी चाहिए जबकि षड्दर्शनों से काम न चल सके। उन्होंने कहा—मैं समझता हूं, आधुनिक समस्यायें उन प्राचीन शास्त्रों की विवेचना से सुलझ सकती हैं। इसलिए नये दर्शन के प्रादुर्भाव को जरूरत ही नहीं है।

जब **स्वामी** जी से आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में—जाति, भाषा सम्प्रदाय, असमानता, प्रान्तीयता के संकीर्ण दायरे से ऊँचा उठकर सब में समानता की दृष्टि के लिए एक नये दृष्टिकोण पर बातचीत शुरू की गयी तो उन्होंने कहा—**हमारे दर्शनों** में कहीं भेदभाव नहीं है और न कहीं संकीर्णता है। हम तो मज़हब की बात नहीं करते हैं। हम तो मन्दिर में जाना भी उतना अनिवार्य नहीं घोषित करते। जैसा इसाई गिरिजाघर के लिए तथा **मुसलमान** मस्जिद के लिए करते हैं। हमारे यहाँ तो घर में बैठकर उपासना की बात कही गयी है। वह कहाँ बाधक है, समाज के अभ्युत्थान में। हमारा हिन्दूदर्शन कहीं भी विभेद को नही बतलाता और फिर समानता बरतना, तथा संकीर्णता का परित्याग कर समस्तप्राणिजगत में एकात्मक-भाव जगाना यह तो हमारा उद्देश्य ही है। लेकिन यह नये दर्शन से ही नहीं सम्भव होगा। प्राचीन ग्रन्थों में भी विधि अर्थवाद के साथ प्रयुक्त हुई है और अर्थवाद आवश्यक होता है किसी भी बात के करवाने के लिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि व्यक्ति का वैशिष्ट्य हटा दिया जाय तथा समाज के सामान्य लोगों की तरह विशेष

के जीवन को तोड़ मरोड़ कर बराबर कर दिया जाय। समाज वास्तव में समष्टि रूप है जिसमें व्यक्तियों का समुदाय रहता है। समुदाय का व्यष्ट्यात्मक व्यक्ति जब अच्छा होगा तो समाज भी भला बनेगा। यदि व्यक्ति बुरा हुआ तो समाज भी बुरा बनेगा। इसीलिए शास्त्रों में व्यष्टि के साथ समष्टि की बात कही गयी है और व्यष्टयात्मक समष्टिवाद तभी सम्भव है जब **व्यक्ति** में वर्तमान अहंता, स्त्री, परिवार, गाँव, जनपद, प्रान्त, देश, संसार में विकसमान होता हुआ समस्त चराचर जगत में व्याप्त हो जाय, यह सम्भव है। किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब हम अपना **ममत्व,** स्त्री परिवार, गाँव आदि में उसी प्रकार बढ़ायें जिस प्रकार अपने शरीर में अपना ममत्व है इस ममत्व का भी प्रमापक होगा, **मानसिक वेदना**। जैसे अपने शरीर के कष्टों का अपनयन मनुष्य अपनी शारीरिक ममता के वश करता है वैसे ही घर पारिवारिकों के कष्टों का भी करें। इसी प्रकार यह दायरा बढ़ाते हुए सम्पूर्ण मानव-जाति तक ले जाया जाय। मानव जाति ही क्या समग्र **प्राणिजगत्** में भी यह भावना ले जायी जा सकती है। तभी तो **शिवि** ने बाज से जीव की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। क्या ये निदर्शन नहीं बतलाते कि हम कितने उदारवृत्त वाले हैं।

जब उनसे पूछा गया कि जैसे राष्ट्रनामक संस्था में मनुष्य संप्रदायों का हो कर अपने राष्ट्र के सम्मान, अभ्युदय एवं विकास के लिए अपनी संकीर्णताओं का त्याग कर प्रयत्नशील रहता है तथा उसमें छोटी-छोटी परिधियां नहीं आती हैं, उसी प्रकार भारतीय चिन्तनधारा का कोई नया स्वरूप नहीं खड़ा किया जा सकता जिसमें यह छुद्र प्रवृति न जग सके।

उन्होंने कहा—इसके लिए भी नये दर्शन की जरूरत नहीं है। क्यों न अपने हिन्दूदर्शन में वर्तमान उदार विचारों का प्रसार किया जाय तथा **भागवत** के ३० मानवीय धर्म प्रवृत्तियों का सबको पाठ पढ़ाया जाय, ताकि वे इस मानवीय धर्म को समझ सकें और इस प्रकार सबका साथ-साथ कल्याण हो सके। उन्होंने आगे कहा—आप लोग संकीर्णता की बात कहते हैं। लेकिन क्या यह आप नहीं जानते कि **रावण ब्राह्मण था,** फिर भी कोई अपने सजातीय ब्राह्मण का पक्ष क्यों नहीं लेता है तथा राम का ही भजन, मनन तथा स्मरण क्यों करता है। इसका एक मात्र कारण गुण है। वह गुण जो हमें अभिप्रेत है या हमारी संस्कृति को अभिप्रेत है। वह **राम का गुण है, रावण का नहीं।** हाँ मानवीय कमजोरियाँ भी हैं फिर भी उनका निराकरण युक्तिपूर्वक किया जा सकता है और वह युक्ति भी हमारे शास्त्रों में है।

महाभारत की एक कथा है कि **दुर्योधन** का कभी किसी गन्धर्व ने हरण कर लिया, तब **युधिष्ठिर** ने उसको छुड़ाने के लिए अपने भाइयों को कहा तथा स्वयं प्रयत्नशील हुए। इस पर जब उनके भाइयों ने कहा—ठीक ही हुआ। इस प्रकार से भी हमारा दुश्मन समाप्त हो जायेगा, इसलिए आप उसकी चिंता न करें। तब युधिष्ठिर ने कहा —यह उचित नहीं है। बैर हमारा आपस का है लेकिन जब विजातीय से बैर उपस्थित होगा तो हम एक सौ पाँच भाई साथ-साथ होंगे। यह **साजात्यभाव** है। लेकिन साथ ही साथ यह मानवीय दृष्टि भी है। **दर्शन का काम साजात्य या धर्म्म से बढ़कर विश्वकल्याण की भावना का विकास करना है**। यह सब भाव षड्दर्शनों में है। लेकिन यदि आधुनिक विचार पद्धति के परिप्रेक्ष्य में इसी मानवीय भावना को ध्यान में रखकर सबमें एकरूपता तथा समानता का नारा देने के लिए दर्शन की उद्भावना की बात हो तो आप उसे कह सकते हैं। हाँ यह सामान्यजनों के बीच अवश्य नया दर्शन होगा, लेकिन पण्डितों के बीच दर्शन की कसौटी पर यह खरा नहीं साबित हो सकेगा।

जब उनसे दर्शन तथा धर्म के भारतीय स्वरूप पर प्रश्न किया गया तो उन्होंने कहा—हमारे यहाँ सर्वदर्शनसंग्रह में लोकायत, बौद्ध, जैन, षड्दर्शन, तन्त्र, रसेश्वर, धर्म तथा पाणिनीय दर्शनों की चर्चा है। ये सभी धर्म नहीं हो सकते। दर्शन का प्रत्यय साध्य, साधक एवं साधन से सत्य रूपी अर्थ के विवेचन में होता है और सत्य का विवेचन विभिन्न दर्शनों में उपलब्ध है। **मीमांसा** वैसे धर्म है लेकिन उसमें भी कर्म का दर्शन प्रस्थापित किया गया है। ज्ञान मीमांसा ही **वेदान्त** है और वह ही **हिन्दू** सर्वस्व है उसके द्वारा आत्मप्रत्यय का बोध कराया जाता है। इस आत्मप्रत्यय का बोध प्रमाणों के द्वारा होता है और इस प्रकार प्रमाण ही सत्य की प्रापकता में साधन हैं। इस प्रकार दर्शन यद्यपि धर्म प्रत्यय से भिन्न है फिर भी हमारे दर्शनों की प्रवृत्ति धर्म से समन्वित है। क्योंकि धर्म भी तथ्यों पर आधारित है, वे आचरणीय हैं और दर्शन के प्राप्तव्य का आचरण हम धार्मिक विधि से करते हैं। इसलिए धर्म के साथ हमारे यहाँ दर्शन का समन्वय है। हम इसे बिल्कुल पृथक नहीं कर सकते।

जब उनसे भारतीय दर्शनों में **स्वतन्त्रता** एवं **धर्मनिरपेक्षता** के मूल्यों के बारे में प्रश्न किया गया तो भी उन्होंने कहा—हमारे यहाँ **"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्"** कहा गया है। आत्मवशता ही स्वातन्त्र्य है। यह स्वातन्त्र्य हिन्दूदर्शन में तीन प्रकार से माना जाता था—(१) विद्या की स्वाधीनता (२) धर्म की स्वाधीनता तथा (३) अर्थ की स्वाधीनता। हमारे यहाँ का जीवन एवं दर्शन विद्या की स्वाधीनता

को सदा से स्वीकारता आ रहा है। इसलिये विद्या अरण्यों में और ऋषियों के आश्रमों में चलती थी। वहाँ राजा का भी दबाव नहीं पड़ता था। राजा भी वहाँ विनीत भाव से जाता था तथा जिज्ञासा को शान्त करता था। आज का शासन हमारे विद्या के क्षेत्र में टांग अड़ाता है और वह जैसा चाहता वैसा करने के लिए बाध्य करता है। यह भौतिकवादी दृष्टि है. यह स्वातन्त्र्यपूर्वक विद्या आचरण नहीं है। इसलिये भौतिकवादिता की ओर उन्मुख होकर हम मार्क्सवादी प्रवृत्ति को पनपा रहे हैं। जब हम शासनतन्त्र से मुक्त रहेंगे तो आध्यात्मिकता का प्रसार होगा तथा तब आचार्य के आचरण का प्रभाव शिष्यों पर पड़ेगा, और रामराज्य की ओर जायेंगे।

हमारे यहाँ धर्म की स्वतन्त्रता भी रहनी भी चाहिए, क्योंकि धर्म मनुष्य का प्राणभूत तत्त्व है, वह चाहे आचरणमूलक हो या श्रद्धामूलक। उससे परोपकार, दया, प्राणियों में सद्भावना आदि की प्रवृत्ति होती है। इसलिए धर्म की स्वतन्त्रता भी हमारे यहाँ की मूल चीज है।

हम मन्दिर जायें या यज्ञ करें तो उसके लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। यह अर्थ अपने परम्परा से हमने उपार्जित किया है, अतएव हम उसके द्वारा मन्दिर में फूल माला चढ़ा सक ते हैं या जो भी विधिविधान चाहे अनुष्ठित कर सकते हैं। इस पर शासन की परतन्त्रता ठीक नहीं लगती। क्योंकि इससे दान, दया, दाक्षिण्य के भावों का ह्रास होगा। मानव की किसी अभीप्सित वस्तु में प्रवृत्ति कम हो जायेगी, इसलिये हमारे यहाँ तीन प्रकार की स्वाधीनता कही गयी थी।

लेकिन इन स्वातन्त्र्यों के साथ पारतन्त्र्य भी था। हम इतने स्वतन्त्र न हो जायँ की माता-पिता के बचनों का उल्लंघन करने लगे, आचार्य का अपमान करें। हमको अध्यात्मसुख के लिए कुछ परतन्त्रता भी अपेक्षि त थी, वरना हमारा छात्र हमारे आदेशों का विरोध करेगा, पढ़ने से भागेगा, यह सर्वस्वातन्त्र्य हमारा विकास न करके ह्रास करेगा। इसलिए स्वातन्त्र्य कुछ पारतन्त्र्यों के साथ रहता है। वे पारतन्त्र्य हमारे शास्त्रों में वर्णित हैं तथा उनकी अधीनता स्वीकार करते हुए समग्र विश्वासात्मक भाव को प्राप्त करना हमारा उद्देश्य है।

इसी प्रकार धर्मनिरपेक्षता की बात लीजिए। यह सेक्यूलर शब्द का अनुवाद माना गया है पर वास्तव में यह धर्म निरपेक्षता पहले पहल जब अनुवादित हुई तब यह अधार्मिक, धर्महीन, अर्थनीति पर अवलम्बित धर्मविहीन लौकिक राज्य, लोकायतराज्य आदि के रूप में थी। बाद में इसका रूप बदलते-बदलते धर्मनिरपेक्षता के स्वरूप में आ गया। हमें इसको यदि कहना हो तो धर्म-सापेक्ष पक्षपातविहीन राज्य

के रूप में रखना चाहिए। क्योंकि धर्मनिरपेक्ष का अर्थ प्रायः जो आज लगाया जाता है, वह है पक्षपात विहीन राज्य अर्थात् वह राज्य जो किसी धर्म के पक्षपात में विश्वास न करे। खैर जो भी अर्थ शासनतन्त्र ग्रहण करे, मैं उसमें न जाकर केवल **शुक्रनीति**, एवं **कौटिल्य** के आधार पर बात करना चाहूँगा। **शुक्रनीति** में आया है कि जिस मुहल्ले या नगर में जो धर्म या परम्परा चली आ रही है राजा उस धर्म एवं परम्परा की कभी अवहेलना न करे। और उन लोगों के लिए उनके अनुसार मन्दिर बनवाने एवं पूजा-पाठ करने की छूट दे। इसी प्रकार **चाणक्य** भी कहते हैं—

> **यस्मिन् देशे य आचार पारम्पर्यक्रमागतः।**
> **तथैव परिपाल्योऽसौ न वै स्ववशमागतः।**

अर्थात् जिस देश में जो आचार परम्परा जिस क्रम से आयी हो उसका उसी प्रकार पालन होना चाहिए। स्वतन्त्र होकर ही इस प्रकार हमारे यहाँ धर्मसापेक्ष पक्षपात-विहीन राज्य की अब धारणा है।

प्रस्तुत-कर्ता
श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी



पौर्वात्य तथा पाश्चात्य चिन्तन धाराओं के समन्वय से नया दर्शन संभव

डॉ० जयदेव सिंह

भारतीय दर्शन मुख्यतः मोक्ष रूपी इष्ट को लेकर चलते हैं। ये मोक्षशास्त्र हैं चाहे उसके मोक्ष का निर्वाण नाम दें अथवा परमार्थ या मुक्ति। दर्शन के अध्ययन का मुख्य ध्येय निम्न प्रवृत्तियों पर अधिकार प्राप्त करना, शमदम की सम्पत्ति का संग्रह करना और साधना द्वारा चाहे वह भक्ति हो, चाहे ज्ञान, चाहे ध्यान, अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करना है।

पाश्चात्यदर्शन केवल बौद्धिक विकास है। उनका तत्त्वज्ञान अधिकतर तर्क और कल्पना पर प्रतिष्ठित है। उन्होंने नीतिशास्त्र को विशेषरूप से अपनाया है और जीवन का ध्येय नैतिक उत्थान को माना है। दुर्भाग्यवश पाश्चात्यदर्शन में भी नैतिकशास्त्र का उतना महत्त्व नही रह गया, जितना कि उसका होना चाहिए था। परिणाम यह हो गया कि पाश्चात्यदर्शन भी अब केवल बौद्धिक विलास रह गया है। किन्तु जिस प्रकार से नागार्जुन ने यह सिद्ध किया कि तर्क के द्वारा हम तथता या तत्त्व को नहीं जान सकते, उसी प्रकार ब्रैडले, ह्वाइटहेड इत्यादि आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी यह सिद्ध किया है कि परमार्थ या तत्त्व का ज्ञान तर्क द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु सभी पाश्चात्य दार्शनिक संसार, इतिहास, सामाजिक जीवन को हेय नहीं मानते। उनका यह विश्वास है कि विश्व के विराट नाटक में सांसारिक जीवन का अपना महत्त्व है और इस महत्त्व को उन्होंने विवर्तनवाद द्वारा समर्थित किया है।

हमारे शास्त्रों का ध्येय सांसारिक जीवन से मुक्ति पाना ही रहा है। उनके अनुसार संसार जरा-मरण का क्षेत्र है और इस जरामरण रूपी दुःख से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करना जीव का चरम ध्येय होना चाहिए। संसार सर्वथा हेय है यह एक प्रकार से हमारी दृष्टि का पलायनवाद है। इस संसार से भागकर किसी

ऐसी अवस्था में पहुँचना है जहाँ न जरा हो, न मरण हो। इस चिंतनधारा का परिणाम यह होता है कि यह सृष्टि पागल का प्रलाप सिद्ध हो जाती है। एक क्रूर उपहास बन जाती है।

केवल एक ही भारतीय चिन्तक ऐसे हुए हैं जिन्होंने इस चिंतन प्रवृत्ति का विरोध किया था। वे हैं **श्रीअरविन्द घोष**। उनमें पूर्वात्य और पाश्चात्य दोनों चिंतन धाराओं का अनुपम समन्वय हुआ। वह जगत को हेय नहीं समझते। वह इसे प्रकृति की प्रयोगशाला मानते हैं, जिसमें क्रमशः प्रयोग चल रहा है। इसमें पहले केवल तमस का विकास हुआ। जगत तमस से आवृत रहा। धीरे-धीरे प्राण का विकास हुआ। उसके बाद मन का विकास हुआ। आज का मानव उसी मन का एक विकसित प्राणी है। उनके अनुसार **मन** के भी कई स्तर हैं। निम्नतरमन, उच्चतरमन, अन्तः प्रज्ञा, अतिमानस। यह सब मन के स्तर हैं। मानव में अभी तक अधिक से अधिक उच्चतरमन का विकास हुआ है। कुछ थोड़े से ऋषियों, मनीषियों में अन्तः प्रज्ञा और अतिमानस के विकास का पता चलता है। इस जगत में क्रमशः मानव में अन्तः प्रज्ञा और अतिमानस का जब विकास होगा, तब मानव में एक विशेष जीवन का प्रादुर्भाव होगा। इसके अतिरिक्त जब धरा पर **अतिमानस** का अवतार होगा, तब मानव को अपने जीवन पर पूर्ण अधिकार होगा और वह सब दुःखों से छुटकारा पा जायेगा। उनके अनुसार सृष्टि निरुद्देश्य नहीं है वह अपने हृदय में एक विशेष आपूर्ति को लिए हुए आगे बढ़ रही है। प्राचीन नैराश्यवाद, दुःखवाद और पलायन-वाद के स्थान में उन्होंने आशावाद, आनन्दवाद और जीवन की उपादेयता का प्रतिपादन किया।

भारतीय दर्शन में एक कमी यह भी रही है कि उसने **व्यक्ति** को केन्द्र माना है समाज को परिगणित नहीं किया। **पाश्चात्यदर्शन समाज** को विशेष महत्त्व देता है और उस समाज के पोषण से ही व्यक्ति की समर्थता का प्रतिपादन करता है। अतः पाश्चात्य दर्शन से हम यह भी लाभ उठा सकते हैं कि **समष्टि** उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी **व्यष्टि**। समाज का विकास और उत्कर्ष उतना ही आवश्यक है जितना व्यक्ति का।

मैं समझता हूं कि जैसा की **श्री अरविन्द** ने हमारी चिंतन धारा को एक नया मोड़ दिया है जिसमें समाज और व्यक्ति दोनों पर समान रूप से बल दिया गया है। यदि हमारा दर्शन शास्त्र उस प्रवृत्ति को अपनाये और केवल संसार से छुटकारा पाने का ध्यान न रख कर संसार में रहते हुए अपना और समाज दोनों का किसी प्रकार से

उद्धार किया जा सकता है तो मैं समझता हूँ कि भारतीय दर्शन में एक नयी चेतना जागृत होगी और **पौर्वात्य** और **पाश्चात्य** चिंतनधाराओं का एक सुन्दर संगम होगा।
[नये दर्शन की उद्भावना के संदर्भ में योगिरूप ठाकुर जयदेवसिंह से संयोजक श्रीं राधेश्यामधर द्विवेदी ने बातचीत करके उनके विचारों का आकलन प्रस्तुत किया था]



भारतीय चिंतन परंपरा में नये जीवन-दर्शन की अपेक्षा

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

परम्परा और परिवर्तन--भारतीय चिन्तन परम्परा में नये दर्शनों के उद्गम की बात उठने पर परम्परा के प्रतिबन्ध और उसकी सीमा पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। परम्परायें सामाजिक एव सांस्कृतिक सन्दर्भों के बीच बनती हैं। उसी की पृष्ठभूमि में दार्शनिक चिन्तन भी विकसित होते हैं। भारतीय चिन्तन के सम्पूर्ण परिवेश को एक शब्द में कहें तो वह है **धर्म**। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनों का सम्पूर्ण विकास धार्मिक परिवेश में ही हुआ है। यहाँ तक कि जिन दर्शनों के धार्मिक अनुयायी नहीं रहे, वे दर्शन नाम मात्र शेष रह गये, अन्ततोगत्वा वे काल-कवलित हो गये। धार्मिक परिवेश में रहते हुए भारतीयचिन्तन परम्परा का विकास होना उसके लिए मात्र आनुषंगिकता नहीं थी, प्रत्युत जीवन से दर्शन को जोड़ रखने का वह एक चिन्तन-कौशल भी था। यह स्वाभाविक था कि इस कालव्यापी विचार-यात्रा में उसके कुछ प्रतिबन्ध बनते, जो उसे नियन्त्रित करते, मार्ग बनाते और एक सीमा के बाद उसे अवरुद्ध भी करते। इन सबके बावजूद भारतीय दार्शनिकों का बर्चस्व इसमें है कि उन्होंने अपने चिन्तन को यथासम्भव धर्मातीत रखने का उल्लेखनीय प्रयास किया है। मूल **बुद्धवचनों** के बाद बौद्धदर्शन का जो विकास हुआ, मूल **ब्रह्मसूत्र** के बाद जो वेदान्त का विकास हुआ, उससे स्पष्ट है कि यदि भगवान् **बुद्ध** और **महर्षि व्यास** पुनः आवें तो उन्हें अपने दर्शन को समझने में वही कठिनाई होगी, जो किसी भी प्रतिभाशाली अन्तेवासी को होती है। भारतीय दार्शनिकों के लिये यह गौरव की बात है किन्तु ऐतिहासिक कारणों से पिछले एक हजार वर्षों में वह धार्मिकता और भी घनीभूत हुई है, जिसके फलस्वरूप भारतीय चिन्तन **धर्म** के राजमार्ग से हटकर **सम्प्रदायों** की संकरी गलियों में सीमित होता गया। इस प्रकार भारतीय दर्शनों का एक विशेष परिवेश बन गया है--**धार्मिकता एवं साम्प्रदायिकता**। किन्तु चिन्तन का आधुनिक परिवेश है धर्मातीतता या धर्मनिरपेक्षता।

दर्शन तथा धर्माग्रह एवं वादाग्रह :—चिन्तन के क्षेत्र में परम्परा न तो अपराध है और न तो किसी भी स्थिति में उससे घबड़ाने को बात है। दार्शनिक चिन्तन की विशाल परम्परा ने हमारे तत्त्वचिन्तकों को विश्व के ज्ञानाकाश का ध्रुवतारा स्वीकार किया था। यह परम्परा हमारे चिन्तन-वर्चस्व का प्रतीक है। हाँ, आज हमारे चिन्तन की प्रखरता की कसौटी यह होगी कि हम परम्परा की जकड़न को तोड़कर परिवर्तन को कितना अवसर देते हैं। इस प्रकार परम्परा और परिवर्तन के बीच क्या तारतम्य एवं क्या सामंजस्य हो? इसे निर्धारित करना होगा। इसके लिये यह भी आवश्यक होगा कि भारतीय सन्दर्भ में हम धर्म और दर्शन का सम्बन्ध निश्चित करें और इस सम्बन्ध के उठते प्रश्नों का समाधान करें। मान लें कि दार्शनिक चिन्तन को धर्मातीत या धर्म-निरपेक्ष होना चाहिए। किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या **धर्म** को भी **दर्शन-निरपेक्ष** होना चाहिए? आधुनिक सन्दर्भ में विशेषकर भारतीय संदर्भ में सम्भवतः यह ठीक नहीं होगा। सारा देश धर्मों एवं उपधर्मों का, सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों का संग्रहालय सा बन चुका है। इस शताब्दी में नये धर्मों एवं सम्प्रदायों के निर्माण में तो और भी तीव्रता आ चुकी है। इस स्थिति में इनके औचित्य का प्रश्न उठता है। औचित्य का निर्धारण यदि दर्शन नहीं करेगा तो उनके धर्म्य और अधर्म्य होने का विश्लेषण कहाँ होगा? और जनता के कोमल एवं भावुकतापूर्ण धार्मिक वृत्तियों को पाखण्ड से कौन बचायेगा?

इसके लिये यह आवश्यक होगा कि हम यह निर्णय लें कि **धर्मों** के औचित्य का निर्धारण करना **दर्शन का क्षेत्र** है और धर्म के निर्णय में दर्शन का **प्रामाण्य** है। एक सीमा तक यह कार्य प्राचीन दर्शनों ने भी किया है किन्तु उनका कार्य धर्म के दरबार में वकील का था, न्यायाधीश का नहीं। धर्मों से प्रतिबद्ध दार्शनिकों ने अपने-अपने धर्मों के औचित्य एवं श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिये ही अपनी उत्कृष्टतम प्रतिभा का उपयोग किया। भारतीय तत्त्वमीमांसा और प्रमाण-मीमांसा के इस परम्परागत अभ्यास में अब उल्लेखनीय परिवर्तन लाने की बात सोचनी चाहिये। तभी यह स्थिति आयेगी जिसमें भारतीय दार्शनिक मुक्त-चिन्तन कर सकेंगे।

मुक्त-चिन्तन के लिये धर्म निरपेक्षता एक पुरानी बात हो चुकी है यद्यपि परम्परागत दर्शनशास्त्री आज भी उससे विरत नहीं हुए। अनेकानेक कारणों से सर्वत्र ही धर्म की पकड़ कम हो चुकी है। किन्तु टूटते हुए भी उसने एक दूसरा सुदृढ़ घेरा बना लिया है। वह है वादों या सिद्धान्तों के आग्रह का। जहाँ तक नवीन चिन्तन को कुण्ठित करने का प्रश्न है, वादों का आग्रह अपनी सम्पूर्ण तार्किकता के साथ धर्मों के आग्रह के समान ही काम करता है। मानवी प्रतिभा के क्षेत्र में वादों

का आग्रह आज एक विश्वजनीन समस्या बन चुका है जो जीवन के विविध क्षेत्रों को सीमित बनाये हुए है। किन्तु भारतीय प्रतिभा की दोहरी कुण्ठा है (१) **धर्माग्रह** एवं (२) **वादाग्रह**। स्थिति का यह विश्लेषण यदि गलत नहीं है, तो भारतीय दार्शनिकों पर दोहरा भार आता है कि वे चिन्तन को सिर्फ धर्म-निरपेक्ष ही नहीं, एक कदम आगे बढ़कर वाद-निरपेक्ष भी बनावें। **उपनिषदों, त्रिपिटकों** आदि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य निरपेक्ष होकर स्वानुभव एवं स्वयं प्रकाश चिन्तन करना, भारतीय दर्शनों की मूल प्रेरणा के विरुद्ध नहीं है।

भारतीय दर्शन का नया आयाम : व्यवहार

जब हम दर्शन के क्षेत्र में **नवीनता** की बात करते हैं, तो इसका हमें बार-बार ध्यान रखना पड़ेगा कि **भारतीयदर्शन** चिन्तन के अनेक क्षेत्रों में विविधतापूर्ण एवं गम्भीर है, वास्तव में यह **विश्वदर्शन** है। इस स्थिति में किस ओर से नवीनता को अवसर मिल सकता है, इस पर बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से सोचना होगा। इसके लिए गम्भीर शास्त्रीयता में न जाकर भी इस प्रश्न पर दर्शन के आयाम एवं क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। भारतीय दर्शनों का आयाम पहले से भी यदि अधिक विस्तृत मान लिया जाय, जो आज के किसी भी दर्शन के लिये अपेक्षित है तो उतने मात्र से नये-नये प्रश्न उठेंगे और उनके समाधान के प्रसंग में मौलिक चिन्तन के लिये अवसर मिलेगा। उस स्थिति में अवश्य ही उसकी शास्त्रीयता भी परम्परागत न रहकर नवीन होगी। थोड़े में हम यहाँ देखें कि भारतीय चिन्तकों ने दर्शन का क्षेत्र और उसका स्तर क्या स्वीकार किया है। तत्त्वचिंतन की प्रायः सभी भारतीय परम्पराओं ने दर्शन का क्षेत्र एवं उसका स्तर श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन अथवा श्रुत, चिन्ता और भावना द्वारा स्पष्ट किया है। निदिध्यासन या भावना एक प्रकार से भारतीयदर्शन का चरमोत्कर्ष है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दर्शन का लक्ष्य मनन एवं तर्क से परे हैं, और उसका प्रधान क्षेत्र भी वही हैं। इस पर से यह शंका होती है कि **दर्शन का पुरुषार्थ एवं क्षेत्र मन से परे माना जाय ? उसके अन्तर्गत** इसका उत्तर देने के लिये भारतीय दर्शनों की परम्परा तथा आधुनिक सन्दर्भ दोनों का हीं ध्यान रखना होगा। परम्परा के अनुसार मन से परे को एक शब्द में **अध्यात्म** या **श्रेय** या **निर्वाण** कहा जाता है। मन के अन्तर्गत सम्पूर्ण व्यवहार, नीति, धर्म संस्कृति आदि है, जिसे **प्रेय** या **शील** कहा जा जाता है। उत्तर के स्पष्टीकरण के लिये इस प्रश्न का भी उत्तर सोचना होगा कि क्या श्रेय और प्रेय के बीच, अध्यात्म और व्यवहार के बीच कोई पुल है, जिससे दोनों ही तरफ

का आना-जाना सम्भव हो सके ? यदि उत्तर की सम्भावना करें तो यह कहना अधिक सुरक्षित है कि दर्शन का क्षेत्र मन और उसके अतीत दोनों ही हैं और दोनों के बीच सम्बन्ध है। यह उत्तर परम्परा और आधुनिकता दोनों से बहुत दूर नहीं है। किन्तु इतना कह देने मात्र से कथा समाप्त नहीं होती। क्योंकि तत्काल दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होगा कि जो कुछ अध्यात्म है, उसकी व्यावहारिकजीवन के धरातल पर परीक्षा हो सकती है अथवा नहीं ? यदि **परमार्थ और व्यवहार** के स्वभावगत विरोध के कारण अध्यात्म के व्यवहार से परीक्षा नहीं हो सकती, तो ऐसी स्थिति में अध्यात्म की प्रामाणिकता संदिग्ध क्यों न समझी जायेगी ? इस अवस्था में भारतीयदर्शनों पर की जाने वाली यह आशंका क्यों न पुष्ट समझी जायेगी कि इनके **आध्यात्मिक उत्कर्ष की अनिवार्य परिणति है--जीवन की समस्याओं से दर्शन को दूर रखना।** कहीं ऐसा तो नहीं है कि दर्शन का जो प्रधान लक्ष्य जीवन है, उसकी ओर पीठ कर वह दौड़ता जा रहा है और उत्तरोत्तर लक्ष्य से दूरी बढ़ती जा रही है। रुककर इस पर विचार करने के लिये हमें व्यवहार-भूमि पर खड़ा होना होगा। यदि अध्यात्म की सत्यता के लिये व्यवहार प्रमाण नहीं है तो उसकी स्वयंभू सत्यता का अथवा काल्पनिकता का रहस्यात्मकता से अधिक अर्थ नहीं रह जायेगा। अध्यात्मिकता व्यवहार में मानवमूल्यों के रूप में ही प्रतिष्ठित हो सकती है, जिसका माध्यम है धर्म, नीति, संस्कृति, कला और साहित्य। इस स्थिति में वे आध्यात्मिक मूल्य जो प्रायः सभी भारतीय दर्शनों की समान प्रसूति हैं, उनका सफल प्रयोग व्यवहार में होना ही चाहिये। जितने अंश में दर्शन का व्यावहारिक प्रयोग के क्षेत्र में सफलता मिलेगी, उतने ही अंश में उसकी प्रयोजनवत्ता और यथार्थता भी सिद्ध होगी, इस प्रकार दर्शन की प्रामाणिकता की एक प्रमुख कसौटी होगी **व्यक्ति ओर समाज** का व्यवहार। तथा प्रयोग का अर्थ होगा व्यवहार का निरीक्षण और उसके आधार पर तथ्यों का सामान्यीकरण। प्रयोग की इस प्रक्रिया से भारतीय दर्शनों के समक्ष चिन्तन के नये आयाम और नये प्रमाण प्रस्तुत हो सकेंगे। इन सारी बातों के लिये भी भारतीयदर्शनों का द्वार सदा के लिये बन्द नहीं है। ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद तथा प्रज्ञा और करुणा के अभेद का सिद्धान्त तथा **बोधिसत्त्व** एवं **स्थितप्रज्ञ** के जीवनचर्या में इसका बीज खोजा जा सकता है।

दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टि

पाश्चात्यदार्शनिकों ने अध्यात्म के भावसूक्ष्म जगत् से चलकर भौतिक विज्ञान का सहारा लिया है। यह अवसर भारतीय दर्शन को नहीं मिला, जो एक तरह की कमी है, किन्तु दूसरी ओर से उसका लाभ भी है। तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और मानव-

मूल्यों का निर्धारण दर्शन का एक स्वतन्त्र क्षेत्र है, जिसमें विज्ञान सहायक के रूप में प्रवेश लिया था, किन्तु बाद में उसने उत्तरोत्तर अपने शक्ति मूलक विचारों एवं चमत्कारों के कारण सत्य की खोज और भावजगत के विश्लेषण के आधार पर इतिहास ने मानवीय श्रद्धा को जो श्रेष्ठ सम्मान दिया था, उसे घटा दिया। इस सम्बन्ध में इस शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक बर्ट्रेंड रसल की चिन्ता की ओर सभी दार्शनिकों का ध्यान जाना चाहिये। **रसेल** दर्शन के क्षेत्र में भौतिक विज्ञान की जबर्दस्त हिमायत करते हैं किन्तु वे कहते हैं कि—"जहाँ तक विज्ञान का स्वरूप ज्ञान की खोज है; वहाँ तक तो ठीक है; पर उससे भिन्न मानव मूल्यों का क्षेत्र विज्ञान की सीमाओं से बाहर है। शक्ति की खोज के रूप में विज्ञान को मानव मूल्यों के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिये।" विश्व में गिरते हुए मानव-सम्मान से चिन्तित होकर वे कहते हैं "एक नये नैतिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसमें प्रकृति की शक्तियों की अधीनता के स्थान पर मनुष्य में जो कुछ सर्वोत्तम है, उसके सम्मान की प्रतिष्ठा की जाय। जहाँ इस सम्मान का अभाव है, वही वैज्ञानिक तकनीक खतरनाक है।"

रसेल की इस चेतावनी के बावजूद **भारतीयदर्शनों** के प्रसंग में भौतिक विज्ञान की तात्त्विक उपलब्धियों का बहुत ही महत्त्व है। भारतीय दर्शनों की अपनी विविध पदार्थ विद्यायें हैं, उनके उपादानों और लक्षणों के अध्ययन में भौतिक विज्ञानों का महत्त्वपूर्ण योगदान होगा। इसकी उपयोगिता केवल पदार्थ सम्बन्धी अपनी अवधारणाओं को संशोधित एवं सुसंगत कर लेने में ही नहीं, प्रत्युत नये खोजों के द्वारा नये सिद्धान्तों की स्थापनाओं में भी है। इसके अतिरिक्त भौतिकी ने अपने से भिन्न अन्य सभी मानव-विज्ञानों एवं समाजविज्ञानों को भी प्रभावित किया है, जिनका दर्शन के अध्ययन में महान् उपकार है, जिसकी भारतीयदर्शन के प्रसंग में उपेक्षा नहीं की जा सकती। **पाश्चात्य-देशों** के आधार पर भारतीय दर्शनों को यह सुअवसर प्राप्त है कि वे अपने तत्त्वचिन्तन को समृद्ध करने में आधुनिक विज्ञानों का सीमित उपयोग कर लें। ज्ञान के जिस विराट् परिवेश में विश्व चल रहा है, उसमें इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं होना चाहिये कि अध्ययन की वैज्ञानिक परिदृष्टि को हमें भी अंगीकार करना होगा, अन्यथा हमारे तत्त्वज्ञान की व्यावहारिक परीक्षा ही नहीं हो पायेगी और न तो हम नये तथ्यों को अपने दर्शन में जोड़ पायेंगे। भारतीय चिन्तन के सन्दर्भ में वैज्ञानिक परिदृष्टि के प्रयोग का क्या रूप होगा, इसका आकलन करना भी हमारा कर्तव्य है।

नया जीवन-दर्शन—अस्तु, अपनी बात को वहीं तक सीमित रखें, जहाँ तक दर्शन का जीवन से साक्षात् एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। आध्यात्मिक चिन्तन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसे प्रायः दुहराया जाता है किंतु प्रश्न है कि क्या आध्यात्मिक मान्यताओं के आधार पर हमारे पास कोई सुव्यवस्थित जीवन-दर्शन है ? 'नास्ति' में इसका उत्तर ठीक नहीं होगा, किन्तु 'अस्ति' के उत्तर से कुछ तथ्य छिप जायेंगे। स्थिति को स्पष्ट करने के लिये इस प्रश्न का समस्यात्मक रूप अधिक खुलासा किया जाना चाहिए, जिससे जीवन के प्रसंग में आकलन किया जा सके कि दर्शनों की कौन सी समस्या अत्यन्त अपेक्षित हो गयी है और जिसे आज प्रमुखता मिलनी चाहिए।

ईश्वर है या नहीं, आत्मा है या नहीं, जगत सत्य है या नहीं, परलोक से सम्बन्धित कर्म और कर्म-फल है या नहीं, भारतीय दर्शनों के चिन्तन का यह आधुनिक संदर्भ नहीं रह गया है। किन्तु ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि आज मानव-जीवन कीं ये मान्यतायें कथमपि प्रभावित नहीं कर रही हैं, अथवा जिन समस्याओं को हम जीवित एवं प्रमुख समझते हैं उनको ये परम्परागत विश्लेषण किसी दशा में प्रभावित नहीं करेंगे। इसके विपरीत तथ्य यह है कि वे तत्त्व-विश्लेषण पहले से भी अधिक प्रभावकर सिद्ध हो सकेगें, यदि जीवन के सन्दर्भ में उनका पुनर्मूल्यांकन कियाँ जाय। यहां तक कि चिन्तन का यह नया सन्दर्भ उन प्राचीन मान्यताओं के अध्ययन को नयी दिशा में सोचने के लिये विवश कर सकता है।

भारतीय दर्शनों ने सारे मतभेदों के बाद भी जो कुछ समान मान्यतायें स्वीकार की हैं, जो जीवन के सन्दर्भ में उल्लेखनीय रूप से प्रभावहीन रही हैं और भी पूर्ववत् उदासीन ही पड़ी हैं. उनके आधार पर मूलभूत मान्यताओं की यदि परीक्षा नहीं की जायगी, तो वे जीवन का अपने असन्तुलन एवं द्वन्द्वों से अधिकाधिक विकृत करतीं जायेंगी। उदाहरण के रूप में यहाँ कुछ दार्शनिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं की चर्चा करना इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक है। वे कुछ मान्यतायें हैं, जैसे-समत्व, एकत्व, मोक्ष, अहिंसा आदि, जिन्हें सभी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया। किन्तु इन निरपवाद तत्त्वों का सामाजिक और धार्मिक जीवन में कभी प्रयोग नही किया गया। आश्चर्य तब होता है, जब कुछ अपवादों को छोड़कर उसके सामान्यीकरण का कभी प्रयत्न तक नहीं किया गया। फलतः दर्शन में समत्व किंतु जीवन के सभी आयामों पर घृणित वैषम्य फैला रहा, दर्शन में अद्वैत या एकत्व किन्तु जीवन में समुदायवृत्ति का कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हो सका, दर्शन में त्रिविध दुःखों के विनाश के साथ मोक्ष या निर्वाण की

घोषणा, किन्तु जीवन में दुःख, दरिद्रता, पराधीनता का साम्राज्य छाया रहा। दर्शन में अहिंसा या मैत्री किंतु जीवन में मात्स्यन्याय की धूम मची रही। इतने असन्तुलन के बावजूद इन दार्शनिक मान्यताओं की व्यवहार में कभी परीक्षा नहीं की गयी। बल्कि यह मान लिया गया कि 'समत्व' आदि तत्त्व के रूप में परमार्थ है उनकी परीक्षा व्यवहार से नहीं हो सकती क्योंकि वे घटिया हैं, यहां तक कि वे मिथ्या हैं। इस अतार्किक दार्शनिकता ने व्यवहार से परमार्थ की परीक्षा को सदा के लिए बन्द कर दिया।

इस अन्तर्द्वन्द्व की विकृतियां तब और भी उभड़ कर सामने आयीं, जब इस देश का आधुनिक देशों से सम्पर्क बढ़ता गया। बाहरी सम्पर्क एवं दबावों के कारण यहां के लोग अब समता और स्वतन्त्रता के सार्वजनिक मानवीय मूल्यों से परिचित होने लगे हैं। व्यवहारिक क्षेत्रों में उसे चरितार्थ करने के उद्देश्य से विविध प्रकार के प्रयत्न भी क्रियोन्मुख होने लगे हैं। अब इन नये जीवन-मूल्यों का भारतीय संस्कारगत जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित होना चाहिए। किंतु सत्य यह है कि समतावादी, स्वतन्त्रतावादी ये सारी प्रेरणायें बाहर से आयातित मानी जा रही है। यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक समत्व के पीछे जो वर्णन है, वह न तो भारतीय है और न तो भारतीय अन्तश्चेतना ने इसे आत्मीय स्वीकार किया है। इस स्थिति में भारतीय जनता एक ऐसे मन को ढो रही है जो दो निरोधी भागों में बँटकर स्वयं में द्वन्द्व-पीडित है। मन की आधुनिकता अपरिचित है और उपर से अपरिचित का दबाव है, यदि अभ्यासानुसार खुलकर उसका मूल्यांकन किया जाय, तो वह माया है, मिथ्या है। मन की पुरातनता उसकी अपनी है, वह आज के व्यवहार में यद्यपि अक्षम है किन्तु सत्य है और पवित्र है। इस द्वन्द्व को देश भोग रहा है। फलतः प्रतिक्रिया में अपने प्रति और अपने धर्म और दर्शन के प्रति वह संदिग्ध होता रहा है। यह अपेक्षा की जाती है कि इस बढ़ते हुए संदेह का और आत्महीनता का निवारण भारतीय दर्शन से हो। किसी दर्शन के लिये अनिवार्य शर्त यह है कि उसके बारे में संदेह को स्थान न मिले। दर्शन को एक ऐसा व्यापक तथ्य प्रकट करना चाहिए, जिसके आधार पर वह अन्य की सहायता के बिना बुद्धि और जीवन के विरोधों को दूर करता जाय। वास्तव में भारतीय दर्शन अपने अन्तर्द्वन्द्वों में फंस चुका है। एक प्रकार से अक्षम जैसा हो चुका है। एक ओर जो दुःख ध्वंस का आश्वासन दे, दूसरी ओर वह समाज में व्याप्त दुःखों से उदासीन हो जाय। एक ओर समता का आदर्श के रूप में घोषणा करे, दूसरी ओर सब

प्रकार की विषमता को समर्थन दे या उसके प्रति मौन हो जाय। **दर्शन** के इस आत्मगत द्वन्द्व के आधार पर यह आशा करना कि वह **धर्म** और **नीति** का नियन्त्रण कर सकेगा, यह बहुत ही अधिक होगा। ये तार्किक कठिनाइयाँ अपने सुलझाव के लिये एक नये **जीवन-दर्शन** की अपेक्षा करती हैं, जो आध्यात्मिक मूल्यों को जीवन का मूल्य बनायें और उसकी चरितार्थता के आधार पर अपने को पुनः प्रतिष्ठित करें।



आधुनिक पाश्चात्यदर्शन की गतिविधि

प्रो० डा० रमाकान्त त्रिपाठी

भारतीय दर्शन का जानने वाला कोई व्यक्ति यदि आज के पाश्चात्य दर्शन पर दृष्टिपात करें तो उसे एक विचित्र अनुभव होगा। एक ओर तो उसे ऐसा जान पड़ेगा कि चारों ओर नये-नये विचारक उभर रहे हैं, और विचार जगत में नवीनता की खोज में एक हलचल मची हुई है। दूसरी ओर उसे यह जान पड़ेगा कि वहाँ का विचारक यद्यपि स्वतन्त्र विचारक कहलाना चाहता है फिर भी वह अनुभववाद की जंजीर में जकड़ा हुआ है इन्द्रिय-जन्य अनुभव और विज्ञान के आगे जाने की उसमें न सामर्थ्य है न प्रवृत्ति। साथ ही उसे अपने दर्शन की प्रयोजनहीनता का भी अनुभव होता है। अतः दर्शन की सामाजिक उपयोगिता क्या है अथवा दर्शन की कोई उपयोगिता है या नहीं। ये प्रश्न बार-बार उठाये जा रहे हैं। और कभी-कभी ऐसा लगता है कि यदि दुनियाँ से सभी दर्शन मिटा दिये जायें तो भी कोई विशेष क्षति न होगी। संक्षेप में—भारतीय दार्शनिक को ऐसा लगेगा कि पाश्चात्य देशों में दर्शन की विधि के विषय में, दर्शन के उद्देश्य के विषय में और दर्शन की उपयोगिता के विषय में वैचारिक उथल-पुथल मची हुई है और एक प्रकार की दिशा-हीनता का साम्राज्य फैला है। व्यक्तिवाद, अनुभववाद, वैचारिकप्रयोगवाद, किसी निश्चित लक्ष्य का अभाव, किसी निश्चित शोध विधि का अभाव, जीवन के विषय में दिशाहीनता का भाव--ये सब पाश्चात्य दार्शनिक जगत् के लक्षण हैं।

इसके ठीक विपरीत भारतवर्ष में दार्शनिक मतभेद के बावजूद भी कुछ ऐसी मान्यतायें हैं जो प्रायः सभी दर्शनों में पाई जाती है। जीवन बंधन है, वह अज्ञान के कारण है औरउस अज्ञान को दूर करने के लिए ज्ञानकी खोज दर्शन का लक्ष्य है। इस खोज में दर्शन न तो केवल इन्द्रिय-जन्य अनुभव तक सीमित रह सकता है और न तो केवल वैयक्तिक विचार के ही भरोसे रह सकता है। दर्शन को ऐसे व्यक्ति (आप्त पुरुष) के निर्देश की आवश्यकता होती है जो लक्ष्य को प्राप्त कर चुका हो, क्योंकि वह लक्ष्य कोई सांसारिक लक्ष्य नहीं है जो सबको सुलभ हो। इस प्रकार भारतीय दर्शन में सत्य की खोज अज्ञानग्रस्त व्यक्ति की वैचारिक उछल-कूद

नहीं है बल्कि जीवन की एक गम्भीर समस्या है जिसे हल किये बिना मनुष्य को चैन नहीं मिल सकती है।

पाश्चात्यों का कहना यह है कि **दर्शन सत्य की एक स्वतन्त्र खोज है**, अतः उसे मोक्ष नामक लक्ष्य के बंधन में डालना ठीक नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि मोक्ष को लक्ष्य न मान। जाय तब भी तो सत्य प्राप्ति का कोई उद्देश्य होना चाहिये। लाखों में दो एक व्यक्ति दार्शनिक होते हैं, बाकी लोग दर्शन की परवाह किये बिना जीवनयापन करते हैं और अपने को सफल और सुखी भी मानते हैं। इससे तो यह स्पष्ट होता है कि सांसारिक जीवन के लिए दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है, और यदि है तो वह अवश्य ही किसी असंसारी उद्देश्य के लिए ही हैं। पाश्चात्यों का कहना है कि सत्य की खोज से तरह-तरह के भ्रमों और अन्धविश्वासों से मुक्ति मिलती है, यही उसकी उपयोगिता है। मानव समाज में बहुत सी बुराइयां इन अंधविश्वासों के कारण हैं उनको दूर करके दर्शन समाज के लिए उपयोगी बन जाता है। कुछ अन्धविश्वास **विज्ञान** द्वारा हटाये जाते हैं, शेष को हटाने के लिये **दार्शनिक विचार** आवश्यकता है।

पाश्चात्यों में दर्शन की उपयोगिता के विषय में एक दूसरी विचारधारा भी पाई जाती है। कहा जाता है कि जगत के विषय में सत्यों की खोज विज्ञान कर रहा है। दर्शन का काम यह है कि वह जीवन और समाज के विषय में ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना करे जो व्यक्ति और समाज की दिशा-ज्ञान प्रदान करें। जैसे समाजदर्शन, राजनीतिदर्शन, आचार दर्शन, शिक्षा-दर्शन आदि दर्शन के उपयोगी क्षेत्र है और प्रत्येक युग में दार्शनिक का कर्तव्य है कि वह परिस्थितियों का अध्ययन करके उपरोक्त दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना करे। दर्शन का काम समय की पुकार को समझना और तदनुसार सिद्धान्त प्रस्तुत करना है। इसी से प्रत्येक युग में नये दर्शनों की आवश्यकता होती है। यह बात भारतीय दर्शन में नहीं पाई जाती है।

इन बातों से यह प्रकट होता है कि पाश्चात्य दार्शनिक दर्शन को केवल वर्तमान जीवन की समस्याओं तक ही सीमित रखना चाहते हैं। इसी से केवल अनुभव और विचार पर अवलम्बित रहना पसन्द करते हैं। जीवनोपरान्त मनुष्य का क्या होता है या क्या होगा यह उनकी समस्या नहीं है और यदि है भी तो वे उसे धर्म के क्षेत्र में रखना चाहते हैं ? दर्शन के क्षेत्र में नहीं हैं। क्योंकि **धर्म श्रद्धा और विश्वास का आधार लेता है जब कि दर्शन स्वतन्त्र समीक्षात्मक विचार का**। दर्शन और धर्म दोनों पृथक हैं किन्तु भारतवर्ष में दोनों का मिश्रण पाया जाता हैं जो ठीक नहीं माना जाता।

इस प्रकार हमको यह जान पड़ता है कि मूल समस्या दर्शन के उद्देश्य और प्रयोजन से सम्बन्धित है। उसी पर दार्शनिक विधि की समस्या अवलंवित है। इसके साथ ही पाश्चात्यों की विचार की क्षमता और सामर्थ्य में विश्वास जुड़ा हुआ है। कुछ दार्शनिक विचार की सीमाओं पर जोर देते हैं परन्तु अधिकांश लोग विचार को अत्यन्त सामर्थ्यवान समझते हैं और उसी का सहारा लेना चाहते हैं। यहाँ तक कहा जाता है कि दर्शन को विचार पर अवलंवित रहना ही है चाहे फल जो भी हो क्योंकि जो विचार में नहीं आता, वह दर्शन नहीं है। यह एक प्रकार की विचार-पूजा है जो पाश्चात्यों में पाई जाती है। अतः विचार करना है कि दर्शन का लक्ष्य क्या होना चाहिए और उसकी प्राप्ति कहाँ तक इस विचार पूजा से सम्भव है। क्या सत्य के जिज्ञासु के लिये विचार पूजा को प्राथमिकता देना ठीक है या सत्य प्राप्ति को। क्या सत्य की प्राप्ति के लिये विचार को त्यागना पड़े अथवा उसे आश्रित का स्थान देना पड़े तो ठीक न होगा? भारतीय दर्शन में विचार को स्थान नहीं प्राप्त है ऐसी बात नहीं है, निराधार स्वतन्त्र विचार दिशाहीन होता है ऐसी यहाँ की मान्यता है। केवल विचार ही करना है, ऐसा यहाँ का आग्रह नहीं है क्योंकि यहाँ के लोग विचार की सीमा को जानते हैं, यही नहीं बल्कि यहाँ यह भी माना जाता है कि विचार की साधन बुद्धि मनुष्य के संस्कारों से प्रभावित होती है और जिस कोटि की बुद्धि होती है उसी कोटि के हमारे विचार होते हैं। अतः बुद्धि का शुद्ध और सत्यनिष्ठ होना आवश्यक है यह बात पाश्चात्य लोग नहीं समझते।

यदि अनुभव को ही विचार की आधारशिला माना जाय तो भी पाश्चात्य दृष्टिकोण संकुचित मालूम पड़ता है क्योंकि वे लोग सन्तों के अनुभव पर विचार करना पसन्द नहीं करते। यही नहीं बल्कि साधारण अनुभव के सभी अंगों पर विचार नहीं करते। उदाहरणार्थ सुषुप्ति का अनुभव। इस अनुभव के विश्लेषण से किन सत्यों की प्राप्ति हो सकती है, इस पर वे विचार नहीं करते। इसे केवल अज्ञान की अवस्था मानकर छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों पर विचार नहीं किया जाता है। केवल जाग्रत अवस्था में जो उपलब्धि है, उसी को आधार बनाया जाता है।

हमको ऐसा जान पड़ता है कि पाश्चात्य विचारकों पर विकासवाद के सिद्धान्त का और विज्ञान की प्रगति का विशेष प्रभाव पड़ा है। विकासवाद के सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि मानव का क्रमशः विकास होता जाता रहा है। अतः इस समय के विचार प्राचीनकाल के विचारों से श्रेष्ठ हैं। विज्ञान की प्रगति ने

मानव का यह विश्वास दृढ़ कर दिया है कि अन्ततोगत्वा मानव की ज्ञान सम्बन्धी सारी समस्याओं का हल **विज्ञान** से हो जायगा। अतः दर्शन ज्ञान की वृद्धि के लिये आवश्यक नहीं है, दर्शन का काम केवल उपलब्ध ज्ञान में समन्वय स्थापित करना, उसमें स्पष्टता लाना, उसके आधार पर जीवन की दिशा निश्चित करना आदि है। इसी से **दर्शन का सम्बन्ध केवल इसी जीवन की समस्याओं से** माना जाता है। मनुष्य जीवन की समस्याओं का आत्यंतिक हल कैसे हो? यह आज का दार्शनिक नहीं सोचता है। व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन दोनों के लिये काम, क्रोध, लोभ आदि पर हम विजय कैसे प्राप्त करें, यह दर्शन की समस्या नहीं है यद्यपि यह समस्या सार्वभौम है, सतत है और सारी समस्याओं का मूल है। अतः यदि हम दर्शन को इसी जीवन की समस्याओं तक ही सीमित रखें, तब भी यह आवश्यक हो जाता है कि हम इन समस्याओं पर विचार करें।



भारतीय परम्परा के अनुशीलन से नया दर्शन संभव

प्रो० डा० रघुनाथ गिरि

यह एक जटिल प्रश्न है कि किस प्रकार के साहित्य को दर्शन का साहित्य माना जाय, क्योंकि अभी तक दर्शन की कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं बन सकी है। उसी प्रकार यह निर्धारित करना कि दर्शन का विषय क्या है ? यह भी एक कठिन कार्य है। दर्शन के अर्थ की इस अनिश्चयात्मकता को भारतीयविशेषण स्पष्ट करने के स्थान पर और भी जटिल एवं भ्रामक बना देता है। संभवतः यह विशेषण स्वरूप निर्देशक न होकर इतरव्यावर्तक ही हो सकता है। इस प्रकार 'भारतीयदर्शन' अभारतीयदर्शन से भिन्न का निर्देशक हो सकता है। किंतु इस प्रकार का द्विवर्गाश्रित विभाग किसी निश्चय पर पहुँचने के लिए पथ प्रदर्शक नहीं हो पाता। इसे स्पष्ट करने के लिए भारतीयदर्शन से निम्नलिखित विकल्पों में से किसी एक, कुछ, या सभी का निर्देश किया जाय' इसे एक प्रश्न के रूप में ही यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

(१) **सर्वदर्शनसंग्रह के आधार पर संगृहीत दर्शन**—श्री माधवाचार्य ने सर्वप्रथम अपने सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थ में—चार्वाक, बौद्ध, जैन, रामानुज, पूर्णप्रज्ञदर्शन, नकुलीश, पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, वैशेषिक, नैयायिक, जैमिनी पाणिनिदर्शन, सांख्य, योग तथा शांकरदर्शन का संग्रह किया। इसी के आधार पर पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित भारतीय चिन्तकों ने भारतीयदर्शन नाम से अनेक ग्रन्थों का अंग्रेजी हिन्दी में प्रणयन किया है जिसमें प्रो० हिरियन्ना, डा० राधाकृष्णन दासगुप्ता, डा०यदुनाथ सिन्हा, पं० बलदेव उपाध्याय, डा०उमेश मिश्र आदि अधिक ख्यात है। इन ग्रन्थों में यहां यथासंभव कुछ अन्य सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया गया है जैसे वेदान्त के विविध सम्प्रदाय भास्कर- भेदाभेद, मध्व का द्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, श्रीकण्ठ का शैव, विशिष्टाद्वैत, श्रीपति का वीरशैव, विशिष्टाद्वैत, वल्लभ का शुद्धाद्वैत, विज्ञानभिक्षु का अविभागाद्वैत, बलदेव का अचिन्त्यभेदाभेद

आदि तन्त्र में **शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन** और **बौद्धतन्त्र** एवं अन्य **वैदिक** और **वैदिकेतर** सम्प्रदाय ।

(२) **सन्तों तथा महात्माओं का दर्शन**—यदि भारत के जीवनशैली को यह स्पष्ट हो जाता है कि वह विद्वानों और चिन्तकों के विचारों से उतना प्रभावित नहीं है जितना सन्तों तथा महात्माओं के विचार से । भारत इन महात्माओं का विचार सम्पदा से सदा ही समृद्ध रहा है और यह अक्षुण्ण वैभव आज भी देश के विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध है उदाहरण के लिए कुछ का संकेत किया जा रहा हैं —

हिन्दी में—कबीर, तुलसी, सूर, रैदास, मीराबाई, दरियासाहेब आदि ।

मराठी में—ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, एकनाथ, महीपति, आदि भाऊसाहेब।

कर्णाटक में—वासवेश्वर, चन्नावासव, सर्वज्ञ, प्रभुदेव-आदि ।

इसी प्रकार वंगाली, उड़िया, तमिल, तेलगू आदि सभी भाषाओं में सन्तों ने अपूर्व ज्ञान सम्पदा एकत्र की है। यद्यपि यह ज्ञान सम्पदा तर्क युक्तियों से उतना सुसंगठित नहीं है जितना साक्षात् अनुभूति, निष्ठात्मक प्रयास एवं आदर्श आचरण से ।

(३) **नव जागरणकालीन चिन्तकों का दर्शन**- पराधीनता की बेड़ी को काटने के लिये राज्यक्रान्ति के साथ ही **विचारक्रान्ति** का भी सूत्रपात हुआ । यह अनुभव किया जाने लगा कि विचार तथा व्यवहार में, कथनी एवं करनी में सामञ्जस्य स्थापित किए बिना नव समाज का निर्माण नहीं हो सकता । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनेक चिन्तकों ने अधिक प्रयास किया और भारतीय दर्शन को नया मोड़ दिया । इन चिन्तको में **राजाराममोहनराय, रामकृष्ण, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, रामतीर्थ, तिलक, गान्धि, टैगोर, डा० भगवानदास, अरविंद, इकवाल** आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

(४) आधुनिक भारत में अनेक सम्प्रदाय अपने सिद्धान्त के प्रचार एवं प्रसार करते हुये अपने सिद्धान्त के पूर्ण निष्ठा के दावा के साथ रह रहे हैं, इनके सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक दोनों पक्षों पर वर्तमान समाज कि स्थिति तथा आगे आने वाले समाज का आधार टिका हुआ है । इनमें शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध सिख, पारसी, मुसलमान, इसाई आदि प्रमुख हैं ।

अतः इनके **सिद्धांत** एवं **व्यवहार** का निष्पक्ष अध्ययन भारतीय दर्शन का एक अनिवार्य एवं अविभाज्य अंग प्रतीत होता है।

(५) क—आज के भारत में अनेक विश्वविद्यालय हैं। उनमें दर्शन के विभाग हैं तथा दर्शन के अनेक विद्वान अध्यापकों द्वारा दर्शन का अध्ययन अध्यापन हो रहा है। सम्भव है कि इस अध्ययन-अध्यापन में आने वाले अनेक मत अपनी उत्पत्ति की दृष्टि से अभारतीय हैं किन्तु उनका अध्ययन-अध्यापन हमारे विश्वविद्यालयों में हमारे अपने चिन्तकों द्वारा हो रहा है तो क्या **हम उन्हें सदा अभारतीय दर्शन ही कहते रहेंगे या उनका समावेश भारतीय दर्शन में करेंगे ?**

ख—इन विश्वविद्यालयों के अनेक उद्‌भट विद्वानों ने अनेक प्रकार से दर्शन की सेवा की है तथा अपने विचारों को स्फुट या अस्फुट रूप में अपने द्वारा रचित ग्रन्थों में निबद्ध किया है। क्या इन विचारों को भारतीय दर्शन में समावेश न कर हम एक महती ज्ञान सम्पदा (जो वास्तव में भारतीय हैं) से अपना अधिकार समाप्त नहीं कर रहे हैं? इन विद्वानों में **प्रो० हिरियन्ना, श्री के. सी. भट्टाचार्य, डा. रानाडे, डा. राधाकृष्णन्, डा. जे० एन० सिनहा, डा० दासगुप्ता, डा० टी० आर० वी० मूर्ति, डा० महादेवन्** आदि के साथ अनेक और नाम जोड़े जा सकते हैं।

(६) प्रत्येक प्रचलित भाषा में दर्शन सम्बन्धी विचार होते हैं। ये विचार प्रायः दो प्रकार से निबद्ध होते हैं (१) स्वतन्त्र दार्शनिक ग्रन्थ के रूप में, (२) साहित्यिक कृतियों में दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में। भारत एक बहुभाषीय देश हैं जिसमें संविधान द्वारा चौदह भाषाओं को राज्य भाषा का स्तर प्रदान किया गया है। इन प्रयेक में उपलब्ध दार्शनिक सामग्री को भारतीयदर्शन की उपलब्ध राशि में जोड़ना क्या आवश्यक नहीं है ?

(७) यह मान लेना कि प्राचीन भारतीय साहित्य—संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि में जो कुछ दार्शनिक चिन्तन की सामग्री थी संगृहीत हो चुकी हैं, निराधार एवं कल्पित मान्यता है। क्योंकि अभी देश-विदेश के अनेक पुस्तकालयों में सहस्रों पाण्डुलिपियाँ पड़ी हुई हैं जिनको प्रकाशित किये बिना उनके सम्वन्ध में कुछ भी कहना सीमा का अतिक्रमण करना है। जो प्रकाशित सहित्य है उसका भी पूर्ण एवं साङ्गोपाङ्ग अध्ययन अनेक सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रकाश में ला सकता है जो वास्तव में भारतीयदर्शन के अज्ञात भण्डार हैं। **इनको प्रकाश में लाये बिना भारतीय दर्शन की सीमा बनाना कहाँ तक युक्तिसंगत होगा ?**

(८) आधुनिक भारतीय परिवेश में अपेक्षित दर्शन—स्वतन्त्र भारत में अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जिन पर दार्शनिक चिन्तन आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य हो गया है। हम अपने परिवेश में बाहरी विचारों तथा सिद्धान्तों से काम चलाने का प्रयास करते हैं किन्तु अनुभव के साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि यह प्रयास ग्रन्थियों को सुझलाने के स्थान पर उन्हें और उलझाता जा रहा है, अतः इन समस्याओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर निम्नलिखित दर्शन शाखाओं को स्पष्ट रूप देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) शिक्षादर्शन—आज की शिक्षा, शिक्षक शिक्षार्थी, शिक्षा का उद्देश्य, शिक्षण संस्थाओं का स्वरूप आदि पर देश की आवश्यकता, अपनी संस्कृति, वर्तमान युग तथा विश्व में अपने देश की स्थिति को ध्यान में रखकर दार्शनिक चिंतन आवश्यक है, इसके बिना न तो शिक्षा फलवती हो सकती है और न शिक्षा संस्थाओं में उत्पन्न समस्याओं का समाधान ही हो सकता है।

(२) धर्मनिरपेक्ष समाजवाद का दर्शन भारत के लिए, जहाँ अनेक धर्म तथा अनेक प्रकार के वर्णभेद, जातिभेद व्यवसायभेद विद्यमान हैं। जहाँ परम्परावादिता आधुनिकता का सतत संघर्ष चलता है, अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

युग की आवश्यकता को देखते हुए भारत के लिए इसी प्रकार राजदर्शन, विज्ञानदर्शन आदि की अपेक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अभी तक हमारे विश्वविद्यालयों में यूरोपीयदर्शन की ही भारतीयदर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन की एक परम्परा बन पायी है। इस परम्परा को व्यापक बनाने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। और चाइनीज, अमेरिकन, इस्लाम एवं विश्व के अन्य विभिन्न दर्शनों के साथ भारतीयदर्शन के अध्ययन की भी अपेक्षा है।

उक्त विकल्पों की व्यापकता को देखते हुए यह निर्णय करना आज के विद्वानों के लिए आवश्यक हो गया है कि इनमें से किन-किन विकल्पों को भारतीयदर्शन में समावेश किया जाय और किनको नहीं? हम यहाँ इसे प्रश्न रूप में ही छोड़ देना चाहते हैं और आशा करते हैं कि इस पर विचार विमर्श हो और भारतीय दर्शन के स्वरूप का स्पष्ट निर्धारण किया जाय, जिससे सामान्य पढ़ा लिखा व्यक्ति भी भारतीय दर्शन से एक निश्चित अर्थ समझ सके और विचारकों को भी खींचातानी का अवसर न रहे!

वर्गीकरण--भारतीय दर्शन के वर्गीकरण के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टिसे दर्शन के दो भेद हैं आस्तिक और नास्तिक। नास्तिक वे हैं जो श्रुति के प्रामाण्य का विरोध करते हैं तथा तर्क एवं प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। इनमें श्रुति के प्रति लेश मात्र की श्रद्धा नहीं देखी जाती।[1]

नास्तिक दो प्रकार के हैं। **आध्यक्षिक** (प्रत्यक्ष प्रमाणवादी) तथा **तार्किक**। चार्वाक प्रथम प्रकार का नास्तिक है। तार्किक नास्तिक के दो भेद हैं **क्षणिकवाद** और **स्याद्वाद**। इनमें क्षणिकवादी बौद्ध हैं और स्याद्वादी जैन। **आस्तिक** भी दो प्रकार के हैं (१) सगुण आत्मवादी (२) **निर्गुण आत्मवादी**।

(१) **सगुण आत्मवादी** भी दो प्रकार के हैं—(क) तार्किक, (ख) श्रौत। **तार्किक** भी दो प्रकार के हैं—(१) प्रच्छन्न तार्किक, (२) स्पष्ट तार्किक।

१-- **प्रच्छन्न तार्किक** भी दो प्रकार के है—(१) प्रच्छन्नद्वैत (२) स्पष्टद्वैत, रामानुज दर्शन प्रच्छन्न द्वैत है तो माध्वदर्शन स्पष्ट द्वैत।

२--**स्पष्टतार्किक** भी दो प्रकार के हैं--भोग साधन-अदृष्टवादी तथा उत्पत्ति साधन-अदृष्टवादी। **भोगसाधन अदृष्टवादी** भी दो प्रकार के हैं-- विदेहमुक्तिवादी तथा जीवनमुक्तिवादी। **विदेहमुक्तिवादी** भी दो प्रकार के हैं--आत्मभेदवादी तथा आत्मैक्यवादी। **आत्मभेदवादी** के दो भेद हैं--कर्म-अनपेक्ष-ईश्वरवादी, कर्मसापेक्ष ईश्वरवादी। कर्मअनपेक्ष ईश्वरवादी (नकुलीश पाशुपत) कर्मसापेक्ष ईश्वरवादी (शैव) आत्मैक्यवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन वाले हैं। **उत्पत्तिसाधन अदृष्टवादी** भी दो प्रकार के हैं शब्द को प्रमाणान्तर अनङ्गीकार करने वाले तथा शब्द को प्रमाणान्तर अङ्गीकार करने वाले। इनमें प्रथम में **वैशेषिक** तथा दूसरे में **नैयायिकों** को रखा गया है। **श्रौतदार्शनिक** भी दो प्रकार के है वाक्यार्थभेदी तथा पदार्थभेदी। **मीमांसा** प्रथम भेद का प्रतिनिधि है, **वैयाकरण** दूसरे का। **निर्गुण आत्मवादी** भी दो प्रकार के हैं तार्किक तथा श्रौत। इनमें तार्किक भी दो प्रकार के हैं अनीश्वरवादी तथा ईश्वरवादी। इनमें सांख्य को प्रथम वर्ग में और योग को दूसरे वर्ग में रखा गया है। तथा श्रौत (निर्गुण आत्मवादी) शांकरवेदान्त को माना गया है।[2]

---

१. श्रुतिप्रामाण्यविरोधिनस्तार्किकविशेषाः नास्तिका एतेषां च लेशतोऽपि न श्रुतौ श्रद्धा संदृश्यते। उपोद्घात सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ७९

२. उपोद्घात पृ० ११८ (सर्वदर्शनसंग्रह)

इस वर्गीकरण में भारतीयदर्शन के प्रथम विभाजकधर्म के रूप में श्रुति के प्रामाण्य या अप्रामाण्य को मान लिया गया है। इस मान्यता की सदोषता के सम्बन्ध में कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) यहाँ **श्रुति** का अर्थ निश्चित नहीं किया गया है। प्रथम विकल्प में श्रुति का अर्थ वेद एवं **वेद** का अर्थ **मन्त्र ब्राह्मण**[१] माना गया। किंतु ऐसा करने पर उपनिषद् तथा उनके उपर आधारित दर्शन भी आस्तिक वर्ग से बाहर होने लगे, तब **वेद** को **कर्मकाण्ड** और **ज्ञानकाण्ड** भेद करके **आरण्यक** एवं **उपनिषद** को अवेद के अन्तर्गत लाया गया।

वेद या श्रुति के इस परिष्कार के वाद भी ज्ञान का एक विशाल भण्डार जो **आगम** और **तन्त्र** के नाम से प्रसिद्ध था जिसके आधार पर अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का उद्‌भव हुआ था आस्तिक दर्शन में समाविष्ट नहीं हो रहा था। अतः उसका समावेश करने के लिए श्रुति शब्द के अर्थ का पुनः विस्तार किया गया और यह कहा गया कि श्रुति दो प्रकार की है **वैदिकी एवं तांत्रिकी**।

(२) उक्त चर्चा से यह स्पष्ट है श्रुति शब्द का अर्थ अवसर के अनुसार बदलता रहा है।

(३) श्रुति के सम्बन्ध में दूसरा विवाद पौरुषेयता एवं अपौरुषेयता का रहा है इसमें **पौरुषेयपक्ष** हठात् **ईश्वर** की मान्यता के लिए बाध्य है। **अपौरुषेयपक्ष** को **शब्द नित्यता** एवं बाह्य नित्यता मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। ये दोनों मान्यताएँ शब्द प्रमाण या किसी उच्चतर अनुभूति की अपेक्षा रखती हैं। सामान्य अनुभव तथा सामान्य अनुभवाश्रित तर्क इन दोनों में से किसी एक को भी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है।

(४) **उच्चतर अनुभूति** की प्राप्ति के उपरान्त व्यक्ति में आप्तता आ जाती है और आप्त के उच्चरित वाक्य में प्रामाणिकता मान्य है तो ऐसी स्थिति में यह भेद करना कि आस्तिक सम्प्रदाय के ऋषियों के हुए साक्षात्कार एवं उच्चरित शब्द प्रमाण है और नास्तिक सम्प्रदाय के ऋषियों के हुए साक्षात्कार एवं उच्चरित शब्द प्रमाण नहीं हैं, न्याय संगत नहीं हो सकता। यदि **बुद्धवचन** एवं **जिनबचन** को भी श्रुति का स्थान प्राप्त हो गया होता (जो दुर्भाग्य वश नहीं हो सका) तो निश्चय

१. श्रुति-वेद हैः वेद-मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः श्रुति द्वेधा-वैदिकी तान्त्रिकी चेति' (मेधातिथि-मनुस्मृति)

ही उसी प्रकार यह भेद भी समाप्त हो गया होता, जिस प्रकार **निगम तथा आगम** का भेद **कर्मकाण्ड एभं ज्ञानकाण्ड** का भेद समाप्त हुआ।

(५) विभाजक धर्म के रूप में उक्त मान्यता को स्वीकार करने की मात्र परम्परा रही है, जो संस्कृतिभेद एवं विचार भेद की असहिष्णुता से उत्पन्न है। इसका कोई मौलिक आधार नही है।

नवीन वर्गीकरण की आवश्यकता—उक्त दोषों को देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आग्रहरहित होकर भारतीय दर्शन का वर्गीकरण किया जाय। किन्तु वर्गीकरण को स्पष्ट एवं तार्किक दोष से रहित रखने के लिए कुछ शर्तों को पूरा करना होगा।

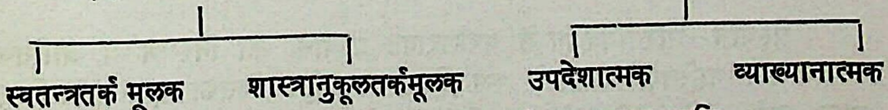
(१) वर्गों में विभक्त होने वाले भारतीयदर्शन की सीमा का निर्धारण करना होगा।

(२) उन अधारभूत विभाजक धर्मों को लेना होगा जो एक ओर मान्यता पर आधारित न हो और दूसरी ओर परस्पराच्छादनता सांकर्य, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति विभाग के दोषों के निवारण करने में समर्थ हों।

अतः इस सम्बन्ध में केवल कुछ सुझाव उपस्थित किए जा रहे हैं।

(१) **भाषाभेद के आधार पर**; संस्कृत, पालि, प्राकृत, एवं आधुनिक भाषायें।

(२) **शैली भेद के आधार पर**: (क) भाषागत शैली—संवाद, सूत्र, भाष्य, टीका, निबन्ध, प्रबन्ध, आदि। (ख) प्रतिपादन शैली।



(३) आलोचनात्मक, (४) समन्वयात्मक, (५) तुलनात्मक आदि

(३) **प्रतिपाद्य विषय के स्वरूप के आधार पर।**

जैसे— (क) भौतिकतत्त्ववाद–अतिभौतिकतत्त्ववाद–आध्यात्मिकतत्त्ववाद

(ख) एकतत्त्ववाद, उभयतत्त्ववाद, अनेकतत्त्ववाद

(ग) प्रत्ययवाद, वस्तुवाद

(घ) नित्यतावाद (शाश्वतवाद) उच्छेदवाद, मध्यमवाद

(ङ) आत्मवाद, अनात्मवाद, ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद

(४) लक्ष्य के आधार पर—मुख्य लक्ष्य-ऐहिकसुख, स्वर्ग, मोक्ष, निर्वाण भाग्यवर्द्धक आदि

–गौणलक्ष्य–तत्त्वज्ञान, शास्त्रार्थ में विजय, प्रतिभा–विकास। समाजसुधार, नवनिर्माण

(५) प्रमाण के आधार पर—(क) प्रमाणसंख्या–एक प्रमाण, दो प्रमाण, तीन प्रमाण, चार प्रमाण, अनेक प्रमाण

(ख) प्रमाण सम्प्लव–प्रमाणव्यवस्था

(ग) स्वतः प्रामाण्य, उभय प्रामाण्य, सापेक्षवाद (स्याद्वाद)

(६) कार्यकारण के तथाभूत आधार सिद्धान्तों के आधार पर—आरम्भवाद, सन्तानवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद।

(७) साधन के आधार पर—कर्मप्रधान, ज्ञानप्रधान, भक्तिप्रधान, समन्वयात्मक, समुच्चयात्मक।

(८) परम्पराभेद के आधार पर—भारतीय परम्परानुसारी, पाश्चात्य-परम्परानुसारी, तुलनात्मक, स्वतन्त्रचिन्तनात्मक।

यह संकलन एवं दिग्दर्शन मात्र हैं। इसका विवेचन, संशोधन, संवर्द्धन, नितान्त अपेक्षित है।

प्रस्थान—भारतीयदर्शन के परम्परागत प्रस्थानों का निरूपण भी आस्तिक प्रस्थान तथा नास्तिक प्रस्थान के रूप किया गया है। जिसका एक संक्षेप किन्तु स्पष्ट वर्णन महिम्नस्तोत्र के "त्रयी सांख्ययोग" श्लोक की मधुसूदनसरस्वती की व्याख्या में उपलब्ध है। नास्तिक प्रस्थानों का नाम यहाँ निर्देश करने के बाद **मधुसूदन सरस्वती** कहते हैं कि इन नास्तिक प्रस्थानों का समावेश ऋजु कुटिल नाना पथों में इसलिए नहीं किया गया है क्योंकि वेद वाक्य होने से ये साक्षात् या परम्परया पुरुषार्थ के उपयोगी नहीं है! इस प्रकार अन्यत्र भी दर्शन का वर्णन समिति रूप में ही हुआ है।

इस निबन्ध के प्रारम्भ में उपस्थित अनेक विकल्पों का समावेश यदि भारतीय दर्शन में किया जाय तो निश्चय ही इसके नवीन प्रस्थानों की आवश्यकता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उक्त समस्त विकल्पों के आधारों को भी भारतीय दर्शन के प्रस्थान मानकर उन पर विचार करना होगा।

इसलिए नये प्रस्थानों के समावेश का प्रश्न नवीन परिप्रेक्ष्य के स्पष्टीकरण पर निर्भर है।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय दर्शन के स्वरूप तथा क्षेत्र उसके वर्गीकरण तथा उसके नवीन प्रस्थान की समस्या एक व्यापक एवं जटिल समस्या है। उसको सुलझाना कोई सरल काम नहीं है। इसके लिए आग्रह रहित होकर संघठित प्रयत्न करने की आवश्यकता है।



संस्कृति-दर्शन–सम्भावनायें और स्वरूप

--डा० शम्भुनाथ सिंह

दर्शन का मूल अर्थ है देखना, साक्षात्कार करना। किन्तु जब हम दर्शनशास्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य उस शास्त्र से होता है जिसमें तार्किक पद्धति से किसी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है जो अपने विषय के चरम सत्य या मूलतत्त्व से सम्बन्धित होता है। इस तरह **दर्शनशास्त्र सामान्यचाक्षुष साक्षात्कारजन्य अनुभव नहीं है**। अन्नमय कोश से लेकर आनन्दमय कोश तक के सभी अनुभव चेतना के साक्षात्कार-जन्य अनुभव हैं किन्तु उनके अनेक स्तर हैं जो क्रमशः ऊर्ध्वोर्ध्व रूप में स्थित होते हैं। दर्शन ऊर्ध्वोर्ध्वक्रम से चेतना के चतुर्थ स्तर के अनुभवों का शास्त्र है। उस स्तर से नीचे के स्तरों के अनुभवों के क्रमबद्ध और तर्कपूर्ण विवेचन-विश्लेषण को ज्ञान-विज्ञान तो कहा जा सकता है, पर उन्हें दर्शन की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दर्शन जीवन से कटा हुआ किसी अतीन्द्रिय लोक के अनुभवों का शास्त्र है। मानव सभ्यता के विकास का इतिहास वस्तुतः ज्ञान-विज्ञान, विद्याओं और कलाओं के उत्तरोत्तर विकास का इतिहास है। इस विकास क्रम में दर्शन शास्त्र निरन्तर मानव जीवन से सम्बद्ध रहता आया है। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में अन्तिम निष्कर्ष भले ही कल्पनाश्रित प्रतीत हो, किन्तु उनका प्रारम्भ जीवन की यथार्थ समस्याओं को लेकर ही हुआ था। दुःख, जरा, मरण, क्षणिकता, परिवर्तन आदि तथ्यों से अधिक यथार्थ समस्या और क्या हो सकती है? सृष्टि की उत्पत्ति और विकास की समस्या क्या अयथार्थ है? भारतीय दर्शनों का प्रारम्भ इन्हीं प्रश्नों को लेकर हुआ। चेतना के निम्नस्तरों के अनुभव दर्शन के 'कच्चे माल' अर्थात् चिन्तन और प्रयोग की सामग्री मात्र हैं। चेतना के मुख्यतः पाँच स्तर हैं १. सहजातवृत्ति और सहजज्ञान का स्तर, २. वंशपरम्परागत ज्ञान का स्तर ३. शास्त्रीय ज्ञान का स्तर, ४. दार्शनिक ज्ञान का स्तर ५. प्रातिभ-ज्ञान समाधि दशा के ज्ञान का स्तर।

इसमें से पहला स्तर मानवेतर प्राणियों अथवा आदिम मानव की अविकसित चेतना का स्तर है। जिसमें रचना धर्मिता सहजातवृत्ति और सहजज्ञान की प्रेरणा पर आधारित होती है। मधुमक्खी का मधुछत्र, बया का घोंसला, दीमकों का बल्मीक तथा इसी प्रकार के अन्य पशु पक्षियों के कार्य अद्‌भुत और श्रमसाध्य होते हुए भी उनकी बौद्धिक क्रिया के परिणाम नहीं हैं। ये उनकी सहजात प्रवृत्ति और सहज ज्ञान के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

द्वितीय स्तर वंशपरम्परागत ज्ञान का होता है जो मानव सभ्यता के आदिम काल में ही प्रारम्भ हो गया था और आज तक वर्तमान है। आदिम युग में पाषाण-काल से लेकर ताम्रयुग तक मनुष्य ने सभ्यता के जिन उपकरणों का विकास किया उन्हें प्रत्येक कबीले के लोग वंश-परम्परागत रूप में सीखते रहते थे। प्रस्तरास्त्र, गुफा-चित्र, गृह-निर्माण, मृत्भांड-निर्माण आदि से लेकर घरेलू उपयोग की विविध वस्तुओं औजारों और यंत्रों तक का विकास वंशपरम्परागत रूप में ही हुआ और कृषि-युगीन समाज में श्रम-विभाजन की प्रथा प्रारम्भ हो जाने तथा वर्णों और जातियों का विभाजन हो जाने के बाद विविध पेशेवर जातियों में अवशिष्ट रह गया। तेली, कुम्हार चमार, कोयरी, आदि जातियों में वे उपयोगी कलायें या विद्याये वंशपरम्परागत रूप में आज भी चली आ रही हैं। वैदिक काल में भारत में ब्राह्मणों को त्रयी विद्या का, सूत-मागधी को इतिहास-पुराण का, राजन्य वर्ग को युद्ध-विद्या का, वैश्य वर्ग को व्यापार-धन्धों का और शूद्रों को कृषि-कर्म एवं कला कौशल का ज्ञान, वंश परम्परा द्वारा ही प्राप्त होता था। इनका प्रारम्भ में न तो शास्त्र था न इनके प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। यह प्रथा आज भी अनेक देशों में किसी न किसी रूप में वर्तमान है।

चेतना का तीसरा स्तर वह है जिसमें विभिन्न विद्याओं और कलाओं के शास्त्र बन जाते हैं। ये शास्त्र परिश्रम और ज्ञान के प्रश्रय के उद्देश्य से बनाये जाते हैं। किसी विद्या का शास्त्र बनने का यह अर्थ नहीं कि उसके पूर्व वह विद्या थी ही नहीं। इसके विपरीत उससे यह प्रमाणित होता है कि ये विद्यायें वर्तमान में थी जिसका सम्यक् अध्ययन करके तार्किक पद्धति से उनके अवयवों का वर्गीकरण स्वरूप-निर्धारण और विवेचन करके उनके सम्बन्ध में सिद्धान्त बनाये गये तथा उनके लक्षणों और नियमों का निर्धारण किया गया। भारत में उत्तर वैदिक काल में शिक्षा, निरुक्त, व्यवस्था, ज्योतिष, कल्प और छन्दस नामक शास्त्रों का विकास वैदिक ज्ञान के संरक्षण एवं प्रचार तथा विद्यार्थियों एवं शिष्यों के लिए ही हुआ था।

धनुर्विद्या, नाट्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराण आदि का प्रणयन भी इसी उपयोगितावादी उद्देश्य से हुआ। आधुनिक युग में सभ्यता के विकास के साथ-साथ नये-नये शास्त्रों का प्रादुर्भाव सामाजिक उपयोगिता के लिए हुआ। जैसे इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, भूगर्भशास्त्र, खगोलशास्त्र, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, शरीरविज्ञान, तथा विविध प्रकार के प्राविधिक शास्त्र आदि। ज्ञान, विज्ञान और प्रविधि सम्बन्धी इन सभी शास्त्रों का उद्देश्य प्रशिक्षण देकर ऐसे विशेषज्ञों को तैयार करना है जो प्राकृतिक साधनों द्वारा वैज्ञानिक और प्रयोग सिद्ध पद्धतियों का उपयोग कर उन्हें मानव के भौतिक सुख के हित में नियोजित कर सकें।

इन आधुनिक शास्त्रों के विकास के पूर्व भी ये विद्यायें वर्तमान थीं किन्तु उनका शास्त्र नहीं था, वे वंशानुक्रम परम्परा से चलती आ रही थी। इन्हीं विद्याओं के क्षेत्र में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार भी किये गये, जिनका उपयोग मानव के हित के लिए किया जाता है।

चेतना के विकास का चतुर्थ स्तर दर्शन का है। इस स्तर पर ज्ञान की उपलब्धि उपयोगिता के लिए नहीं, केवल ज्ञान के लिए होती है। इस तरह दर्शन का लक्ष्य केवल सत्यान्वेषण या तत्त्वान्वेषण है। यह दूसरी बात है कि दर्शन द्वारा उपलब्ध ज्ञान समाज के हित के लिए भी प्रयुक्त हो। किन्तु दार्शनिक का लक्ष्य तत्त्वान्वेषण ही है। इस अन्वेषण की प्रक्रिया बौद्धिक और तर्कसंगत होती है। अतः हम कह सकते हैं कि ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी शास्त्र जहाँ समाप्त होते हैं, वहाँ से दर्शन का प्रारम्भ होता है। फिर भी दर्शन में **चेतना** के पूर्ववर्ती तीनों स्तरों का ज्ञान सामग्री या समवाय के रूप में वर्तमान रहता है। दार्शनिक की प्रतिभा दर्शन का निमित्त कारण होती है जो वैज्ञानिक और शास्त्रज्ञ के बौद्धिक पद्धति और तार्किकता का प्रयोग तो करता है पर उपयोगिता की सीमा तक जाकर रुक नही जाती, बल्कि और भी ऊँचाई पर पहुँच कर चरम सत्य को बलपूर्वक उपलब्ध करती अथवा उपलब्ध करने का दावा करती है।

चेतना का पंचम स्तर पश्यन्तीवाक् या सम्यक्ज्ञान का स्तर है जो साधना की सरणियों को पार करने के बाद समाधिदशा में उपलब्ध होता है। इस स्तर पर ज्ञान की उपलब्धि प्रातिभज्ञान दिव्यदृष्टि (Vision) द्वारा होती है। चरम सत्य या परमतत्त्व का साक्षात्कार इसी स्थिति में होता है और इसी ज्ञान को प्रज्ञान या वास्तविक दर्शन कहा जा सकता है। यह ज्ञान कार्य-कारण-परम्परा

विहीन, तर्कातीत और अप्रमेय होता है। इस स्तर पर जो अनुभव होता है, वह लगभग अनिर्वचनीय होता है। किन्तु अनिर्वचनीय और अप्रमेय होते हुए भी वह अतीन्द्रिय और अलौकिक नहीं होता। इस ज्ञान का मूल यथार्थ जगत में ही होता है, पर उसकी मूर्धा परोक्ष सत्य का स्पर्श करती है। इस तरह यह ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष लोक के बीच सेतु के रूप में होता है। वह साधन को, व्यक्तित्व को सामान्य रूप से पूर्णतया परिवर्तित कर देता है जिसमें वह सामान्य लोगों से भिन्न कोटि का व्यक्ति बन जाता है, ऐसे हो व्यक्तियां को सिद्ध. महात्मा, सिद्ध कलाकार और कवि, सिद्ध सन्त और सिद्ध विद्वान कहा जाता है। वे परप्रत्ययनेय बुद्धि वाले नहीं होते, उनका निजी विशिष्ट अनुभव होता है जिसे वे सर्वसुलभ बनाना चाहते हैं, पर सब में उसे ग्रहण की क्षमता नहीं होती। अतः विभिन्न लोग उस ज्ञान को अपनी-अपनी सभ्यता और पात्रता के अनुसार अलग-अलग ढंग से और अलग-अलग रूप में ग्रहण करते हैं। चेतना के अनुभवों के उपर्युक्त पाँच स्तरों के क्रम में यह ध्यान देने की बात है कि **प्रथम और अन्तिम** स्तर में **बौद्धिक आयास** और **तार्किकता** का उपयोग बिल्कुल नहीं होता किन्तु इन दोनों स्तरों में **मानवीयता** और **नैतिकता** का महत्त्व बहुत होता है। वंशानुक्रम द्वारा उपलब्ध ज्ञान बुद्धि का आश्रय अवश्य लेता है, किंतु उससे बौद्धिक विवेचना का आधिक्य नहीं होता। इस कारण उसमें सहजता के साथ सामाजिक सहयोग की प्रवृत्ति होती है। यह ज्ञान प्रयोक्ता से व्यक्तित्व में समा गया रहता है जिससे उसके ज्ञान के स्तर और उसकी सांस्कृतिक चेतना में सामंजस्य की स्थिति होती है। तृतीय स्तर में बौद्धिक प्रयास और तार्किकता की अधिकता दिखाई पड़ने लगती है, परिणाम स्वरूप यह ज्ञान ग्रहीता के बौद्धिक धरातल पर पहुँच कर वहीं रुक जाता है। ग्रहीता इस ज्ञान का उपयोग तो अपने **जीविकोपार्जन** के लिए करता है अथवा **सामाजिकहित के उपयोग** के लिए; किन्तु उस ज्ञान से उसका व्यक्तित्व अप्रभावित रहता है अथवा यों कहें कि उस ज्ञान में मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाला कोई तत्त्व ही नहीं होता। परिणाम स्वरूप ऐसा शास्त्रीयज्ञान समाज का जितना हित करता है, उससे कहीं अधिक उसका अहित करता है। वह मनुष्य का बौद्धिक विकास तो बहुत अधिक करता है किन्तु साथ ही उसकी **नैतिक** और **सौन्दर्य बोधात्मक** प्रवृत्तियों की जड़ों को काट देता है जिससे वे सूख कर मर जाती हैं। ज्ञान-विज्ञान और प्रविधि के शास्त्रों की यही बिडम्बना है कि जितना ही अधिक उनका विकास होता जा रहा है, मनुष्य जाति में मानसिक शान्ति और आत्मिक आनन्द का उतना ही अधिक अभाव होता जा रहा है।

दर्शन शास्त्र भी ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों की भाँति पूर्णतया बौद्धिक प्रयास और तार्किक पद्धति पर आश्रित है। किन्तु उसकी दृष्टि उपयोगितावादी नहीं है, और यदि उसका कुछ सामाजिक प्रभाव हो भी सकता है तो वह इतना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म होता है कि सामान्य जन उसकी ओर आकृष्ट ही नहीं होता। यही कारण है कि ज्ञान विज्ञान के इस चरम उत्कर्ष के युग में दर्शन का महत्त्व बहुत कम हो गया है। आज के इस भौतिकतावादी और यथार्थवादी युग में इतना अवकाश किसके पास है कि वह केवल तत्त्वज्ञान या सत्य की उपलब्धि के लिए दर्शन शास्त्र की दुर्गम बौद्धिक घाटियों को पार करे। दूसरी आर दर्शन शास्त्र की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह सत्यान्वेषक को असाधारण तो बना सकता है, पर वह असाधारण, अनाचारी और असामाजिक व्यक्ति को सामान्य, सदाचारी और सामाजिक बनाने में पूर्णतः असमर्थ है। वस्तुतः अतिशय बौद्धिकतायुक्त होने के कारण वह मानव के रागात्मक और सौन्दर्य बोधात्मक पक्ष का स्पर्श नही कर पाता। फलतः दर्शन शास्त्र और मानवता के व्यावहारिक गुणों के बीच सामंजस्य नहीं स्थापित हो पाता। इस तरह दार्शनिक ज्ञान अपनी जगह रहता है और दार्शनिक अथवा जिज्ञासु का जीवन अपनी जगह। **दर्शनशास्त्र** को पूर्णतः अधीन कर लेने के बाद भी यदि कोई दार्शनिक केवल ऊपर-ऊपर से दार्शनिक और अन्तर से मानवता के गुणों से रहित और राक्षस के लक्षणों से युक्त है तो इसमें दोष दर्शन शास्त्र का ही माना जायेगा। सभी शास्त्रों और दर्शनों का ज्ञाता महापण्डितरावण अनाचार और अत्याचार का प्रतीक बन गया था। यह इतिहास-पुराण की बात है किन्तु आज **वेदान्त** के महा-पण्डित मुकदमेबाज हैं। **पाणिनि और भर्तृहरि** के ज्ञान को हस्तामलकवत् आयत्त कर लेने वाले भाषा पण्डित दूसरों का अकारण अहित करने वाले और तिकड़मबाज हैं तो यह स्वतः प्रमाणित है कि दर्शन और अन्य शास्त्र मनुष्य को वास्तविक मनुष्य बनाने में असमर्थ हैं।

अंतःचेतना के उच्चतम स्तर—प्रातिभ ज्ञान के स्तर को ही हम आधुनिक युग में मानव की मुक्ति का चरम साधक मानते हैं क्योंकि यह बौद्धिक संत्रास और पीड़ा से मुक्त होता है। वह मानवीय गुणों की पीठिका पर आधारित होता है और उसकी जड़ें मानव विकास के आदिम काल तक गयी हैं। वह स्वानुभूत और साक्षात्कृत ज्ञान है, वह बुद्धि का व्यायाम नहीं, व्यक्तित्व की उपलब्धि है। वह तर्क द्वारा, प्रमाणों द्वारा सत्य को सिद्ध नही करता, बल्कि अनिर्वचनीय अनुभवों को चारित्र्य की मूक वाणी में व्यक्त करता है। यह ज्ञान संस्कृति की चरम परिणति है, हजारों वर्षों से मानव संस्कारों में संचित सत्यों की जीवन्त अभिव्यक्ति है। वह

अस्वीकार नहीं परम्परा का अभिनवीकृत व्याख्यान है। यह ज्ञान साधक के सुसंस्कृत व्यक्तित्व से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह साधक के व्यक्तित्व को परिवर्तित कर उसे अपने साँचे में ढाल देता है। इस स्तर पर ज्ञान और ज्ञाता में, कथनी और करनी में कोई भेद नहीं रह जाता। यह ज्ञान **बौद्धिकदर्शन नहीं, संस्कृति का दर्शन** है क्योंकि वह मानवीय संस्कृति के शाश्वत सत्यों का ही प्रतिबिम्ब है। हमारी दृष्टि में दर्शन शास्त्र से द्रष्टा के साक्षात्कार जन्य अनुभव का अधिक महत्त्व है और दार्शनिक चिन्तकों से बड़ा दार्शनिक मैं उन्हें मानता हूं जो अपने साक्षात्कारजन्य अनुभूत सत्य को स्वं जीते हैं। इसी कारण मैं **ऋग्वेद** के वाक् सूक्त के द्रष्टा **वृहस्पति** (मण्डल १०--सूक्त ७१) को तथा **वाक्यपदीयम्** के कर्त्ता **भर्तृहरि** को, **पाणिनि** और **यास्क** से, **हिरण्यगर्भ सूक्त** (ऋ० १०—१२१) के द्रष्टा **हिरण्यगर्भ, नासदीय सूक्त** (ऋ० १०—१२९) के द्रष्टा **प्रजापति परमेष्ठी** और **पुरुषसूक्त** (ऋ १०— ०) के द्रष्टा **नारायण** को वेदान्त, मीमांसा, न्याय और वैशेषिक के प्रवर्तक दार्शनिकों से अधिक महान समझता हूं। मेरी दृष्टि में **उपनिषदों** के चिन्तक **जनकयाज्ञवल्क्य** आदि **कुमारिलभट्ट** और **शंकराचार्य** से. **गौतमबुद्ध, नागार्जुन** और **दिङ्नाग** से तथा **महावीर, उदयन** और **कुन्दकुन्दाचार्य** से अधिक महान दार्शनिक हैं। मैं **कण्हपा**. **गोरखनाथ, रामानन्द, कबीर, नानक** और **तुलसी** को किसी भी दार्शनिक से अधिक महान समझता हूं, आधुनिक युग में **महर्षि अरविन्द**, स्वामी **विवेकानन्द**, स्वामी **रामतीर्थ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मागांधी** और **निराला** मेरी दृष्टि में राधाकृष्णन्, रानाडे तथा अन्य किसी दर्शन के प्राध्यापक विद्वान से बड़े दार्शनिक थे। इस प्रकार जो दर्शन जीवन की चिरन्तन समस्याओं को सुलझाने की जगह स्वयं दार्शनिक को ही सांसारिक प्रपंचों में उलझाकर भटकाता रहे, वह दर्शन नहीं, दर्शन की जड़ प्रतिमा मात्र है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्धिक विवेचना वाले समस्त शास्त्र, जिनमें दर्शन शास्त्र भी सम्मिलित है, मानव की मुक्ति के चरम साधक नहीं है। आन्तरिक भय, बाह्यसंत्रासः, अन्तर्द्वन्द्व, बाह्यसंघर्ष, आत्मपीड़न और संवेदनशून्यता की समस्याओं का समाधान किसी भी बुद्धिवादी शास्त्र के पास हो ही नहीं सकता। **पश्चिमी देशों** में आज इस बुद्धिवाद की असफलता सिद्ध हो चुकी हैं। वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति की होड़ में पश्चिम का मानव अपनी समस्त आत्मिक शान्ति और मानसिक संतुलन खो बैठा है। उसे यह भय हो गया है कि आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा मनुष्य जाति का संहार किसी भी क्षण हो सकता है। अपार भौतिक सम्पदा संचित कर लेने के बाद वह देखता है कि उसे ऐतिहासिक परम्परा से

मानवीय गुणों की, आत्मिक सुख और शांति की जो संचित सम्पदा प्राप्त हुई थी उसे आज वह खो चुका है। पूर्व के देश भी, जो कभी धर्मदर्शन और आध्यात्मिकता के अग्रदूत थे, पश्चिमी देशों की बुद्धिवादी सभ्यता की चकाचौंध में अपनी सांस्कृतिक धरोहर को भुला चुके हैं। उनके साधना-मार्ग और दार्शनिक चिंतन, उनकी समस्त आध्यात्मिक सम्पदा आज जड़ और प्रस्तरीभूत हो गयी है। इसी कारण इन देशों के लोग उसे अपने सिर का बोझ समझकर उतार फेंकना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि इस समस्त आध्यात्मिक और साधनात्मक ज्ञान को हजारों वर्षों से केवल पुस्तकों में बन्द कर रखा गया है। उसे सामान्य जनता तक पहुंचाने और जीवन में उतारने का अभ्यास बहुत पहले छूट गया था और आज इन देशों के लोग भी उन्हीं मानसिक रोगों से ग्रस्त हैं जिनसे पश्चिम के लोग।

अतः आधुनिक मानव की मुक्ति का एक मात्र मार्ग यही है कि वह सबसे पहले मानव बने, वह अकुतोभय होकर मानवीय सत्यों का वरण करे। यह मार्ग सभ्यता का नहीं, संस्कृति का मार्ग है। आज हमें एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो बुद्धिवाद पर आधारित न हो, बल्कि आत्मसाक्षात्कार और आत्मोपलब्धि पर आधारित हो। आज की वैज्ञानिक और तर्काश्रित सभ्यता ज्ञान, विज्ञान और प्रविधि के सोपानों को पार करती हुई एक ऐसे बिन्दु पर आ पहुँची है, जहाँ आगे बढ़ने का अर्थ है अतल गर्त में गिरकर आत्महत्या करना। अतः मानवता को वहाँ से पीछे लौटाना होगा। उसे मानव जाति की उस सांस्कृतिक परम्परा का मार्ग दिखाना होगा जिसको मानव ने सहजात प्रवृत्ति और सहज ज्ञान द्वारा आदिम युग में कीट-पतंगों और पशु पक्षियों से सीखा था जिसे उसने वंश परम्परा द्वारा प्राप्त कर युग युग तक अपने जीवन को सुखमय और शान्तिमय बनाया था। सामाजिक सहयोग, सामाजिक न्याय, विश्व-मैत्री, प्राणिमात्र के प्रति-प्रेम, अनन्त करुणा और औदार्य, विशाल सहृदयता और अक्षय आत्म शक्ति का जो स्रोत मानव जाति को उपलब्ध था उसके अमृततुल्य जल को पीकर मानव राक्षसत्व की शक्तियों से निरन्तर लड़ता हुआ भी सुखपूर्वक जीवित रह सका। अपनी इस अनन्त यात्रा में उसने जिन विद्याओं और कलाओं को आयत्त किया था, वे उसको आत्मिक शान्ति प्रदान करने वाली थीं किन्तु जिस दिन उन विद्याओं और कलाओं को बौद्धिकता और तर्क के तारों से जोड़ दिया गया, उस दिन से उनका शक्ति स्रोत सूखने लगा। वे विद्या न रहकर शास्त्र बन गयीं, कला न रहकर यंत्र हो गयीं और रसात्मक तथा आनन्दमय न रहकर नीरस और दुःखमय बन गयीं।

संस्कृतिशून्यता का ही यह परिणाम हुआ कि आज इस देश के लोगों का नैतिक पतन चरम सीमा तक पहुंच गया है। महात्मागांधी ने सत्य और अहिंसा

के लिए आत्म-बलिदान तक कर देने की जो शिक्षा दी थी, आज उसका कोई नाम-लेवा तक नहीं है। सामान्य लोगों की तो बात ही क्या बड़ा से बड़ा शक्ति सम्पन्न व्यक्ति भी इतना अधिक अवसरवादी, लोभी और स्वार्थपरायण हो गया है कि वह अपनी राजनैतिक और सामाजिक हानि के भय से सत्य कहना तो दूर असत्य का ही सत्य के रूप में ढिंढोरा पीटता है। आत्मिक और नैतिक शक्ति के इस भयानक ह्रास का परिणाम यह होगा कि हम न तो अपने सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रख सकेंगे और न पश्चिमी देशों की बुद्धिवादी नैतिकता को ही अपना पायेंगे। अतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक **ऐसे नवीन दर्शन की आवश्यकता है जो संस्कृति का दर्शन हो, किन्तु संस्कृति का शास्त्र न बने, बल्कि संस्कृति-पुरुषों का निर्माण करे यह दर्शन वस्तुतः जीवन-दर्शन होगा, वाक्-विलास नही।** यह प्रायोगिक और व्यावहारिक सत्यान्वेषण की उपलब्धियों को मानव हित में नियोजित करेगा। वह विद्वानों और पण्डितों का नहीं, सिद्ध संतों, द्रष्टा कवियों और कलाकारों तथा प्रातिभ शक्ति से युक्त सामान्य व्यक्तियों का दर्शन होगा। इस दर्शन का अध्यापन विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में हो या न हो; किन्तु परिवारों, सामाजिक संगठनों और विद्वद् गोष्ठियों में इस दर्शन के सिद्धान्तों और उद्देश्यों को पहुंचाना आवश्यक होगा, ताकि निरन्तर प्रयास द्वारा समाज की मानसिक धारा को नयी दिशा में मोड़ा जा सके।



भारतीयचिंतन की परंपरा में नवीनदर्शनों की सम्भावनाएं

नया दर्शन कैसे ?

श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी

दर्शन को सभी सामाजिक और वैज्ञानिक शास्त्रों का जन्मदाता माना जाता है और सच तो यह है कि दार्शनिक चिन्तकों ने ही समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, ऐतिहासिक दर्शन तथा राजनीतिक दर्शन आदि को जन्म दिया है। भारत में भी दार्शनिक चिन्तन की एक प्राचीन परम्परा है और वह परम्परा आज भी नये चिन्तन के रूप में तो नहीं, परन्तु अध्ययन अध्यापन के रूप में अवश्य अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। प्राचीन भारत के ऋषियों के वचन एवं कर्तव्य में एकता थी, तभी तो ऋषि जैसा कहते थे उसके अनुरूप ही अर्थ सम्पन्न हो जाया करता था—

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।[1]

दर्शन केवल एक सैद्धान्तिक शास्त्र नहीं है बल्कि जीवन की वास्तविकताओं से उसका गहरा सम्बन्ध है। हमारा विश्वास है कि किसी विद्वान् को इस तर्क से कोई विरोध नही होगा। इसलिये भारत के दार्शनिकों को अपने परम्परागत चिन्तन एव सिद्धान्तों का विवेचनात्मक दृष्टि से पुनरीक्षण करना चाहिए तथा तर्क की कसौटी पर जा भारतीय मन्तव्य प्रमाणित नही हो पाते हैं, उनका साहस के साथ खण्डन कर देना चाहिए। तर्क और प्रमाणों के आधार पर सत्य की स्थापना ही दार्शनिक चिन्तन की मूलभित्ति है। धर्म से दर्शन का यहीं पार्थक्य है। दर्शन जिस सत्य को प्रमाण के आधार पर मान्य मानता है, धर्म उस आस्था, विश्वास तथा गुरुवाक्य के आधार पर मानता है। भारतीय दार्शनिक इस विभेद को भुलाकर न जाने क्यों धार्मिक उपदेशों को ही दर्शन मान लेते हैं। इसीलिए हमारे यहाँ कई शताब्दियों से तर्क की प्रधानता न होने से आस्था के कारण नवीन चिन्तन नहीं उभर सका।

---

१. उत्तररामचरितम्—भवभूति

भारतीय दर्शन १२वीं १३वीं शती के बाद कोई स्वतन्त्र चिन्तन नहीं दे सका। इसके बाद का भारतीयदर्शन केवल टीका, उपटीकाओं का ही दर्शन है मौलिक नही। लेकिन इसके पूर्व **कुमारिल, शंकराचार्य, दिङ्नाग** और **सिद्धसेन** का दर्शन वास्तव में दर्शन था। वह टीका टिप्पणीमात्र नहीं था। १२वीं शती के बाद भारतीय दर्शन भी धर्म का दास बन गया। जैसे मध्ययुग में पाश्चात्यदर्शन धर्म का दास बन गया था और वह भी समग्र जीवन का दर्शन न बनकर एकांगी बन गया था। यद्यपि पश्चिम के धर्मदार्शनिकों ने ग्रीक विचारों के साथ ईसाईयत के विचारों को जोड़ा, लेकिन इससे दर्शन का उपकार नहीं हुआ। इसलिये दर्शन का उपकार विज्ञान के साथ सम्बन्ध जुटने पर हुआ। यह काम **पादरी कोपरनिकस** ने किया। जो भौतिकवादी विज्ञान का जनक माना जाता है। पश्चिम में दार्शनिक विज्ञान का अध्ययन करते थे तथा वैज्ञानिक भी दर्शन का चिन्तन करते थे। **न्यूटन** दर्शन का आचार्य था तथा प्राकृतिक विज्ञान पढ़ाता था, जब कि **कान्ट** फिजिक्स का अध्यापक था और दर्शन पर विचार करता था। इसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों ने मैथेमेटिक्स तथा मनोविज्ञान पर भी अध्ययन जारी रखा है। इसीलिये पश्चिम का दर्शन विज्ञान से प्रभावित रहा तथा विज्ञान से समन्वित रहा जबकि भारतीय दर्शन इस प्रकार का नहीं है।

वैज्ञानिक दृष्टि के कारण ही पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपना चिन्तन वैज्ञानिकतापूर्ण रखा, तभी तो पश्चिम में **यहूदियों** पर हुए अत्याचारों की प्रतिक्रिया में मानव के मौलिक अधिकारों पर चिन्तन प्रारम्भ हुआ तथा प्रथम महायुद्ध की भीषण नृशंसता से प्रभावित होकर साम्राज्यवादी **रसेल** समाजवादी बना। अभी हाल में ही दक्षिण **वियतनाम** तथा **हिन्द चीन** पर हुए नृशंस हमलों से ऊबकर अमेरिका के दार्शनिकों ने अमेरिका के आदर्शों के प्रति आत्मविश्लेषण का एक नया आन्दोलन उठाया था जिसके नेता **नोम चाम्स्की** थे। लेकिन भारत में देश के विभाजन के समय हुए खून खराबों पर, स्त्रियों पर सदियों से चली आ रही नृशंसता पर, हरिजनों के साथ के अमानुषिक व्यवहारों पर तथा बंगला देश में हुए अमानुषिक अत्याचारों पर कभी कोई दार्शनिक चिन्तन नहीं उभरा। हम मानव के नृशंसात्मक हत्याओं के समय भी **ब्रह्मवाद, शून्यवाद** तथा **अनेकान्तवाद** में ही पड़े रहे तथा अब भी हमारा चिन्तन इन्हीं के इर्दगिर्द चलता है। हम आज भी प्रत्यक्ष पर तार्किक प्रणाली से ही विवेचनात्मक विश्लेषण करते हैं। जबकि प्रत्यक्ष का वैज्ञानिक विवेचन मनोविज्ञान में अच्छी प्रकार से चल रहा है। हमारा दार्शनिक आज भी मंगलाचरण से कार्यसिद्धि, शब्द की नित्यता से अपौरुषेयत्व प्रतिपादन, पिठरपाक एवं पीलुपाक से घट के पके

स्वरूप का प्रतिपादन, अन्धकार की स्वतन्त्र द्रव्यसत्ता आदि पर विवेचन करता है।[१] जब कि इनका आज के वैज्ञानिक चिन्तन में कोई स्थान नहीं है। आज के दार्शनिक के सामने वेदान्त का अभ्यास, बौद्धों का सांवृत्तिक सत्य तथा सांख्य की बुद्धि, अहंकार तत्त्वों का स्वरूप अपने खोखलेपन को प्रगट कर चुका है। लेकिन हमारा परम्परावादी दार्शनिक इससे बिल्कुल असावधान हैं। मौलिक दार्शनिकता के लिये विचारों की मौलिकता आवश्यक होती है और वह मौलिकता तभी आ सकती है जब वैचारिक भाषा जिसका आप उपयोग कर रहे हैं वह आपकी हो। हमारे देश का दुर्भाग्य है कि हमारे यहाँ के परम्परावादी तथा नये दार्शनिक दोनों ही ऐसी भाषाओं में चिन्तन करते हैं जिसमें उनका केवल अभिनिवेश मात्र है मौलिकता नहीं। विचारों की मौलिकता तो दिन प्रतिदिन की समस्याओं से तथा बातचीत से ही आ सकती है और वह हम आने देना ही नहीं चाहते, क्योंकि यदि वह आयेगी तो **परम्परावादी** पण्डिताई तथा अल्ट्रामाडर्न की चिन्तनशीलता पर पानी फिर जायेगा।

दर्शनशास्त्र के अध्ययन की परम्परा को सामान्य बुद्धि वाले मानव के हितों से जोड़कर उसका अध्ययन मानव कल्याण के सम्पादन में होना चाहिए। वह कल्याण सम्पादन चाहे मानव मूल्यों की तार्किक स्थापना से हो, चाहे धर्म की आस्था से। बेकन ने कहा है—"**दर्शनशास्त्र का अल्प अध्ययन मनुष्य के मस्तिष्क को नास्तिकता की ओर झुकाता है किन्तु गहन अध्ययन उसे धर्म की ओर ले जाता है।**"[२] आज हम दर्शन की मदद के लिए या तो विज्ञान की तरफ आशाभरी निगाह से देख रहे हैं या नहीं तो धर्म की तरफ आस्थाभरी निगाह से देख रहे हैं। पीछे देख चुके हैं कि धर्म ने किस प्रकार मध्ययुग में दर्शन के पंख काट लिये थे तथा दर्शन परकटे कबूतर की तरह मन्दिर-मस्जिद तथा गिरिजाघरों में ही तड़फड़ा रहा था। विज्ञान ने भी आस्थाओं का निरास कर ऐसा वातावरण पैदा कर दिया कि हम मनुष्य से आगे बढ़कर या तो दानवी रूप धारण करेंगे या दैवीरूप। पश्चिम के समकालीन दार्शनिकों ने तत्त्वमीमांसा की आलोचना करते हुए कहा है कि—यदि कोई नया ज्ञान हमें प्राप्त होता है जो हम अनुभव से प्रमाणित नही कर सकते हैं तो वह ज्ञान शब्द झंकार मात्र है, इसका कोई अर्थ नहीं है। कोई देव या दैत्य हमें तत्त्वमीमांसा का ज्ञान नही करा सकता है।[३] इस प्रकार आस्था विहीन हम समाज की क्या, अपना ही जीवन संकटों में डालकर भटका रहे हैं।

---

१. पूर्वी एवं पश्चिमी दर्शन डा० देवराज

२. दर्शनशास्त्र का परिचय पृ० ३८ हिन्दी अनुवाद टी० डब्ल्यू पेट्रिक।

३. देयरफोर नो गाड एण्ड नो डेविल केन गिभ अस मेटाफिजिकल नालेज. 'द एलिमीनेशन आफ मेटाफिजिक्स' पृ० ७३

सच तो यह है कि विज्ञान की महान खोजें जिनके द्वारा व्यावहारिक प्रयोग संभव हुआ है, और जिन्हें बड़ा महत्त्व दिया जाता है, सामान्यतः ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गयी हैं जिनकी रुचि व्यावहारिक प्रयोग में नहीं थी। किन्तु वे केवल वैज्ञानिक रुचि से प्रेरित थे और जिनमें ज्ञान की रुचि ज्ञान के लिये ही थी। यही सैद्धान्तिक विज्ञान का स्वरूप दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित है और इस प्रकार सबसे अधिक व्यावहारिक बनने के इच्छुक जो हमेशा व्यावहारिक प्रयोग पर चिन्तन किया करते हैं, वे भी व्यावहारिक मनोभाव में नहीं रहते। कभी-कभी हम भी 'ज्ञान को ज्ञान के लिए' पाने के इच्छुक होते हैं, तब हम विज्ञान के व्यापक अर्थ में, यथार्थ ज्ञान के प्रेम के अर्थ में उसकी ओर मुड़ते हैं। कभी-कभी हम आश्चर्य के मनोभाव में रहते हैं और सोचते हैं कि क्या जगत का कोई अर्थ उद्‌देश्य या मूल्य है, तब हम **दर्शनशास्त्र** की ओर मुड़ते हैं या हम सन्देह या निराशा के मनोभावों में रहते हैं और उन उलझनों एवं चिन्ताओं के बोझ से दबे होते हैं तब हम **धर्म** की ओर मुड़ते हैं।[१]

इस प्रकार दर्शन के दो दायाद दिखाई पड़ रहे हैं दोनों के साथ दर्शन अपना सम्बन्ध बना चुका है और दोनों ने उसे अपने-अपने अन्दर लाकर उसके स्वरूप को विकृत किया है। एक ने **धार्मिक हठवादिता एवं आस्था** दी तो दूसरे ने **नास्तिकता वाद तथा निराशा**। इस बीच मनुष्य बेचारा बना हुआ है। इसलिये अब दर्शन को दोनों दायादों से पिण्ड छुड़ाकर उनपर प्रभावी बन कर अपने को स्वतन्त्र रखना है तथा विवेकपूर्वक मानव हित, सत्य तथा जिज्ञासा का चिन्तन करते हुए अपना स्वतन्त्र स्थान बनाना है ताकि उसमें न हठवादिता आये और न नास्तिकता।



१. दर्शनशास्त्र का परिचय पृ० ३२ टी० डब्ल्यू पैट्रिक।

अध्यात्म और आधुनिक समाज

प्रो॰ डा॰ देवस्वरूप मिश्र

दर्शन शास्त्र शब्द से यही तात्त्विक अर्थ दार्शनिक विद्वान् तथा अन्य व्यक्ति समझते हैं कि जिसके द्वारा वस्तु का सही स्वरूप प्रतीत हो सके वही दर्शन है। वस्तु दो प्रकार के हैं आत्मा और अनात्मा। साधारणतया अनात्मा का दिग् र्शन कराते हुए मुख्यरूप से आत्मनिरूपण करना ही भारतीय दर्शनों का लक्ष्य रहा है। जहां-जहां अनात्मवस्तु का निरूपण आया है उसका भी आत्मज्ञान करने में ही तात्पर्य निहित है। इसलिए वेदान्त शास्त्र में सृष्टि के प्रयोजन की मीमांसा की गई है। क्योंकि जब वेदान्तों का गतिसामान्य न्याय से परमात्मनिरूपण ही प्रयोजन हैं तब क्यों जडात्ममिथ्या प्रपंच के निरूपण का मोघप्रयास किया गया? यह प्रश्न स्वाभाविक है। कार्य से कारण के ज्ञान में सुविधा होती है अतः कार्यभूत विश्वप्रपंच का निरूपण 'फलवत्सन्निधौ अफलमपि तदङ्ग'' न्यायमूलक समुपलब्ध है। न्यायाचार्य दार्शनिक सार्वभौम उदयनाचार्य जी के अनात्मवस्तु का निरूपण भी आत्मज्ञान में सहकारी है। इस तत्त्व का दिग्दर्शन अपने आत्मतत्वविवेक ग्रन्थ में किया है। नैयायिक ईश्वर की सत्ता स्वीकृत करते हुए भी, मोक्षरूप परमपुरुषार्थ का साधन आत्मज्ञान ही मानते हैं। हाँ, यह है ईश्वरोपासना प्रभृति साधन सहकारी।

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी दार्शनिक आत्मा को देह से अतिरिक्त मानते हैं। इसी कारण अनात्म देहादि के साथ आत्म के तादात्म्य को बन्धन एवं उसके निवृत्ति को मोक्ष का स्वरूप माना गया है। श्री उदयनाचार्य जी स्पष्ट निर्देश करते हैं कि "नैसर्गिकं ज्ञानमज्ञानमेव"। स्वाभाविक अर्थात् बिना विचारविमर्श के के ही उत्पन्न होने वाला 'अहं गौरः, अहं स्थूलः इत्यादि ज्ञानभ्रम ही है। आचार्य जानते थे कि कहीं इसी ज्ञान को आत्मज्ञान न समझ बैठा जाय। इसी कारण से दार्शनिक सार्वभौम श्री वाचस्पति मिश्र ने भामती ग्रन्थ में आत्मा के स्वरूप का निरूपण भलीभांति से पूर्वोत्तर पक्ष द्वारा किया है। अतः सर्वतोभावेन विमर्श के पश्चात् यहीं सिद्ध होता है कि दर्शन का मुख्य उद्देश्य आत्मा के यथार्थरूप का निरूपण करना ही है। जिससे कि साधक तदनुसार चिन्तन करके अपने जीवन का सुखमय

बना सकें। श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में स्पष्ट रूप से अंकित कर दिया कि उन्होंने सूत्रभाष्य का भाष्य क्यों किया। उनकी यह धारणा थी कि यदि स्पष्टरूप से वेदान्त सूत्रों एवं श्रुतिवाक्यों का तात्पर्य नही लिखा जायेगा तो विपरीत अर्थ समझ लेने के कारण बहुत से लोग श्रेय से वंचित ही नहीं होंगे, वरन् अनर्थ को भी प्राप्त हो जायेंगे। अन्ततोगत्वा यही सारतत्त्व दर्शनशास्त्र का प्रतीत होता है कि मिथ्या अनात्मतादात्म्य को निवृत्त करके आत्मस्वरूप का निश्चय कराना। यही भाव महर्षि गौतम ने भी अपने इस सूत्र से व्यक्त किया—"दुःखंजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'। ब्रह्मसूत्र में महर्षिव्यास ने स्पष्ट कर दिया है कि जो हम लोगों को स्वाभाविक ज्ञान हो रहा है इसमें भी आत्म प्रतीति है ही किन्तु वह आवृत्त है, साधन के पश्चात् आविर्भूत करना पड़ता है" आविर्भूतस्वरूपस्तु।' गीता में भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कर दिया है कि अज्ञान के कारण आत्मा का यथार्थरूप निखर नहीं पाता है। उसको निश्चय करने के लिए ही दर्शन और दार्शनिक की अपेक्षा होती है। अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। उपनिषद् ने भी इन्हीं भावों को स्पष्ट किया है—

तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

एक बात यहाँ कह देना अत्यावश्यक होगा कि कुछ ऐसा प्रवाद व्याप्त हो गया है कि भारतीय दर्शन का जो मुख्य विषय अध्यात्म है उससे समाज का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। विशेषतः आधुनिक समाज जो कि प्राचीनता के सुव्यवस्थित मार्ग से सर्वथा विपरीत है ऐसे समाज के लिए तो भारतीय दर्शनों या अन्य दर्शनों का कोई लगाव है ही नहीं। अतः एक नया दर्शन का स्वरूप सामने लाना चाहिए। यहाँ तक कहने का साहस या भ्रम तभी संभव है जब कि हम दर्शन के तत्त्व को एक देशीय समझ बैठते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् का नाम सुनते ही किसी के मन में यह भाव कि इसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन घोर अरण्यस्थली में ही सम्भव है। तब उस दर्शन का क्या अपराध है। भारतीय दर्शन के मुख्य ग्रन्थ गीता में कहा गया 'मामनुस्मर युद्धच' 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यम्'॥ भगवान् श्रीकृष्ण जो कि गीता के उपदेष्टा है उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि दार्शनिक अपने दर्शन चिन्तन प्रसूत दिव्य ज्ञान से समाज को कुमार्ग से विमुख कर सन्मार्ग पर स्थापित कर समाज में शान्ति सुव्यवस्था की अवस्था लाता है। लोकसंग्रह शब्द से यही तात्पर्य विवक्षित है।

प्राचीन आख्याएँ जो इस विषय में साक्षी हैं उनसे यही उपलब्धि होती है कि दर्शन और दार्शनिक समाज से सदा सर्वथा सम्बद्ध ही रहते थे। जनक, याज्ञवल्क्य

कृष्ण, वशिष्ठ, शंकराचार्य की भाँति आज के समाज में भी दार्शनिक का स्थान सर्वोच्च है।

अतः यही निष्कर्ष है कि पुराने अथवा आधुनिक समाज में रहते हुए भी रागद्वेषशून्य होकर देहाद्यनात्मवस्तुओं से पृथक् आत्मस्वरूपानुसन्धान करना ही अध्यात्मनिष्ठता है। अध्यात्म का सदा सर्वविध सम्बन्ध समाज से रहा है तथा रहेगा। अतः गीता में कहा है—

अध्यात्मविद्याविद्यानाम्

उपनिषद् भी यही सन्देश देती है—

ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वणाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥



भारतीय चिंतन परम्परा में नये दर्शनों का दिशा-निर्देश

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

दर्शन ही नहीं, प्रायः सभी शास्त्रों का अध्ययन प्राचीन भारतीय परम्परा में **ह्रासवाद** के आधार पर आधुनिक पाश्चात्य परम्परा में **विकासवाद** के आधार पर किया जाता है। केवल धारणा ही नहीं, यह वस्तुस्थिति है कि ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में 'भारत में 'पूर्ववर्ती काल' में जिस तरह के प्रौढ़ ग्रन्थों का निर्माण हुआ, परवर्ती काल में वह स्थिति देखने को नहीं मिलती। समस्त सूत्रग्रन्थ, पतंजलि का महाभाष्य, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भरत का नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन का कामशास्त्र, चरक-सुश्रुत आदि संहितायें—ये सब ऐसे ग्रन्थ हैं कि परवर्ती काल में इनके टक्कर का कोई ग्रन्थ नहीं बना। इन ग्रन्थों के रचयिता त्रिकालज्ञ ऋषि है। इस पृष्ठभूमि में यह सोचना स्वाभाविक है कि शास्त्र की परम्परा का ह्रास हो रहा है। मध्यकालीन महान् दार्शनिक आचार्य उदयन को इसीलिये लिखना पड़ा—

जन्मसंस्कारधृत्यादेः शक्तेः स्वाध्यायाकर्मणोः।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्॥

इसके विपरीत आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण विकासवाद के आधार पर सभी शास्त्रों का अध्ययन करना है। यूनान और रोम के चिंतकों का ये ऋषितुल्य आदर करते हैं, किन्तु इनका दर्शन सुकरात और अरस्तू में ही समाप्त नहीं हो जाता। ज्ञान और विज्ञान की प्रत्येक शाखा में, चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रों में, यूनान और रोम का ही नहीं, दुनियां की सभी प्रबुद्ध चिन्तन-धाराओं की सहायता लेकर इन्होंने उन-उन शास्त्रों का विकास तो किया ही हैं, साथ ही ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी उद्भावनायें की हैं, जिनसे कि आज की सारी दुनियाँ लाभान्वित ही नहीं, संचालित भी है।

इस वैषम्य के मूल कारणों की खोज करना और भारत की आज की परिस्थिति में उससे होने वाले हानि-लाभ का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना, आज के चिन्तक का आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। इस सम्बन्ध में हम यथामति अपने कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं।

अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिये हम जागतिक ज्ञान को आध्यात्मिक और आधिभौतिक दृष्टियों में न बाँटकर **ऐहलौकिक** और **पारलौकिक** दृष्टियों में बाँटना चाहते हैं।

अभ्युदय और **निःश्रेयस** (मोक्ष) की प्राप्ति प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन का लक्ष्य है। मनुष्य जीवन्मुक्त भले ही हो जाय, किन्तु मोक्ष की अभिव्यक्ति इस शरीर और दुनियां का मोह छूट जाने के बाद ही होती है, अभ्युदय ऐहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। स्वर्ग आदि पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति भी इस शरीर के छूट जाने के बाद ही होगी। भारतीय दर्शनों में **ऐहलौकिक** अभ्युदय को हेय दृष्टि से देखा जाता है और **पारलौकिक** अभ्युदय को उपादेय। फलतः इनमें ऐहलौकिकक अभ्युदय सम्बन्धी विचारों को बहुत कम स्थान मिला है। भारतीय वाङ्मय की एक शाखा **आगमशास्त्र** और **तन्त्रशास्त्र** ने एक ही जन्म में भोग और मोक्ष, अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त कराने की बात की, किंतु इसमें भी व्यक्तिगत भावना ही प्रधान रही है। कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता में **वैयक्तिक उन्नति** का तो चूड़ान्त उत्कर्ष हुआ है, किन्तु साथ ही **सामूहिक उन्नति** का पक्ष अत्यन्त दुर्बल है। इसी तरह से इसमें ऐहलौकिक दृष्टि का अपेक्षा पारलौकिक दृष्टि का प्राबल्य हो गया। साधारण भारतीय की यह दृढ़ मूल धारणा है कि संसार अवनति की ओर तेजी से बढ़ रहा है। इसको रोका नहीं जा जा सकता। कर्मवाद और भाग्यवाद इसी ओर ढकेलते हैं। उनका सारा पुरुषार्थ कलिकाल की अर्गला से अवरुद्ध है।

पारलौकिक दृष्टि के विषय में हमारे जैसे सामान्य चिंतक कुछ कह सकने के अधिकारी नहीं हैं। महात्मा बुद्ध ने भी कुछ प्रश्नों को अव्याकरणीय माना था। ऐहलौकिक दृष्टि सन्दर्भ में हम कुछ विचार कर सकते हैं और यह हुआ भी है। धर्मशास्त्रकारों ने कुछ विषयों में **आगमशास्त्र** और **तन्त्रशास्त्र** को श्रुति स्मृति के समकक्ष मान्यता दी है। कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों में आचार (लोक व्यवहार) को बहुत महत्त्व दिया गया है। कलिवर्ज्यप्रकरण को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया जा सकता है, जिसमें श्रुतियों और स्मृतियों की अनेक मान्यताएँ स्थगित कर

दी गई हैं, इस स्थगन का कारण लोकमानस (लोकव्यवहार) ही है **'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयम् नाचरणीयम्'** इस सुक्ति से नाचरणीयम्' पद की द्विरावृत्ति लोकव्यवहार के विरुद्ध आचरण का दृढ़ता से निषेध करती है।

आज दुनियां सिमट गई है। विभिन्न दृष्टियों और व्यवहारों में टकराव हो रहा है। यह निश्चित है कि इस टकारव में उत्कृष्ट तत्त्व ही बच रहेंगे। दुनियां भारतीय तत्त्वज्ञान को आशाभरी दृष्टि से देखती है किन्तु साथ ही भारतीय जीवन की विसंगतियों से उसे आश्चर्य भी होता है। यह कहा जा सकता है कि अपने ऐहलौकिक जीवन में समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति पाश्चात्य संस्कृति अधिक ईमानदार है। **अजगर करे न चाकरी, अपना मतलब गाँठने के लिये गधे को बाप बनाना, समरथ को नहिं दोष गुसाईं, स्वकार्यं साधयेद् धीमान् स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता, आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्**—जैसे वाक्य स्वस्थ सामाजिक विकास में सहायक नहीं हो सकते। पारलौकिक विधिवाक्यों की परीक्षा शास्त्रीय पद्धति से ही की जाय, यह तो ठीक है किन्तु ऐहलौकिक दृष्टि से सम्बद्ध प्रत्येक छन्दोबद्ध उक्ति को विधि वाक्य नहीं माना जाना चाहिये। इसके लिये तो हमें—**'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते'** वाली कालिदास की इस उक्ति का अनुसरण करना ही चाहिये। आज की दुनियां को भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म के उदात्ततत्त्वों का अवदान दे पाने की स्थिति में अपने को रखने के लिये यह आवश्यक है कि पूरे भारतीय तत्त्वज्ञान की पृष्ठभूमि में ऐहलौकिक दृष्टि से भी व्यक्तिगत और समाजगत आचारों की परीक्षा की जाय।

भारत में दर्शन को बुद्धि का विलास मात्र कभी नहीं माना गया है। इतना अवश्य है कि इसमें पारलौकिकदृष्टि से व्यक्तिगत उन्नति पर अधिक जोर दिया गया है। **'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'** जैसे वाक्यों में प्राणिमात्र के दुःख से निवृत्ति की कामना की गई है, किंतु इसमें भी पारलौकिक दृष्टि ही काम कर रही है। सत्ययुग में होने वाले ऐहलौकिक विकास को हमने भगवान् काल के सुपुर्द कर दिया है। इसके विपरीत **'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा'** सरीखे आगमिक एवं तान्त्रिक दर्शन के प्रतिपादक वाक्यों के सहारे अपने में विश्वाहन्ता का विकास कर **अरविन्द** जैसे महायोगी इसी धरती पर **दिव्यमानवता** के अवतार की बात करते हैं और महामनीषी श्रद्धेयचरण श्री **गोपीनाथकविराज** महोदय **अखण्ड महायोग** के माध्यम से इस स्थिति को लाना चाहते हैं।

जब हम भारतीय चिन्तन धारा में नये दर्शनों की सम्भावनाओं पर विचार करते हैं, तो उस समय हमें यह ध्यान में रखना होगा कि वह केवल बुद्धिविलास के लिये न होकर ऐहलौकिक दृष्टि से समस्त मानवता के कल्याण के लक्ष्य को अपने सामने रखे। एक अखण्ड विश्वसंस्कृति का विकास इसका प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। आधुनिक विश्व स्वातन्त्र्य के संकोच के कारण दुःखी है। यह स्वत्व, धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब-कबीले आदि के नाना विभ्रमों में पड़कर बँटा हुआ है। **अखण्डसंस्कृति** के माध्यम से इन विभ्रमों को तो तोड़ पाने के उपरान्त ही अखण्ड स्वत्व का बोध हो सकता है। सहिष्णुता और समन्वय भारतीय इतिहास की विशेषता रही है। यह प्रक्रिया अब भी निरन्तर क्रियाशील है। त्याग और तपस्या के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित साधु सन्तों की परम्परा परस्पर के स्थूल भेदों को मिटाने में निरन्तर सचेष्ट रही है। आधुनिक विश्व के वर्तमान धर्मों और विभिन्न वादों के विरोधी दृष्टिकोणों में सहिष्णुतापूर्वक समन्वय स्थापित कर अखण्ड संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त किया जा सकता है, जिससे कि विश्व समष्टि में इस अखण्ड संस्कृति के आविर्भाव से स्वत्व का संकोच दूर हो और **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की उदात्त भावना का विकास हो। जहाँ प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु के अभेद के प्रतिष्ठित होने पर भी अपने स्वरूप के नष्ट होने का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ विश्व के किसी वाद, धर्म अथवा संस्कृति के स्वत्व के लोप का भय क्यों उपस्थित होगा ?

इस तरह से ऐहलौकिक सामूहिक मुक्ति, अर्थात् समग्र मानवता के ऐहलौकिक कल्याण के लिये भारतीय दर्शन में नूतन दृष्टि का उन्मेष होने में हमें प्राचीन भारतीय विचारधाराओं के साथ भी किसी टकराव की आशंका नहीं मालूम पड़ती। ऐसा करके ही हम व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना की, पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही **ह्रासवाद** के स्थान पर **विकासवाद** और **भाग्यवाद** के स्थान पर **पुरुषार्थवाद** की भारतीय जन-मानस में प्रतिष्ठा कर सकते हैं। ऐसा करते समय हमें ऐहलौकिक सामूहिक दृष्टि का विकास करने के लिये आधुनिक दृष्टि से सहायता लेने में परहेज नहीं करना चाहिये। **वराहमिहिर** की यह उक्ति इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है—**'वृद्धा हि यवनास्तेषु सम्यक्शास्त्रमिदं स्थितम्'**। दर्शन की नूतन धाराओं की सार्थकता इसी में है। तभी हम समस्त मानवीय विचारों में समन्वय स्थापित कर एक **अखण्ड-विश्वसंस्कृति** के निर्माण को साकार रूप देकर समग्र मानवता का कल्याण कर सकते हैं।



दर्शन-दिग्दर्शन

स्वामी रामाश्रम

प्रश्न—दर्शन से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—दर्शन शब्द का प्रयोग तीन प्रकार से होता है—

१—प्रत्येक विज्ञान से सम्बन्धित उसके नाम का दर्शन भी होता है जैसे समाज विज्ञान तथा समाजविज्ञान दर्शन, धर्मविज्ञान तथा धर्मदर्शन।

२—विज्ञान का विषय तथा उसका दर्शन।

३—दर्शन का दर्शन।

(१) प्रथम विभाजन में **दर्शन** शब्द का अर्थ है जिस विषय का वह विज्ञान है, उस विषय का जीवन से जो सम्बन्ध है उसका विश्लेषण। जैसे धर्म का विज्ञान, धर्म का दर्शन।

धर्म का विज्ञान—धर्मों की उत्पत्ति, अनेक धर्मों का वर्गीकरण, धर्म द्वारा किन्ही सत्य सिद्धान्तों तक पहुँचना या उसकी प्राप्ति, उसमें यदि विकास होता हैं तो उसका निरूपण, एक धर्म का दूसरे धर्म से तुलनात्मक अध्ययन, धर्मविज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध, धर्म का इतिहास तथा धर्मविज्ञान का इतिहास इसी प्रकार धर्म का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आदि आता है।

धर्म का दर्शन—मानव जीवन में धर्म का क्या उद्देश्य है, मानव में किसी प्रकार का कोई लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है ? यह लक्ष्य एवं इसकी प्राप्ति, इस समस्त जगत (सजीव एवं निर्जीव) में जो कुछ भी हो रहा है उससे क्या सम्बन्ध है ? समस्त जगत की क्रियायें तथा उसका संगठन किस प्रकार और किस अंश में उस लक्ष्य के बाधक या साधक या किसी अंश में साधक या किसी अंश में बाधक हैं। मनुष्य जीवन का सृष्टि में क्या स्थान है, यह सब धर्म-दर्शन के विषय हैं।

(२) द्वितीय विभाजन में विज्ञान का विषय हैं समस्त अनुभूतियाँ, जो मनुष्य के लिए सम्भव हैं और उनका परस्पर समन्वय एवं सामञ्जस्य है। इसको विज्ञान ·। सत्य कहता है।

विज्ञान की विधि—प्रयोग तथा बिनाप्रयोग के जो स्वयं हो रहा है उसका निरीक्षण तथा इन पर आधारित अनुमान है। सत्य या वास्तविकता विज्ञान के अनुसार सामंजस्य से ही जाने जाते हैं।

विज्ञान का दर्शन—इसका विषय है कि क्या कोई वास्तविकता है, जिसका कि अनुभव से सम्बन्ध है? ज्ञान तथा अनुभव में कोई अन्तर है या दोनों एक-सी मानसिक क्रियाएँ हैं। ज्ञान या अनुभव द्वारा वास्तविकता में सम्बन्ध क्या इस प्रकार का है कि शनैः शनैः क्रमशः वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान अथवा अनुभूति संभव हो, या मानव मानसी क्रिया की एक परिधि है जिसके भीतर वास्तविकता का पूर्णज्ञान असम्भव है। मानसी क्रिया का जिसे अंग्रेजी में **माइण्ड** भी कहते हैं, जीवन में पार्ट या रोल है। देश, काल, कारण प्रयोजन का वास्तविक स्वरूप क्या है? इनका परस्पर सम्बन्ध क्या है? कार्यकारण सम्बन्ध क्या इस जगत की समस्त घटनाओं (फेनोमेना) का तानाबाना है कि कोई भी घटना इससे अतिरिक्त नहीं हो सकती। एक प्रकार की अनिश्चयात्मकता वह है जो हमारे ज्ञान की अपूर्णता के कारण है। दूसरी प्रकार की, अनिश्चयात्मकता वह है जो कार्यकारण के ताने-बाने से अतीत, स्वतन्त्रता या स्वच्छन्दता का स्वरूप है। तीसरे प्रकार की अनिश्चयात्मकता वह है जो कि मिटाई नहीं जा सकती वह है हमारे ज्ञान तथा यन्त्रों के माध्यमों तथा अनुभवों की अपूर्णता। **प्रगति** तथा **विकास** में क्या भेद है? प्रकृति में हम विकास देखते हैं। विकास के लक्षण हैं संश्लेषण तथा साथ ही साथ विभेद। प्रगति का वास्तव में किसी प्रत्यय के लिए ही प्रयोग किया जाना चाहिए। निर्जीव जगत में विकास तथा उन्नति क्या सम्भव है? यदि है तो किस रूप में? सजीवजगत में प्रगति का क्या कोई एक ही रूप है या अनेक?

(६) दर्शन का दर्शन—इस शब्द के प्रयोग का एक इतिहास है जिस समय आधुनिक विज्ञान का जन्म हुआ और उसका विकास होने लगा तो क्रमशः उसके अनेक पृथक्-पृथक् विषय हो गये। प्रत्येक विषय में बाह्य जगत तथा मानसी क्रिया की पृथक् पृथक् सीमायें बनाकर अनुसन्धान होने लगे। तब विज्ञान नाम न रख कर प्रत्येक का नाम **दर्शन** ही था—यथा प्राकृतिक दर्शन। यह वह विज्ञान है जिसका नवीन नाम भौतिकी है। जब विज्ञानों का विकास कुछ अंश तक हो गया और प्रत्येक के अध्ययन कर्ता तथा अनुसन्धान कर्ता केवल उसी विषय तक अपने को सीमित करने लगे, तब दर्शनों के स्थान पर केवल **विज्ञान** शब्द का प्रयोग होने लगा। ऐसी स्थिति में दर्शन के तीन विभाजन किये गये—**तत्त्वविद्या, सृष्टि-विज्ञान, मनोविज्ञान। तत्त्वविज्ञान** यह अध्ययन करता है कि वास्तविक तत्त्व क्या

है ? **सृष्टिविज्ञान** या विश्वविज्ञान समस्त वाह्य जगत की वास्तविकता, अलग-अलग विज्ञानों की जानकारियों का समन्वय है जो दर्शन का दूसरा विषय हो गया। **मनोविज्ञान** जब विज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो उसका अर्थ है समस्त मानसिक क्रियाओं का परिगणन, उनका स्वरूप निर्णय, उनका एक दूसरे से सम्बन्ध तथा शारीरिक क्रिया के साथ सम्बन्ध। मनोविज्ञान जब दर्शन के एक अंग के अर्थ में प्रयुक्त होता है तब उसका विषय मानसिक क्रियाओं का वास्तविक स्वरूप जानना, उनकी उत्पत्ति या उद्भव कहाँ से है ? होता है। इस प्रकार के जितने भी प्रश्न सम्भव हैं, वे इस दर्शन के अन्तर्गत आ जायेंगे।

तत्त्वविज्ञान, सृष्टिविज्ञान और **मनोविज्ञान** का विभाजन यद्यपि मूल रूप से **ईसाई धर्म** के शास्त्रीय दर्शन में है और इनके इस वर्गीकरण का प्रयोग मध्य-कालीन दार्शनिकों ने किया है तो भी **लोत्ज़** नामक जर्मनदार्शनिक ने अपने ग्रन्थ में उसका निरूपण किया है। तब से अबतक इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता आ रहा है। **काण्ट** ने अपनी **'क्रिटिक आफ प्योर रीजन'** अर्थात् शुद्धबुद्धिमीमांसा में यह शंका उठाई है कि समस्त जानकारी की क्रिया के पहले इसका अनुसन्धान कर लेना चाहिये कि क्या ज्ञान के द्वारा वास्तविकता की अनुभूति सम्भव होगी। **काण्ट** ने कहा 'अब तक के सभी दर्शन रूढ़िवादी रहे हैं और इसलिये इस प्रवृत्ति का नाम उन्होंने रूढ़िवाद रखा। उन्होंने कहा क्यों न रूढ़िवाद के स्थान पर समीक्षा की विधि अपनाई जाय अर्थात् ज्ञान की सम्भावना की परिधि का निश्चय किया जाय। उन्होंने 'क्रिटिक आफ प्योर रीजन' में इसे किया और इसका नाम **'प्रमाणमीमांसा'** रखा। दो शब्द उन्होंने अपने सामने रखे—१. **सत्य** और २. **ज्ञान**। उन्होंने इसका विश्लेषण किया कि ज्ञान से सत्य का सम्बन्ध क्या है ? ज्ञान और सत्य किसे कहें ?

दर्शन का १९ वीं शती के अन्त में एक वर्गीकरण और हुआ। जिसमें **आदर्शवाद** और **यथार्थवाद** अर्थात् विज्ञानवाद और वस्तुवाद दो शब्द सामने आये। इनके भी अनेक भेद हुए।

अरस्तू यूनानी वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ने अनेक विज्ञानों के नामकरण किए, मानवज्ञान को अनेक विषयों में बाँटा। अनेक विज्ञानों पर पृथक पृथक दर्शन लिखे। जैसे **सदाचारविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान**। इनके अतिरिक्त वास्तविक तत्त्व क्या है इस पर भी उन्होंने एक ग्रन्थ लिखा। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके समस्त वाङ्मय का वर्गीकरण किया गया। **फीजिका** के भीतर उन्होंने उन

समस्त विज्ञानों को रखा जो अनेक विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। इनसे परे अर्थात् मेटाफिजिक्स का प्रयोग उस तत्त्व विज्ञान के लिए किया। उस समय से मेटाफिजिका फिलासफी बन गया। **कार्लमार्क्स** ने मेटाफिजिक्स का घोर विरोध किया और कहा कि मेटाफिजिक्स के द्वारा वास्तविकता कदापि नहीं जानी जा सकती है। उनका कहना यह है कि अपरिवर्तनशील रूप का कोई तत्त्व नहीं है। अतः तत्त्वज्ञान एक बड़ा भारी भ्रम है। अतः मेटाफिजिक्स शब्द का प्रयोग उन्होंने बहुत ही निषिद्ध माना। इसलिये उन्होंने अपने **द्वन्द्वात्मकभौतिकवाद** के लिए **फिलासफी** शब्द का प्रयोग उचित, समीचीन और न्यायसंगत माना।

अस्ट्रिया में कुछ चिन्तकों और विचारकों ने एक मण्डल बनाया; जिसका नाम **'वियनासर्किल'** रखा गया है। उसमें **विजगेंस्टाइन** प्रमुख थे। उन्होंने **टैक्टस** नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें तार्किकप्रमाणवाद की स्थापना की। इसके विकास में अंग्रेज दार्शनिक तथा गणितज्ञ **रसेल** ने (मैथेमेटिकल-लाजिक) गणितीय तर्कशास्त्र जोड़कर प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का प्रारूप खड़ा किया। प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र तथा तार्किकप्रमाणवाद के आचार्यों का दृष्टिकोण यह है कि दर्शन वास्तविकता का अनुसन्धान नहीं है, क्योंकि यह असम्भव है। किंतु जो कुछ हम कहते हैं उनके शब्दों में अर्थों का विश्लेषण मात्र है। इसके लिये दो प्रकार के चिंतक पृथक्-पृथक् चाहिये। एक वे जो प्रयोग तथा निरीक्षण द्वारा नये-नये सत्यों को उद्घाटित करें, दूसरे वे जो कदापि प्रयोग के क्षेत्र में कार्य न करके प्रयोगों द्वारा जो प्रतिष्ठित किया गया है उनकी समालोचना करें। यही दार्शनिक कहलायेंगे।

प्रश्न—क्या भारतीय दर्शन दर्शन है ?

मानव के ज्ञान विशेष के एक शास्त्र का नाम स्वयंसिद्धवाद है। इसका विषय है—परम अर्थ = अत्यन्त पुरुषार्थ। दूसरा दृष्टिकोण है, वास्तविकता क्या है ? इसका अनुसन्धान। यह दर्शन है जो पूर्व से भिन्न है। विचार से देखा जाय तो ये एक ही सिक्के के दोनों पृष्ठ हैं। एक का अध्ययन दूसरे को अपने भीतर पाता है। मेटाफिजिक्स का प्रयोग उस तत्त्व विज्ञान के लिए किया। उस समय से हमारी वास्तविकता क्या है, इसका जानना अनिवार्य हो जाता है। जब हम वास्तविकता को जानना चाहते हैं तो अत्यन्त पुरुषार्थ उससे भिन्न पाया जाता है। यदि वास्तविक तत्त्व सृष्टिकर्ता है जो अपने को सृष्टि रूप में परिवर्तित या विकसित करता है तो यह भी तो उस वास्तविकता या परमपुरुषतत्त्व का अत्यन्त पुरुषार्थ हो गया। भारतीय दर्शन का निरूपण किसी दर्शन में स्वयंसिद्धवाद अर्थात् परम पुरुषार्थ के अन्वेषण के रूप में किया गया है।

अत्यन्त पुरुषार्थ क्या है और वह कैसे प्राप्त होता है? इसे सांख्यसूत्र के प्रथम सूत्र में कहा गया है—**'अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः'**। **वैशेषिक दर्शन** में तत्त्व क्या है, इसका ज्ञान कैसे हो, आदि से तत्त्वचिन्तन का आरम्भ किया गया है। अन्त में उसके अत्यन्त पुरुषार्थ रूप का तत्त्वज्ञान रूप से सम्बन्ध दिखलाया गया है। **ब्रह्मसूत्र** में ब्रह्म क्या है, इसकी खोज से आरम्भ किया गया है। अन्त में ब्रह्म-ज्ञान या ब्रह्म-अनुभूति फल अर्थात् प्रयोजन से परमानन्द की प्राप्ति रूप अत्यन्त पुरुषार्थ का निरूपण किया गया। किसी काल तथा किसी देश में तत्त्व-ज्ञान तथा अत्यन्त पुरुषार्थ को एक दूसरे से पृथक नहीं किया गया है। भारतीय दर्शन इस कारण, दर्शन शब्द से यदि पुकारे जायँ तो समीचीन ही है। क्योंकि उसका विषय है वास्तविकता का अन्वेषण तथा अत्यन्त पुरुषार्थ की प्राप्ति।

वास्तविकता शब्द का जिस किसी अन्तिमतत्त्व, स्थिति, परिवर्तन, विज्ञान, अभाव और शून्यता आदि के विविध प्रत्ययों के अर्थ में प्रयोग करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि मानव में एक जिज्ञासा की प्रबल शक्ति रहती है, जो बाध्य करती है कि मनुष्य निरन्तर सत्य की खोज करता रहे। यह खोज स्वयं एक आनन्द रूपात्मक है।

प्रस्तुतकर्ता
श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी



मौलिक दर्शन की सम्भाव्य दिशाएं

डॉ० हर्षनारायण

सम्प्रति भारत में मौलिक दर्शन के नाम पर कुछ नहीं हो रहा है। यह एक दुःखद ही नहीं शर्मनाक सत्य है। हम या तो परम्परा-प्राप्त दर्शन-सूत्रों को रट लगाते रहते हैं अथवा पश्चिमी और उसमें भी केवल समसामयिक वस्तुतः ह्रासशील दार्शनिक प्रवृत्तियों का अनुवदन मात्र करते हुए अपने को धन्य समझते हैं।

एक दृष्टि से दर्शनों के दो भेद किये जा सकते हैं—**अनुभवाभिधायीदर्शन** और **अनुभवापलापी दर्शन**। अनुभवाभिधायी दर्शन अनुभव को स्वीकार करते हुए उसके व्याख्यान का प्रयत्न करता है, जब कि अनुभवापलायी दर्शन अनुभव का प्रत्याख्यान करना चाहता है। अनुभवापलापी दर्शनों में **माध्यमिक** और उसके बाद **शाङ्कर अद्वैत** प्रमुख हैं। माध्यमिक की घोषणा है—

अनुभव एष मृषा,

अनुभवत्वात्,

'तैमिरिकद्विचन्द्राद्यनुभववत्।'[1]

माण्डूक्यकारिका-भाष्य में अनुभव अथवा दृश्य का अपलाप पञ्चावयवानुमान-पद्धति से इस प्रकार किया गया है—

जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा।

'दृश्यत्वादिति हेतुः।

स्वप्नदृष्टभाववदिति दृष्टान्तः।

'यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृष्टत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः।

'तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्।'[2]

---

१. मध्यमक-वृत्ति १.३, पृ. २०

२. माण्डूक्यकारिका-भाष्य २.४. पृ. ८६

इसके विपरीत, अनुभवाभिधायी दर्शन के अनुसार, अनुभव अथवा तत्त्व अभिलाप्य हो अथवा अनभिलाप्य, किन्तु निश्चय ही अनपलाप्य है। विज्ञानवाद को अनुभवापलापी नहीं मानना चाहिए। **वसुबन्धु** कहता है कि वह अनुभूत जगत् का निषेध अनभिलाप्यात्मना नहीं, प्रत्युत कल्पितात्मना ररता है—**यो वालैर् धर्माणां स्वभावो ग्राह्यग्राहकादिः परिकल्पितस् तेन परिकल्पितेनात्मना तेषां नैरात्म्यं न तु अभिलाप्येनात्मना यो बुद्धानां विषयः।**[1] तात्पर्य यह कि वसुबन्धु जगत् की व्याख्या करता है, निषेध नहीं। स्वभावमात्रम्-सिद्धान्त भी इसकी पुष्टि है पश्चिम में **इलियाई जेनो** शायद सबसे बड़ा अनुभवापलापी और **आस्ट्रियाई माइनांग** सबसे बड़ा अनुभवाभिधायी दार्शनिक माना जा सकता है।

अस्तु, आधुनिक भारतीय दार्शनिक को निर्णय करना है कि इनमें से कौन-सा दृष्टिकोण अपनाने योग्य है।

दर्शन एक अन्य दृष्टि से दो कोटियों में बाँटे जा सकते हैं—**बुद्धिवाद** (Rationalism) और **अबुद्धिवाद** (Irrationalism)। बुद्धिवाद के अनुसार अनुभव अथवा जगत् बुद्धिगम्य है, व्याख्येय है, जब कि अबुद्धिवाद के अनुसार अबुद्धिगम्य। बुद्ध्यगम्य है, अव्याख्येय है। मैं **माध्यमिक** दर्शन में अबुद्धिवाद की स्पष्ट रेखा देखता हूं। पश्चिम में **जेनो** के साथ **नीत्शे** को भी इसी कोटि के अन्तर्गत समझना चाहिए। पश्चिम का सबसे बड़ा बुद्धिवादी हेगेल हैं, जिसका सुख्यात सूत्र है, **सत्ताबुद्धिगम्य है** (The real is rational)। **लाइबनीज** इस जगत् को सर्वश्रेष्ठ जगत् (The best of all possible worlds) मानता है और सर्वश्रेष्ठ बुद्धिवादियों की श्रेणी में आ जाता है। यहाँ बुद्धिवाद और अबुद्धिवाद के भेद का एक नया आयाम उद्घाटित होता है। अस्तित्व के विषय में दो प्रकार के दृष्टिकोण पाये जाते हैं। वैदिक दृष्टि में संसार ससार है, सम्यक्सार है, निस्सार नहीं। उसकी सृष्टि ऋत और सत्य से हुई[2] है, और उसकी संस्थिति भी ऋत, सत्य, आदि श्रेयों, सुतत्त्वों, का फल है।

'सत्यं बृहद्, ऋतमुग्रं, दीक्षा तपो, ब्रह्म, यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।'[3]

उपनिषद् की घोषणा है—

'पूर्णमदः, पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥[4]

१. विंशतिका-स्वोपज्ञवृत्ति, कारिका १०, पृ. ४१
२. (शाकला-शैशिरीया) ऋग्वेद-संहिता १०.१९०
३. (शौनकीया) अथर्ववेदसंहिता १२.१
४. कई उपनिषदों का शान्तिपाठ

किन्तु अस्तित्वसारशून्यतावादी उस शैली में अपना मत इस प्रकार प्रकाशित करेगा—

'शून्यमदः, शून्यमिदं, शून्याच्छून्यमुदच्यते ।
'शून्यस्य शून्यमादाय शून्यमेवावशिष्यते' ।।[1]

गीता में 'सत्' शब्द का अर्थ सत्यं, शिवं, सुन्दरं जैसा किया गया प्रतीत होता है—

'सद्भावे, साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते;
'प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ ! युज्यते ।।[2]

बुद्ध 'सर्वं दुखं' की घोषणा कर अस्तित्वसारशून्यता-दृष्टि का ही परिचय देते प्रतीत होते हैं। शोपेनहायर उनके साथ हैं। कई अस्तित्ववादी भी उनका साथ देते प्रतीत होते हैं। एक दृष्टि के अनुसार अस्तित्व मूलतः, तत्त्वतः, शुभ है, और दूसरी दृष्टि के अनुसार अशुभ ।

भारतीय दृष्टि अस्तित्व की प्रतीयमान अशुभता, दुःखता के परिहारार्थ कर्म-सिद्धान्त का आश्रय लेती है। कर्मवादी यह मान कर चलते प्रतीत होते हैं कि नीति-मत्ता और निसर्ग में पूरा-पूरा ताल मेल है, यहाँ तक कि निसर्ग-जगत् (natural order) नीति जगत् (moral order) का अनुचर मात्र है। **वैशेषिकदर्शन** के अनुसार प्रकृति का सारा क्रियाकलाप हमारे अदृष्ट (धर्माधर्म) से अनुशासित, परिचालित होता है,[3] योगदर्शन में जगत् को केवल योग और अपवर्ग का साधन माना गया है।[4] वस्तुतः नैतिक और नैसर्गिक कर्म में सामञ्जस्य की कल्पना **लाइबनीज़** की कल्पना, पूर्वस्थापित सामञ्जस्य (pre-established harmony) की याद ताज़ा कर देती है।

वैदिक परम्परा में जगच्चक्र को इतना सार्थक व्याख्येय, बुद्धिगम्य और औचित्यपूर्ण माना गया है कि यहां **त्रासद-काव्य** तथा नाट्य (tragedy) का विकास ही नहीं हो सका। हमारे नाट्य में किसी भी श्रेष्ठ चरित्र, सत्पात्र का दुःखद अन्त अथवा उसमें अन्तरात्मा का संघर्ष, नहीं दिखाया जाता, जो पश्चिमी नाटक की विशेषता है। यहाँ सब कुछ भले के लिए है, अतः त्रास-बोध (Tragic sense) के

१. लेखक कृत 'ग़ालिबस्यार्थगौरवम्'
२. गीता १७.२६
३. वैशेषिक-सूत्राणि ५.१.१५ । ५.२.२ । ७,१३,१७
४. योग-सूत्राणि २.१८

लिए अवकाश ही कहाँ ? यही कारण है कि हमने लगभग सहस्र वर्षों तक रोमहर्षण अत्याचार मूकभाव से सहा है और साहित्य में भरसक 'उफ़!' भी नहीं आने दिया है। बुद्ध की दुःख चेतना त्रासदी के उद्भव के लिए अत्यन्त उर्वर भूमि सिद्ध हो सकती थी, किंतु उनकी देवत्वापत्ति के कारण उनका हैन्दवीकरण हो गया और अन्ततः त्रासबोध पनप ही नहीं सका। वस्तुतः बुद्ध की दुःख-चेतना और नैरर्थक्य-दृष्टि भारतीय इतिहास में एक अनहोनी-सी घटना है। शायद इसीलिए उन्हें ठीक-ठीक समझा ही नहीं गया। समाज और सृष्टि-व्यवस्था के साथ पूर्णतादात्म्य और मनमेल तथा उनके प्रतिपूर्ण सन्तोष और निष्ठा की भावना भारतीय संस्कृति की अन्यतम विशेषता रही है। अतएव यहाँ न तो सुकरात से समान सुधारक दिखलायी देते हैं, न मार्क्स के समान विद्रोही। सृष्टि के साथ इस प्रकार सन्धि रखने वाली संस्कृति कोई भी क्रान्तिकारी कदम उठाने के अयोग्य हो जाती है।

वस्तुतः हमारे यहाँ अपरीक्षित सस्ते नुस्खे दर्शन के क्षेत्र में बहुत चलते हैं। सृष्टि समझ में नहीं आयी तो उसका निषेध कर दिया गया। कहा गया कि सृष्टि हुई ही नहीं, किन्तु इतनी बड़ी सृष्टि छिपाई कहाँ जाय ? हत्या कर डालना तो सरल है किंतु लाश कहाँ छिपायी जाय ? अतः **सृष्टि** को **माया** के हवाले कर दिया गया। यह नहीं सोचा गया कि **माया** को भी कठघरे में खड़ा होना पड़ेगा। माया को समझना, सृष्टि को समझने से कम कठिन नहीं है। इसी प्रकार **आत्मा** का निषेध तो कर दिया गया, किंतु '**निर्वाण**', '**तथागतगर्भ**', आदि के नाम से उसे गुप्त रूप से स्थान देना पड़ा। ऐसे सस्ते नुस्खों से पाखण्ड बढ़ता है।

एक अन्य दृष्टि से दर्शनों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—**सूचनात्मक** (Informative) वेदनात्मक (epistemic) अथवा **शास्त्रीय** (academic) तथा **परिणामनात्मक** (Transformative), **रेचनात्मक** (cathactic) अथवा **उपचारात्मक** (therapentic)। दर्शन को कुछ लोग, विशेषतः **प्राचीनपश्चिमी** दार्शनिक केवल **कौतूहल-निवर्तक** विद्या समझते हैं, जब कि कुछ अन्य लोग, विशेषतः प्राचीनभारतीयदार्शनिक, उसे **जीवन का संस्कारक** मानते हैं। **आन्वीक्षिकी** की प्रशंसा में **कौटिल्य** कहता है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्,
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥[१]

१. कौटलीय अर्थशास्त्र १.२.१२

ब्रह्मज्ञान के लिए **साधनचतुष्टय** को अनिवार्य बतलाया गया है। बौद्धमत में **प्रज्ञा** के उदय के लिए **शील** और **समाधि** अनिवार्य शर्त है। प्राचीन भारतीय प्रतिभा ने दर्शन को सदा संस्कृत जीवन का फल और संस्कृतेतर जीवन का हेतु माना है। वर्तमान भारतीय दार्शनिक इस समस्या पर विचार ही नहीं करता। वह तथ्य-ज्ञान और तत्त्व-ज्ञान में घपला किया करता है। वस्तुतः प्रमाण-तर्क-साधनोपलभ्य-प्रधान दर्शन। पद-वाक्य-प्रमाण-प्रधान दर्शन और चीज़ है और शील-समाधि-प्रज्ञा-प्रधान और। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-प्रधान दर्शन और है तथा परमार्थ साधनता प्रधान दर्शन और ही। एतत्सम्बन्धी निर्णय मौलिक दर्शन की उद्भावना के लिए आवश्यक है।

हमें वह भी तय करना होगा कि **दर्शन है साध्य** या **साधन**। प्रायः दर्शन को स्वयं अपना साध्य मानने की प्रवृत्ति हमारे देश में भी बढ़ रही है। प्रश्न है कि क्या दर्शन की कोई सामाजिक-सांस्कृतिक अर्थवत्ता भी है अथवा वह विशुद्ध बौद्धिक ऊहापोह या वाक्यार्थगत गुत्थियाँ सुलझाने का माध्यम मात्र है। वर्तमान स्थिति यह है कि हमारे दर्शन-विभागों का देश के सामाजिक-साँस्कृतिक पुनरुत्थान में किसी प्रकार का योग ही नहीं दिखायी देता। क्या यही स्थिति चलनी चाहिए ? मेरा नम्र निवेदन है कि राष्ट्र इस विलासिता को अधिक दिन तक प्रश्रय नहीं दे सकता। नवनिर्माण में सहायक दर्शन ही अब सुदर्शन माना जा सकता है। हमें **मार्क्स** के अर्थक्रियाकारी ज्ञानवाद का गम्भीरता से मनन करना होगा। ज्ञान प्रकाशक ही नहीं, प्रवर्तक भी होता है और हो सकता है।

क्या **दर्शन** को **अभ्युदय-प्रधान** होना चाहिए अथवा **निःश्रेयस प्रधान** ? समसामयिक भारतीय दार्शनिकों में से जो भारतीयता का दम भरते हैं वे भी इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट दृष्टिकोण रखते प्रतीत नहीं होते। आज किसी को बिरला ही दार्शनिक मिला होगा, जिसे मुमुक्षु, मात्र कहा जा सके और जो दर्शन को सचमुच मोक्षशास्त्र मान कर चलता हो। **मोक्ष** और किसी-किसी के निर्वाण में भी, निषेध-पक्ष और विधि-पक्ष होता है। **निषेध-पक्ष** का सम्बन्ध, परम्परा के अनुसार, जीवन जीवन के निषेध से है, जो आज अपनी अपनी सारी अपील खो चुका है। रहा **विधि-पक्ष,** उसका अर्थ है पूर्णता, किन्तु आज का मानव उस पूर्णता की आशा विज्ञान से बाँध चुका है। वह 'नौ नकद न तेरह उधार' वाली लोकोक्ति पर अमल करते हुए प्राप्त अपूर्णता को काल्पनिक पूर्णता से बदलने के लिए कथमपि तैयार नहीं है। इसे देखते हुए क्या अब भारतीय दर्शन के प्रयोजन में किसी परिवर्तन की अपेक्षा सिद्ध नहीं होती ? यदि होती है, तो उसका निरूपण होना चाहिए।

दर्शन का **मुमुक्षा** से घना सम्बन्ध होने के कारण परम्परा प्राप्त भारतीय दर्शन व्यक्तित्व की अभिवृद्धि (enrichment of Personality) के प्रति उदासीन अथवा सहानुभूति शून्य ही रहा है। हमारे सुख्यात दार्शनिकों में शायद ही कोई मिले जो प्रेम और शृङ्गार को बढ़ावा देने में रुचि रखता हो, काव्य और सङ्गीत, **कालिदास** और **ग़ालिब**, को दार्शनिक के लिए अनिवार्य समझता हो। कहने को तो परम्परा प्राप्त पुरुषार्थ चतुष्टय की सूची में तृतीय पुरुषार्थ काम ही है, किन्तु काम की महत्ता और आवश्यकता पर हमारे दार्शनिक मौन ही दिखायी देते हैं। **कामाध्यात्म-सिद्धान्त** एक आधुनिक भारतीय दार्शनिक की सूझ है। वैदिक दार्शनिकों, ऋषियों में इस पवित्रतावादी प्रवृत्ति का अवश्य ही अभाव था।

हमारा मध्यकालीन दर्शन जीवनोन्मुख नही था, अतः उसमें समाज, संस्कृति, राजनीति, शिक्षा आदि जीवन-निर्मायक विधानों की ओर से उदासीनता ही परिलक्षित होती है दर्शन का सफल सामाजिक-सांस्कृतिक विनियोग ही उसके प्रामाण्य का प्रमाण है। आज होता यह है कि दार्शनिक कभी-कभी उन विषयों पर भी चिंतन कर लेता है, यद्यपि उसका उसके दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। हम ऐसे चिंतन की बात नहीं कर रहे हैं। हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक चिन्तन हमारे दर्शन से निःसृत होना चाहिए। ऐसा दर्शन **संस्थान-निर्माण** की शक्ति की अपेक्षा करता है, जिसका तेजी से लोप होता जा रहा है। इतना ही नहीं आज संस्थान-निर्माण पागलपन की वस्तु माना जाने लगा है। किन्तु हमारी अन्तरात्मा, हमारी सहजबुद्धि, जन-मानस तत्त्वज्ञान और जीवन में समन्वय के पक्ष में प्रतीत होता है। आज स्फुट विचार प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों की नहीं, बल्कि संस्थान-निर्माता **मार्क्स** की पूछ अधिक होने का यही कारण है। वस्तुतः संस्थान ही दर्शन को सुघटित, सुव्यवस्थित और अर्थक्रियाकारी रूप दे सकता है, संस्थान ही दर्शन का निकष है।

विषयानुपूर्वी-भेद, श्रेणी-भेद, से दर्शन के प्रायः आधे दर्शन भेद हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में **प्रथमश्रेणी का दर्शन** वह दर्शन है जो अस्तित्व के सारासार, सार्थक्यानर्थक्य, का विचार करता है; **द्वितीयश्रेणी का दर्शन** अनुभव और अनुभूत की सत्यता-असत्यता का विचार करता है; **तृतीयश्रेणी का दर्शन** सत्यासत्य के निकष को निर्धारित करता है; **चतुर्थश्रेणी का दर्शन** सत् और सत्य की अभिव्यक्ति के प्रश्न पर विचार करता है; **पञ्चमश्रेणी का दर्शन** दर्शन-विज्ञान (सायन्स आफ फिलॉसोफ़ी) कहा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत दर्शनेतिहास, दर्शन का समाज-शास्त्र, दर्शन का मनोविज्ञान, दर्शन-समीक्षा, आदि आते हैं; **षष्ठश्रेणी का दर्शन** दर्शन-दर्शन (Philosophy of Philosophy) कहा जा सकता है। हमारे यहाँ प्रथम और

द्वितीय श्रेणी के दर्शनों का लोप हो चला है। यहाँ यदि कोई दर्शन चल रहा है तो वह चतुर्थ श्रेणी के अन्तर्गत आता है, जो अब पञ्चम और षष्ठ श्रेणी के दर्शन पर भी आक्रमण करने लगा है। तथापि इस चतुर्थ श्रेणी में मौलिक योगदान शून्य ही बैठता है। हमारी सारी कोशिश यही रहती है कि दर्शन को अधिक से अधिक लाक्षणिक (Technical) बना दिया जाय। हम वस्तुतः **दर्शन के टेक्नीशियन** बनते जा रहे हैं। हमें इसका तनिक भी आभास नहीं रह गया है कि दर्शन के इतिहास में लाक्षणिकता का आग्रह किसी मौलिक दार्शनिक प्रवृत्ति की आधारशिला नहीं बन सका है। मौलिक दर्शन का उदय तत्त्व के साक्षात्कार (Encounter with reality) की अपेक्षा करता है, न कि विषय-वस्तु के विसर्जन (Dropping of the object) की। हमारी धारणा है कि जब लाक्षणिक दर्शन का उत्कर्ष होता है तब रचनात्मक दर्शन का अपकर्ष होता है। वस्तुतः लाक्षणिकदर्शन तभी उपयोगी सिद्ध होता है जब वह रचनात्मक दर्शन के अधीन कार्य करता है।

हमें दर्शन की उक्त छहों विधाओं में मौलिक योगदान कर सकने वाली प्रतिभाओं की प्रतीक्षा है।

II

अच्छा, **मौलिकदर्शन** शून्य में नहीं बनता। (मौलिक) दर्शन का पौधा परम्परा की उर्वर भूमि से प्राण खींचता और पल्लवित, पुष्पित, तथा फलित होता है। वस्तुतः अतीत की थाती को पचाये बिना मौलिक दर्शन का दर्शन स्वप्न-दर्शन है। अतः हमें अतीत का दायित्वपूर्ण आकलन करने की शक्ति चाहिए। भावी निर्माण, पुनर्निमाण, नवनिर्माण के लिए अतीत का आकलन, इतिहास का अनुसन्धान, अपरिहार्य है। हमारे दर्शनज्ञों में इस चेतना का अभाव दुःखद है। विचारों के इतिहास को हेगल और **लब्ज्वाय** जैसे दार्शनिक दर्शन की एक महत्त्पूर्ण विधा के रूप में विकसित कर चुके हैं, **स्पेंग्लर** और **सोरोकिन** जैसे इतिहासदार्शनिक दर्शन के वैविध्य को सांस्कृतिक विकास-धाराओं, विशिष्ट संस्कृतियों के वैविध्य से जोड़ कर सम्बद्ध संस्कृतियों के सन्दर्भ में दर्शन का आकलन-मूल्यांकन करने की आवश्यकता पर बल दे चुके हैं, किंतु हमारे यहाँ दर्शन के क्षेत्र में किसी भी कारण से प्रविष्ट और सुचर्चितवाद पर इतिहासातीत, संस्कृति-निरपेक्ष, भाव से विचार-विमर्श होने लगता है। जाने जा सकने योग्य विषयों का क्षेत्र असीम है। सब कुछ जानना सम्भव नहीं, और न आवश्यक ही है। इस सम्बन्ध में **धर्मकीर्ति** की चेतावनी स्मरणीय है—

तस्याऽनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ?

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्यवेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो, न तु सर्वस्य वेदकः॥

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे॥[१]

यूरोप और अमेरिका में वाक्यविश्लेषण-पर्यवसायी दर्शन का उदय दार्शनिक प्रतिभा की ह्रासोन्मुखता से सहकृत दार्शनिकम्मन्य की हीनता-ग्रन्थि तथा आत्मपीड़नरति (maschism) के कारण घटित हुआ है, ऐसा हर्बर्ट मार्कूज़ जैसे चिन्तक का मत है।[२]

तो हम कहना चाहते थे कि दार्शनिक चिन्तन के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव में हमारे यहाँ मौलिक दर्शन के समुदय की शुभ घड़ी आ ही नहीं सकती। और इतिहास का तात्पर्य वह अधकचरा दर्शनेतिहास नहीं जो आज प्रचलित है। तदर्थ दर्शन के आदि स्रोत वैदिक वाङ्मय को भलीभाँति खँगालना तथा प्रत्येक दर्शन के विकास के नये सिरे से अध्ययन का उपक्रम आवश्यक है। इसे अंग्रेजी में (genetic study) कहते हैं।

वस्तुतः दर्शनेतिहास उपर्युक्त पञ्चम दर्शन-श्रेणी के अन्तर्गत आता है, और इसमें मौलिक योगदान के लिए पर्याप्त अवकाश दिखायी देता है। दर्शन-संग्रह सम्बन्धी प्रयत्न इस देश में प्रायः १२०० वर्ष से निरन्तर चला आ रहा है। भारतीय दर्शन के इतिहास लेखन की परम्परा भी लगभग दो सौ वर्ष पुरानी हो चुकी है। किन्तु यहाँ वास्तविक दर्शनेतिहास की अभी भी प्रतीक्षा है। मैक्समूलर से लेकर यदुनाथसिनहा तक सभी तथोक्त दर्शनेतिहासकार प्रायः दर्शन-संग्रह से आगे नहीं बढ़ सके हैं। यदि उनकी पुस्तकों से विभिन्न दर्शनों से सम्बद्ध स्थल पृथक् कर दिये जायँ तो वे सर्वथा स्वतन्त्र पुस्तिकाओं के रूप में बिखरे दिखायी देंगे। ऐसा नहीं लगेगा कि किसी एक पुस्तक के विविध अवयव बिखर गये हैं। वास्तविक दर्शनेतिहास की आवश्यकता की यत्किञ्चित् चेतना हमें पहली बार कार्ल एच० पॉटर

१. प्रमाण-वार्तिक १.३३-३५
२. हर्बर्ट मर्कूज़ One-Dimensional Man (चतुर्थ संस्करण, W. C. I Sphze Book, Ltd. १९७०) पृ. १४१

में देखने को मिलती है, किन्तु उनके पास अपेक्षित दृष्टि का अभाव ही पाया जाता है।

वैदिक वाङ्मय से मथ कर उधर **मधुसूदन ओझा** ने ढेर सा दर्शन-नवनीत निकाला है जिसका हमें पता ही नहीं है। यदि ओझा के ग्रन्थों की छानबीन की जाय तो हो सकता है कि उसमें कुछ आश्चर्यजनक सामग्री प्राप्त हो। खेद है कि उनकी सारी कृतियाँ जो अधिकांशतः अप्रकाशित हैं नष्ट प्राय हैं। मौलिक दर्शन के सिसृक्षु को इधर ध्यान देना चाहिए। **मौलिक दर्शन आकाश से नहीं टपकता, परम्परा से ही प्रादुर्भूत होता है।**

मौलिक दर्शन शब्द-प्रमाण की थुन्नी के सहारे खड़ा नहीं किया जा सकता। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक शब्द प्रमाणक रहे हैं, वे चाहे श्रौतस्मार्त परम्परा के अनुयायी हों, चाहे जैन अथवा बौद्ध परम्परा के। सभी अपने आद्याचार्यों को परम आप्त और स्वतःप्रमाण मान कर चलते प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि स्वतः प्रमाण बस एक है, **स्वसंवित्**। कोई भी प्रमाण स्वसंवित् से मान्यता ले कर ही प्रमाणत्वेन गृहीत हो सकता है। श्रुति का श्रुतित्व, प्रमाणत्व उसके स्वसंवित द्वारा अनुमोदित होने में ही है। वस्तुतः श्रुति अश्रुति का निर्णय भी संवित् का ही कार्य है। सच पूछा जाय तो अन्ततः प्रमाण एक ही है, स्वसंवित्। **नैयायिक** ठीक ही तो कहता है--**'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्।'**[1] स्वसंवित् के उपमान से परसंवित् भी प्रमाणत्वेन ग्राह्य हो जाती है। इसके अतिरिक्त संविन्मूलक तर्क (अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, आदि) भी हमारे ज्ञान की श्रीवृद्धि करता है, अतः वह भी प्रमाण बन जाता है। इस प्रकार प्रमाणों की संख्या तीन हो जाती है, जिनमें से एक स्वतः प्रमाण है। एक स्वोपज्ञ कारिका है—

'स्व-संवित्, पद-संविच् च, तर्कस् तन्मूलकस् तथा
'प्रमाणत्रितयं ज्ञेयम्, स्व-संवित् तु स्वतःप्रमा ॥'[2]

श्रुति का, **आप्त-वचन** का, **बुद्ध-वचन** का, पर्याप्त महत्त्व और प्रामाण्य है, किन्तु स्वतः प्रामाण्य कदापि नहीं। आप्त-स्वतःप्रामाण्यवाद मौलिक दर्शन के उदय में बहुत बड़ा बाधक है। महायान का उदय देश में एक बहुत ही बड़ी दार्शनिक क्रान्ति का प्रतीक था, किन्तु मानना होगा कि बुद्ध को परम आप्त, देवाधिदेव, और उनके वचन को श्रुति-वचन से भी अधिक प्रामाणिक, स्वतः प्रमाण, सिद्ध करने के

१. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.१.३६, पृ० ३९९
२. लेखक-कृत 'प्रमाणसङ्ख्याविप्रतिपत्तिकारिकाः'

अभिनिवेश ने उसे मूढ़ग्राहों का मालखाना बना डाला। मार्क्सवाद को ही लीजिए। मार्क्स मानवात्मा को मूढ़ग्राह से छुटकारा दिलाने और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का पथ प्रशस्त करने के लिए अवतरित हुआ था, किन्तु उसके अनेक अनुयायी उसे सबसे बड़ा आप्त मानकर और उसके वचनों को भगवद्वचन का दर्जा दे कर मौलिक, साहसपूर्ण चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध करते दिखायी देते हैं।

वैदिकदर्शन सृष्टि विद्या-प्रधान दर्शन है, उसका आरम्भ सृष्टि-सम्बन्धी चिंतन से होता है। **वेदान्तिकदर्शन** आत्मविद्या-प्रधान दर्शन है, उसका आरम्भ आत्मानुसन्धान से होता है। **बौद्धदर्शन** अनात्म-प्रधान दर्शन है, उसका आरम्भ आत्म-विषयक शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के खण्डन से होता है। किन्तु आज आवश्यकता है मानव-प्रधान दर्शन की, दार्शनिक चिन्तन को मानव-विषयक चिंतन से आरम्भ करने की। महाभारत में कही कहा गया है —

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुषाच् छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।'[1]

मार्क्स ने घोषणा की थी—'To be radical means to go to the root and root is man himself'[2] अर्थात् मौलिकता का अर्थ है मूल तक पहुँचना, और मूल स्वयं मानव है। वस्तुतः आज मानव-मूलक दर्शन ही चल सकता है।

इस दिशा में **पाश्चात्यदर्शन**, **विज्ञान** और **लोकतन्त्र** में कोई तालमेल नहीं दिखायी देता। **लोकतन्त्र** यह मान कर चलता है कि व्यक्ति साधन नहीं, साध्य है। किन्तु **मार्क्सवादी** तथा अन्य भौतिकवादी दर्शन भूत-तत्त्व को ही मौलिक सत्ता मान कर चलते हैं। उनके अनुसार आत्मा भूत का ही धर्मान्तर-परिणाम है, कोई मौलिक, स्थायी सत्ता नहीं। उनके लिए व्यक्ति एक क्षणभङ्गुर सत्ता है, जिसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। ऐसी मान्यता रखने वाले समाज में व्यक्ति कभी साध्य नहीं माना जा सकता, वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का आग्रह नहीं दीख सकता, एक-एक व्यक्ति के मत का वह महत्त्व नहीं हो सकता जो **लोकतन्त्र** की विशेषता है। नश्वर व्यक्तित्व, क्षणभङ्गुर आत्मा के लिए, इतनी हाय-तोबा क्या? जो वस्तु रहने वाली नहीं है, जो केवल एक आकस्मिक घटना है, जिसकी सत्ता का कोई भरोसा नहीं, वह अपना साध्य स्वयं कैसे? **बौद्धदर्शन** की आत्मा अनिवार्यतः एक ही जीवन तक रहने वाली वस्तु नहीं, वह आगे अपरिमित काल तक चलने वाली सत्ता है, तब तक चलने वाली जब तक कि उसका निर्वाण न हो जाय। तथापि पुद्गल-सन्तान के

१. महाभारत, शान्तिपर्व २९९.२०

२. मार्क्स, इरिक फ्रॉम, द सेन सोसायटी, रटलेज पेपर बैंक (लण्दन: रटलेज और केगन पॉल, १९६३), पृ० २५३, में उद्धृत

शीघ्रातिशीघ्र पर्यवसान, विरोध की ही बौद्धदर्शन कामना करता है, अतः वह उसके लिए कोई पवित्र वस्तु नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी भौतिकतामूलक दृष्टिकोण व्यक्ति को पानी के बुलबुले के समान आकस्मिक और भङ्गुर बतलाता है और इस प्रकार उसका महात्म्य घटा देता है, जब कि उसका लोकतन्त्र व्यक्ति की अपरिमित मर्यादा, पवित्रता, महत्ता की घोषणा करता है। वही दर्शन लोकतन्त्र के उपयुक्त हो सकता है जो किसी न किसी रूप में व्यक्ति को वस्तुसत्, स्वतन्त्र और स्थायी मान कर चले, और ऐसा दर्शन अब अलीक हो चला है। भारतीय इस दिशा में मौलिक योगदान कर सकते हैं।

व्यक्ति का वैज्ञानिक, भौतिक-रासायनिक विश्लेषण करते हुए हरवर्ड ने बतलाया है कि अधोलिखित नुस्खा व्यक्ति के निर्माण के लिए पर्याप्त है—

दस गैलन के पीपे को भरने के लिए पर्याप्त जल;
साबुन के सात डंडों के लिए पर्याप्त चर्बी;
नौ सहस्र पेन्सिलों के लिए कार्बन;
बाईस सौ दियासलाइयों के लिए फ़ास्फ़ोरस;
एक मध्यम आकार की कील के लिए लोहा;
मुर्गियों के एक दर्बे की सफेदी के लिए पर्याप्त चूना,
थोड़ी मात्रा में मैग्नेशियम और गन्धक।

बस, व्यक्ति तैयार। इसके विपरीत, वेदान्त मानवात्मा को साक्षी चैतन्य घोषित करता है जो इस नुस्खे का भी साक्षी होने के कारण उससे अतीत है। वस्तुतः औपनिषद पञ्चकोश सिद्धान्त के आधार पर व्यक्ति का एक सर्वाङ्गपूर्ण रूप खड़ा किया जा सकता है और अपेक्षित महिमा से मण्डित भी। वेद के अनुसार पुरुष, व्यक्ति, देवताओं की पुरी हैं, ब्रह्म की पुरी है।[१] पुरुष का एतादृश स्वरूप ही उसकी आज सर्वसम्मत पवित्रता का आधार बन सकता है।

इस दृष्टि के अनुसार व्यक्ति केवल सत् नहीं, केवल सच्चित् भी नहीं, स्वतन्त्र भी है। उसके स्वातन्त्र्य का अपर नाम है आनन्द। इस प्रकार व्यक्ति तत्त्वतः सच्चिदानन्द है। अतः व्यक्तित्व अभिशाप नहीं, एक वरदान है, जिसका उच्छेद नहीं, विकास अपेक्षित है। इक्बाल ने व्यक्ति को इतना ऊँचा उठाया कि वह विधाता से होड़ लेने लगा—

१. (शौनकीया) अथर्ववेद-संहिता १०.२,२८, ३०–३१

'खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तक्दीर के पहले।
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रज़ा है क्या।

यहीं तक नहीं, इक्बाल का व्यक्ति विधाता का शिकार खेलने का भी हौसला रखता है—

'दर दश्ते जुनूने मन जिब्रील ज़बूं संदे।
यज्दाँ ब-कमन्द आवर ऐ हिम्मते मर्दानाँ।'.

अर्थात् मेरे आखेट-वन में जिब्रील जैसा देवदूत कोई अच्छा शिकार नहीं है। हे वीर पुरुष! विधाता पर डोर फेंक। इसी स्वर में **वागाम्भ्रिणी** नामक वैदिकऋषिका शङ्खनाद करती है—

'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं, तमृषिं तं सुमेधाम्।'[1]

पञ्चस्कन्धों के संघात में यह दम-ख़म कहाँ आ सकता है। किसी बौद्ध कवि का श्लोक है—

'नर्तकीभ्रूलताक्षेपो न ह्येकः परमार्थतः।
परमाणुसमूहत्वादेकत्वं तस्य कल्पितम्॥'[2]

यह संघातवाद जैसे नर्तकीभ्रूलताक्षेप का सारा मज़ा किरकिरा कर देता हैं वैसे ही व्यक्तित्व की सारी गरिमा पर पानी फेर देता है। हमारी मान्यता है कि भावी भारतीयदर्शन का स्वरूप जो भी हो, यदि उसे प्रामाणिक बनना है तो पुरुष के विषय में वैदिक दृष्टिकोण से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त करनी होगी।

वैदिक पुरुषवाद की एक अन्यतम विशेषता यह है कि उसके अनुसार पूर्णता पुरुष में ही प्रच्छन्न है बस उसे उजागर करना है। यह मत भलीभाँति प्रतिपादित होने पर वर्तमान विज्ञान-युग नितान्त अनुकूल पड़ेगा। आज का मानव महत्त्वाकांक्षी मानव है, जो सृष्टि-विजय की आकांक्षा ले कर चला है। यदि सृष्टि के परे कुछ हैं तो वह उस पर भी अपनी डोरी फेंकने का हौसला रखता है। सुचिन्तित पूर्णत्वगर्भ व्यक्तित्व का दर्शन ही उसे अपील कर सकता है।

---

१. (शाकला-शैशिरीया) ऋग्वेद-संहिता १०.१२५.५
२. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १.१.१० में उद्धृत



नये जीवन-दर्शन की कुछ समस्याएं और सम्भावनाएं

प्रो० कृष्णनाथ

नये दर्शन की आवश्यकता क्यों है ? जब पुराने सोच के रास्ते चलते-चलते आगे जा कर बन्द हो जाते हैं; तो नये रास्ते की जरूरत महसूस होती है। हो सकता है कि यह नया रास्ता बिलकुल नया न हो, पहले भी बताया गया हो, लेकिन उसका मिजाज, उसकी भाषा, भंगिमा नयी हो जाती है। फिर वह भी चलते-चलते उसी परम्परा का अंग हो जाता है और तब नये उद्भावन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार विचार का प्रवाह नया होता है और चलता जाता है।

नये दर्शन की सम्भावना पर विचार करने का मतलब ही है कि जो प्राच्य और पाश्चात्य, प्राचीन और नवीन दर्शन हमें परम्परा से प्राप्त हैं वे हमारे लिए पर्याप्त नहीं हैं। आज के मनुष्य की जो अन्तर-बाह्य जरूरतें हैं उन्हें पूरा नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए हमें नये दर्शन की आवश्यकता महसूस हो रही है।

लेकिन प्राचीन भारतीय दर्शन परम्परा में कमी क्या है? **षड्दर्शन** हैं, आस्तिक-नास्तिक दोनों दर्शन हैं, सर्वदर्शनसंग्रह ही है। फिर किसी नये दर्शन की जरूरत क्या है ? कमी किस बात की है ? कहाँ है ?

मुझे लगता है कि कमी दर्शन के उन ऊपरी ढाँचों में नहीं है जो हजार वर्षों से अधिक से बहुत जतन और बहुत तर्कसंगत ढंग से बनाये गये हैं। इनमें अगर कोई कमी है तो वह यह है कि यह ढाँचे जिन मान्यताओं पर खड़े हैं वे मान्यताएँ आज की दुनिया की नहीं हैं। वे आधार बदल गये हैं या कम से कम उनका कस, उनका बल बदल गया है। जीवन और दर्शन के आधार **ईश्वर-अनीश्वर, आत्मा-अनात्मा**, एक या दो या तीन या चार **प्रमाण** के नहीं हैं। ये आधार हैं **कर्म, कर्मफल, पुनर्जन्म** जैसे विश्वास और **वर्ण-आश्रम** जैसी संस्थाएँ। ये विश्वास और संस्थाएँ आज की दुनियां में नहीं हैं, ऐसा तो नहीं है। लेकिन उनके पीछे जो

वैचारिक प्रतिबद्धता थी उसमें काफी कटाव हो रहा है। नये आधार अभी भारत में प्रतिष्ठित नहीं हैं और पुराने नष्ट हो रहे हैं, इसलिए यह एक **संक्रमण काल है।**

ये नये विश्वास क्या हैं? ये नयी संस्थाएं क्या हैं? इनके रूप इतने स्थिर नहीं है जितने कि प्राचीनों के, इसलिए इनकी पहचान भी उतनी सरल नहीं है। फिर भी पुराने कर्म, कर्मफल और नियति और परलोक के बजाय आज इहलोक के प्रत्यक्ष अर्जन प्राप्ति और पुरुषार्थ का महत्त्व बढ़ा है। इस माने में **स्वतन्त्रता** ज्यादा मूल्यवान है। ऐसा नहीं है कि कर्म-कर्मफल की व्यवस्था में स्वतन्त्रता नहीं है। प्रश्न सापेक्षिक महत्त्व का है। आज **इहलोक के अर्जन और उससे प्राप्त स्वतन्त्रता का जो महत्त्व है वह कर्म, कर्मफल की व्यवस्था और राजतन्त्र और जातितंत्र में नहीं है।** इस तरह स्वतन्त्रता के मूल्य बढ़ने के साथ राजा और वर्ण की व्यवस्था भी शिथिल पड़ी है।

फिर. समता। सिर्फ अन्तर की नहीं, आमदनी और सम्मान की समता की जैसी भूख आज जगी है वैसी प्राचीन भारतीय चिन्तन और संस्थाओं में नही है। कोई **गीता या धर्मपद** की उस आन्तरिक समता का उद्धरण न दे। वह है, बहुमूल्य है, किन्तु उसके साथ ही **व्यवहार में रीति-रिवाजों और संस्थाओं में आज जो समता की छटपटाहट है, वह पुरानी व्यवस्था में नहीं है।**

समता को समृद्धि के साथ प्राप्त करने पर भी बल है। वह आन्तरिक समता बहुत करके अपने शरीर को और समृद्धि को छोड़ कर प्राप्त की जा सकती थी। वह आत्यंतिक रूप से शरीर छूटने पर ही प्राप्त हो सकती है या समाधि में शरीर को, प्राण को, जैसे स्थगित करके प्राप्त की जा सकती है। इहलौकिक समता को समृद्धि के साथ प्राप्त करने पर बल है। समृद्धि के जरिए समता, और समता के जरिए समृद्धि, यह आज के मनुष्य की एक समस्या लगती है।

आज के सब मनुष्य एक जैसे नहीं सोचते या बरतते हैं। न पूरब में, न पश्चिम में। इसलिए यह एक अति सरलीकरण है। फिर भी कुछ चीजों को उभारने के लिए यह जरूरी है वैसे वस्तुओं को और समृद्धि को छोड़ कर भीख मांग कर मान-अपमान, ठंढ-गरम, सुख दुख में समता की कोशिश **पश्चिम** में शायद हमसे ज्यादा हो रही है। इन माने में वे शायद हमसे ज्यादा आध्यात्मिक और ईमानदार हैं। **भारत** में विचार में तो सोना, और माटी और गौ और सूअर ब्राह्मण और चांडाल समान हैं। व्यवहार में वह नितान्त असमान है। इसलिए मेरी राय में समग्र मनुष्य की दृष्टि से **लक्ष्य समता** के जरिए समृद्धिऔर **समृद्धि** के जरिए समता हो रही है।

इस दृष्टि से अभ्युदय या निःश्रेयस जैसा चुनाव नहीं है। प्राचीन भारतीय चिंतन परम्परा में इन्हें दो भिन्न और जैसे परस्पर विरुद्ध कोटि मान लिया गया है। **नचिकेता** के सामने **यम** ने विकल्प रखा है कि **अभ्युदय** का रास्ता और है, **निःश्रेयस** का और है। तुम किसे चुनते हो ? मुझे लगता है कि इन दो कोटियों को इतना अलगा दिया गया है कि इनके बीच हिमालय खड़ा हो गया है। जोवन में ये दोनों मिले-जुले आते हैं। प्रश्न अभ्युदय या निःश्रेयस का नहीं है। कितना अभ्युदय, और कितना निःश्रेयस ? कब अभ्युदय और कब निःश्रेयस ? कहाँ अभ्युदय और कहाँ निःश्रेयस का है ? किसके लिए अभ्युदय और किसके लिए निःश्रेयस का है ? इनका अनुपात देश काल पात्र की प्रकृति, स्थिति और आकांक्षा के हिसाब से स्थिर किया जा सकता है। यह सर्व सर्वत्र सर्वदा एक जैसा नहीं हो सकता।

जैसे भारत के लिए कुल ले दे कर **अभ्युदय** पर जोर दिया जा सकता है। **गरीबी** इसकी सब समस्याओं की समस्या है। यह सिर्फ **बाह्य** और **आर्थिक** नहीं है। इसका **आन्तरिक, मानसिक, वैचारिक,** रूप भी है। दोनों स्तरों पर, आन्तर-बाह्य गरीबी मिटाये बिना अभ्युदय तो नहीं हो सकता, निःश्रेयस भी नहीं सध सकता। आज की दुनिया में या शायद प्राचीन दुनिया में भी, जिसके पाश धन है उसके पास ध्यान और धारणा की शक्ति है। हाँ, **पश्चिमी** देशों के लिए सामान्य रूप से, अभ्युदय के बजाय **निःश्रेयस** पर बल दिया जा सकता है। प्रश्न फिर बल-अबल का है। एक या दूसरे के बीच नितान्त चुनाव का नहीं। कितना अभ्युदय, कितना निःश्रेयस ? फिर भारत में भी गरीब के लिए एक जैसा अभ्युदय निःश्रेयस का फामूंला नहीं चलेगा, **गरीब** के लिए **अपरिग्रह** वगैरह सिखाने का बहुत मतलब नहीं। उसके लिए तो **रोटी की व्यवस्था** जरूरी है। हाँ श्रीमान् के लिए अपरिग्रह जरूरी है। सिर्फ वर्ग का प्रश्न नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट प्रकृति, परिस्थिति और आकांक्षा है। अभ्युदय और निःश्रेयस का मेल व्यक्ति को अपने मुताबिक बनाने की छूट होनी चाहिए। इस तरह श्रेय-प्रेय का मिश्रण देश, काल, और अन्ततः तो व्यक्ति की जरूरत के मुताबिक बनाने की समस्या है।

इसके अलावा, **अहिंसा** व्यक्ति और समूह के जीवन के लिए आज जितनी महत्त्व की है उतनी शायद **बुद्ध** और **महावीर** और **गांधी** के काल में भी नही थी। आणविक अस्त्रों की दुनिया में निःशस्त्रीकरण आज के मनुष्य की एक प्रमुख चिन्ता है। हथियार ही नहीं, राज्य की अन्य शक्ति के बढ़ने और संचार और अभिव्यक्ति के साधनों पर राज्य के आधिपत्य के कारण व्यक्ति के अस्तित्व और सम्मान के

लिए आज अहिंसात्मक प्रतिकार अत्यन्त आवश्यक है। राज और समाज सत्ता के मुकाबले व्यक्ति अपने स्वत्व की रक्षा अहिंसा के सक्रिय प्रयोग से ही कर सकता है। प्राचीन भारतीयचिंतन और जीवन व्यवस्था में राज्य और समाज की सत्ता की अवज्ञा के लिए प्रस्थान प्रायः नहीं के बराबर है। व्यक्तिगत साधना के स्तर पर कोई कुछ शायद कर भी सकता हो तो भी राजा और समाज को वर्णाश्रम व्यवस्था के खिलाफ सामूहिक अहिंसक प्रतिकार का निषेध ही है। मैं मानता हूँ कि आज के मनुष्य की आवश्यकता राज्य और समाज की सत्ता को जितना मानना है, उससे ज्यादा इनकार करना है।

आज के मनुष्य की एक समस्या शान्ति की है। शान्ति सिर्फ निःशस्त्रीकरण या अहिंसक प्रतिकार नहीं है। यह युद्ध या शोषण का अभाव मात्र नहीं है। अन्दर-बाहर की वह शान्ति जो भारतीय चिंतन और साधना का लक्ष्य रही है, वह शांति भी मनुष्य की जरूरत है। लेकिन शान्ति, स्वतन्त्रता और समता और समृद्धि और अहिंसक प्रतिकार के साथ, इसके बिना नहीं। परतंत्रता, विषमता, गरीबी हिंसा और अशांति के बीच सिर्फ आन्तरिक शान्ति काफी नहीं। शायद वह बहुत दूर तक सम्भव भी नहीं। अन्तर-बाहर दोनों ही में शान्ति की तलाश है। लेकिन जब तक बाह्य पर्यावरण में शान्ति न हो तब तक अन्दर अशांत बने रहना या जब तक अन्दर शान्ति न आए तब तक बाहर अशांति, लक्ष्य नहीं हो सकती। यह दूसरे को खारिज करने वाली कोटियाँ नहीं है, पूरन करने वाली हैं।

अब अगर ये आज के मनुष्य की चिंता के विषय हैं तो इनके अनुरूप हमें नये चाल के चिंतन और आचरण की आवश्यकता है। इनके लिए प्राचीन और नवीन, प्राच्य और पाश्चात्य, शास्त्र और शिल्प से जो भी काम का हो वह ले लेना जैसा है, जो काम का नहीं है वह छोड़ना जैसा है। इसमें मान, तृष्णा और दृष्टि के बन्धन बाधक हैं। **प्राच्य या पाश्चात्य का मान, प्राचीन या नवीन का मान, तृष्णा और दृष्टि के बंधनों से मुक्त हो कर नये दर्शन की जरूरत है।** अन्दर-बाहर देखना बिना किसी पूर्वाग्रह के और फिर उस साक्षात्कार के हिसाब से कार्य-कारण, प्रमाण-प्रमेय वगैरह की नयी व्यवस्था करना जरूरी है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि क्या यह दर्शन का काम है? एक मत है कि दर्शन का यह काम नहीं है। दर्शन को अगर इन सबसे वास्ता नहीं तो वैसे दर्शन से हमारा कोई वास्ता नहीं। वह भाषा-विश्लेषण बहुत गम्भीर है और उसका अपना स्वाद है, लेकिन हमारे बहुत काम का नहीं हैं। मैं मानता हूँ कि दर्शन का

प्रयोजन है। और वह प्रयोजन मात्र विश्लेषण नहीं है। दर्शन का प्रयोजन है दुःख से छुटकारा और सुख की प्राप्ति। **स्वतंत्रता, समता, समृद्धि, अहिंसा, शांति** जैसे पांच लक्ष्य इसी हेतु से हैं, मात्र अहेतुक नहीं।

मुझे यह भी लगता है कि नये **दर्शन की सम्भावनाएं** अन्ततः **नये आन्दोलन के साथ** प्रगट होती हैं। अगर जीवन को नये ढंग से जीने की जरूरत नहीं महसूस हो तो नया विचार नहीं जनमता, और पुष्ट नहीं होता। वैसे जीवन और दर्शन का दुतरफा सम्बन्ध है। नये-नये आन्दोलनों से नये-नये विचार निकलते हैं, और नये-नये विचारों से नये-नये आन्दोलन जनमते हैं।

हाँ, सब विचार दर्शन नहीं बन पाते, और दर्शन की भी अपनी सीमा है। नये दर्शन का उद्भावन करने से ही नया जीवन नहीं बन जाता। **शक्ति और युक्ति, संगठन, आन्दोलन, देशकाल, परिस्थिति और संयोग** वगैरह मिल कर किसी नये दर्शन के अनुरूप जीवन-क्रम की व्यवस्था करते हैं। इनमें विचार की भूमिका जबर्दस्त है, शायद प्रथम महत्त्व की है, जरूरी है किंतु पर्याप्त नहीं है।

नये दर्शन की सम्भावना के लिए पुराने दर्शनों के दबदबे का और उनके शास्त्र और शब्द के प्रामाण्य का ध्वंस जरूरी है। पुराने दर्शन और उनके शास्त्र और शब्द का ध्वंस नहीं होगा। वे संदर्भ के रूप में रहेंगे। मनुष्य की मूल्यवान विरासत के रूप में सुरक्षित रहेंगे। किन्तु उनकी आप्तता नहीं होगी। इस ध्वंस की भूमि पर नये सृजन की इमारत खड़ी की जा सकती है अन्यथा नहीं। इसमें पुराने ध्वंसावशेष की जमीन, ईंट, पत्थर काम में आ सकते हैं लेकिन इनका अभिनिवेश बदला हुआ होगा, सरंजाम, संयोजन नया होगा। **यह एक सृजनात्मक ध्वंस का काम है। ध्वंस से सृजन होगा। पुराने बीज की खोल फटने से नया अंकुर निकलेगा।**

प्रारम्भ में नये दर्शन का उद्भाव तार्किक असंगतियों के बीच होगा। बल्कि इन असंगतियों की खाद पर बढ़ेगा। क्योंकि सत्य तर्क ही नहीं है, तर्कातीत भी है। मुझे तर्क और सत्य में चुनना हो तो मैं जो है जो सत् है उसे देखकर तर्क और प्रमाण को उसके मुताबिक लगाना पसन्द करूँगा, न कि तर्क और प्रमाण के मुताबिक सत्य को तोड़ना-मरोड़ना। सत्य का यह अन्वेषण अन्तर-बाह्य दोनों ही स्तरों पर ज़स-का-तस देखने से होगा और इसे परीक्षण के लिए खुला रखना होगा। हाँ, परीक्षण की विधि, भिन्न-भिन्न हो सकती है। मुझे लगता है कि इस नये जीवन-

दर्शन का साक्षात्कार पहले होगा। उसके कुछ सूत्र आएँगे, फिर भाष्य वगैरह होंगे। व्यवहार में इनकी परख होगी। फिर उसके लायक उसका विश्लेषण का ढाँचा प्रमाणमीमांसा वगैरह बनेगी या पुरानी व्याख्या, मीमांसा कुछ हेर-फेर करके अपना ली जाएगी। **पुराने दर्शनों को यह नया दर्शन खारिज नहीं कर सकेगा।** हालांकि न यह दावा करेगा कि वह सब पुराना व्यर्थ है, बकवास है, मृषा है, और जो यह नया दर्शन आया है वही असली चीज है, वही सत्य है, पर्याप्त है, तर्क संगत है, परीक्षण में टिकने वाला है इत्यादि। कालक्रम में यह भी देखने का एक दृष्टिकोण बन कर रह जायेगा। फिर भी यह प्रयोग परम्परा को एक अंश तक परिपूरित करेगा। इसलिए भी इसकी आवश्यता है।

नये **दर्शन की यह सम्भावना** कब, कैसे सच होगी? कहाँ और कौन इसे सच बनाएगा? कोई नहीं जानता। लेकिन इतना तो निश्चित है कि यह काम कोई **सामर्थ्यवान मनुष्य ही करेगा,** कोई देव या अति-मानव नहीं।

मुझे लगता है कि पूरब और पश्चिम में एक सृजनशील अल्पमत नये जीवन-दर्शन को जरूरत महसूस कर रहा है। विश्व मन में संशय है। ऊब है, हलांकि हाल में संसार में सब तरह की सत्ता-व्यवस्था की जकड़ ज्यादा मजबूत हो गयी है। नये जीवन दर्शन की खोज कुछ बंध गयी है। स्थिति अन्दर-बाहर बदलती रहती है। इसलिए अगर इसकी जरूरत है तो कोई सृजन हो सकता है। होगा कि नहीं होगा, यह भी कोई नहीं कह सकता। हाँ, होना चाहिए, ऐसा मुझे महसूस होता है। अभी तो इतना ही बस है।

धर्म ? दर्शन ? विज्ञान ? तीन प्रश्न चिन्हों की अद्यतन नियताप्ति

डा॰ मायाप्रसाद त्रिपाठी

दर्शन या दर्शन का अभिषवण जितने रूप या मात्रा में मानवता को शारीरिक, मानसिक शान्ति दे पाता है, उतने रूप या मात्रा में मैं उसकी सार्थकता द्वारा विकल्पहीन मानता हूँ। उसमें निर्माण या मोक्ष का अतिशय अथवा एकान्त विचार प्रायेण बुद्धि-वैभव ही कहलाने का अधिकारी होता है। दर्शन की मोक्षात्मक, निर्वाणात्मक सत्ता अवश्य हो सकती है, पर उसे लेकर बहुत परेशान होने और बुद्धि-व्यायाम करने की आवश्यकता नहीं। वह कहीं की औपवस्ति शाद्वलता हो सकती है; अनिवार्य पथ, कुटिया, आवास एवं गन्तव्य नहीं। एक बात और, यहाँ मानवता में व्यष्टिसमष्टि दोनों समाविष्ट हैं।

धर्म और दर्शन की पृथक् सत्ताएँ स्वीकार करना श्रेयकर होगा। वैसे उनमें कुछ या बहुत कुछ उभयनिष्ठ हो सकता है। आज संसार को और अधिक धर्म और दर्शन की आवश्यकता नहीं। अपरिहार्य आवश्यकता है पुराने धर्मों कर्मकाण्डों को छोड़कर-दर्शनों में कही बातों को कार्यान्वित करने की। विश्व में संप्रति तथा अतः परं भी सबसे पहले और दर्शन के चिन्तनमन्थन का एक मात्र उद्देश्य होना चाहिए पहले के महान् प्रतिपादनों-अनुभवों का कार्यान्वय।

धर्म तो सभ्यता के आरंभ से ही प्रायेण मानव जीवन में घुसा रहा। किन्तु कहीं कहीं उसका वणिक्-स्वरूप, बढ़े हुए क्षत्रियत्व की हिंस्रता-यदाकदा साहसिकता बड़ी स्पृहणीय उथलपुथल मचाती रहीं।

दर्शन धर्म के ढंग पर समग्र मानव जीवन में पूर्णतया कभी नहीं घुस पाया, क्योंकि उद्भव प्रचार-प्रसार में वह मूर्धन्य व्यक्तियों की उड़ान भर कर रह हो गया। देशकाल, समाज, राजनीति के पुटपाक से वह जितना धरती के कोने-कोने में पहुँचा, उतना ही धरती का हो पाया। आज के नव्य या नव्यात्मक अथवा तथाकथित नूतन दर्शनों के बारे में भी यही लागू होता है।

जैसे जीवन में नकारात्मकता विप्रतिपन्नमार्गिता या विनाश का पर्याय हो सकती है, उसी प्रकार दर्शन और धर्म के क्षेत्र में भी उसका उत्पथकारिणी या विध्वंसिनी हो जाना स्वाभाविक है। अतः इन क्षेत्रों में भी सकारात्मकता को स्वीकारना और उसको लेकर चलना ही सार्वजनीन श्रेयस् प्रेयस् के लिए विशेष स्तुत्य है।

प्राचीन काल में **दर्शन की विधि** शास्त्रानुशीलन, चिन्तनमनन, अनुभव, परंपरा संप्राप्ति, तथा स्वोपज्ञता, वैचारिक स्वाविष्कारशीलता या गवेषणा पर विशेष आधृत होती थी। प्रायोगिक विज्ञान प्ररोहावस्था में होने के कारण विशेष योगदान दे पाता था, न उससे आहूत, निमंत्रित या अनायास रूप से सहायता ली जाती थी। काल क्रम से इदानींतन प्रायोगिक विज्ञान भी दर्शन के परिसर में स्वयं या आहूतरूप से आने के लिए उत्सुक और सचेष्ट है। इस संदर्भ में विज्ञान की अन्तिम सीमा-रेखा स्वीकारते हुए भी उसकी विधि, सहायता और प्रेरणा को पूरा महत्त्व देना चाहिए। यह यथार्थ है पहले **दर्शन विज्ञान** के लिए बेड़ियाँ गढ़ता था। पर अब बुद्धि के उत्खनन, सौधनिर्माण और व्यावहारिकता के प्रक्षालन यह सिद्ध करते आयेंगे कि **दोनों सहोदर** हैं और रहेंगे। यमज के रूप में उनकी शिक्षादीक्षा का विकास हो तो और भी उत्तम। दोनों को एक दूसरे का पूरक रखने की भावना भी बहुत सही है।

दर्शन को धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि जीवन मूल्यों के सन्दर्भ में प्रतिवद्धताओं तथा कुण्ठओं से पहले अपने ही पूर्ण रूप से निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना होगा। जीवन मूल्यों का गणितीकरण करना होगा। उसके चलनकलन राशिकलन को भीं समझना होगा। उसे विज्ञान पर हावी रहने की अपेक्षा विज्ञान का करावलंब प्राप्त करना होगा, सामंजस्य की भावना से शिशुकक्षा की पंक्तियाँ गुनगुनाते हुए कि—

> **पुरजे किसी मशीन के, कहने के हों साठ,**
> **बिगड़े उनमें एक तो, सबहों बारह बाट।**

और सन्तोष की बात है कि उपर्युक्त सतर्कता क्रियाशील भी है।

इसमें अर्थशास्त्र तथा उसका स्वावलंबन (authority) न्यूनतमापेक्षित (optimum) भावना का आयात करना होगा। उसकी संप्रेषणीयता पर कड़ी निगाह रखनी होगी।

ऐहिकानुष्मिक को घपड़सपड़ वाला असन्तुलित मिश्रण (mixture) बनाने की अपेक्षा एक सुष्ठु नवीन गुणधर्म वाला ओषधिधर्मी यौगिक (compound) बनाना होगा। इन सबके व्यवहार्य सिद्धान्त समाहार-जीवन पद्धति को मैंने **"औचित्य जीवन"** की संज्ञा दी है।[१]

विज्ञान उद्भव में दर्शन का सहयोगी या नियामक हो, दर्शन परिणति में विज्ञान का साम्यवादी शासक हो; नृशंस, बर्बर. स्वैरी सम्राट नहीं। वैसे यह भावना उत्तरोत्तर जड़ जमाती जा रही है।

दर्शन को विज्ञान सृष्टिब्रह्माण्ड, पदार्थ प्रतिपदार्थ, कालाकाल, उनके सभी पूर्वापर संबंधों, ऊर्णनाभ जालों, यौगपद्यों को शुद्ध शुद्ध नये ढंग से समझने की शक्ति देगा। इस अन्योन्याश्रयता से दोनों का माँगल्यविधायक विकास होगा।

दृश्य प्रमाजगत् के नाना भेदों के मिटाने में भी विज्ञान ने दर्शन की बड़ी ठोस सहायता की है—करता रहेगा। विज्ञान की दर्शन के लिए यह सहायता उत्तरोत्तर सत्ता (existence or non-existence) संहति (mass) पदार्थ-ऊर्जा और चिद् की सभी जातियों के अनिर्वचनीय सभी संकलन से प्राप्त अनुदान की भाँति बढ़ती जायेगी। विचारों, तरंगों तथा पदार्थों की एकता बनाकर विज्ञान ने दर्शन की प्रत्न तथा नव्य आविष्कृत, अनाविष्कृतः उच्चारित, अनुच्चारित सभी प्रस्थापना संभावना के एकान्तिक अभिसरण (convergence) की बात स्पष्ट कह दी है और उसके अतिश्लाघनीय एवं लोकसंग्रहात्मक ढंग से हमे लिए जा रहा है श्रेणी व्यवहार (Series behaviour) के एक एकान्तिक संकलन (∈) की ओर जिसके लिए एक प्राचीन अभिधान ईश्वर या ईश्वरत्व बोध व्यवहृत होता आया है। मोक्ष निर्वाण की इच्छा और विवेचन इसी संवेदन से निष्पन्न होने चाहिए।

दर्शन और विज्ञान के यौगपद्य, यमजता या संगीत वाली संगत ही सही, ने यह सिद्ध कर दिया है कि सत्ता (Power) और साधन (Armanent and resources) के समाजीकरण या साम्यवाद (पुराना पड़ता जा रहा बहुत से लोगों को चौंकाने वाला अभिधान) से ही विश्व शान्ति और लोकसंग्रह ही नहीं त्रिलोक संग्रह संभाव्य और उपलब्ध हो सकता।

मार्क्स (इस नाम से आंदोलित या उच्चारित होने की आवश्यकता नहीं), लेनिन तथा गाँधी आदि विचारकों ने साधनों के विकेन्द्रीकरण, समाजीकरण या

---

१. औचित्य जीवनम् डा० मायाप्रसाद त्रिपाठी।

साम्यवाद की बात तो कही। अपनी क्रान्तिदर्शिता द्वारा उसके विविध पहलुओं का साक्षात्कार तो किया, किन्तु वे सत्ता के समाजीकरण वा साम्यवाद का सम्यक् साक्षात्कार न कर सके, या कम से कम उसे उतना रेखांकित-संहितापाठप्लुत न कर पाये जितना अब के विश्व में अपरिहार्य हो गया है। देश काल दोनों में सत्ता के पूँजीवाद के उत्सादन या सत्ता के साम्यवाद की बात तो कदाचित् ही किसी वैज्ञानिक साधक, दार्शनिक चिन्तक या नेता की अपनी दूरी पकड़ में आ पाई हो। इसे भी दर्शन तथा विज्ञान के परिनिष्ठित (consummate) विकास एवं मानव मूल्यों की सम्यक् एवं जीवन्त प्रतिष्ठा के लिए गणित के सूत्रात्मक फलन की भाँति पूर्णतया कार्यान्वित करना होगा।

तभी दर्शन एवं विज्ञान अपने लक्ष्य को सिद्ध कर पाएँगे। अन्यथा दंभ, पाखंड, भय, संघर्ष, युद्धादि की स्थिति आती ही जायेगी। इस आलोक यात्रा में धर्म की परिचर्चा की विशेष आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह पीछे छूटता जा रहा है, रिटायर होता जा रहा है। उसकी बागडोर मोटे रूप से दर्शन और विज्ञान थामते जा रहे हैं। यह माना जा सकता है कि जैसे परामर्श तथा साधारण देख रेख-केवल उपस्थिति द्वारा अगोर के लिए परिवार में एक वृद्ध का होना हितावह होता है, समाज और मानवता के लिए अंतरिक्ष युग के आरम्भ में लोकव्याप्त सार्वजनिक अगोर आदि के लिए अब धर्म की ठीक वही स्थिति हो गई है।



भारतीय चिन्तन परम्परा में नये दर्शन की सम्भावना

आचार्य पं० रामप्रसाद त्रिपाठी

भारतीय चिन्तनपरम्परा दो धाराओं में प्रवाहित हुई है एक है **वेदमूलक धारा**, जिसमें न्याय वैशेषिक-सांख्य योग, पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त) की चिंतन परम्परायें हैं, दूसरी धारा वह है जो **वेदों को प्रमाण नहीं** मानती है—यह चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों की चिन्तन धारा है। इनमें चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष-दर्शी एवं भौतिकवादी कहलाता है। अन्य सभी दर्शन परलोकवादी तथा किसी परम सत्य के विवेचक हैं। प्राणियों के जन्ममरण का बन्धन ही दुःख की पराकाष्ठा है, इससे मुक्त होना ही मोक्ष प्राप्ति है, इसके लिये नानाविध उपाय इन दर्शनों ने बतायें है। इन उपायों में सत्यानुष्ठान, अहिंसा, अस्तेय, परोपकार आदि की प्रधानता दर्शायी गयी है, जैसे 'सत्येनोत्तमिता भूमिः, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्, मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि, मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' इत्यादि। साथ ही समता की दृष्टि का पर्याप्त समर्थन मिलता है, जैसे **'समानी व आकृतिः, समाना हृदयानि वः समानीप्रपा समो वोऽन्नभागः'** इत्यादि वेदवचन प्राणियों के अभिप्राय एवं हृदय की समानता तथा अन्न जल के समान वितरण पर प्रकाश दे रहे हैं। **'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'** इस गीता वाक्य से कुत्ते और चाण्डाल में भी समान दृष्टि करना पण्डित का लक्षण बताया गया है। इसी प्रकार **"मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्। आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः'**, इस वचन से भी यह बताया है कि परस्त्री में मातृदृष्टि, परद्रव्य में लोष्ठदृष्टि तथा सभी प्राणियों में आत्मदृष्टि करनेवाला पण्डित होता है।

सर्वंक्षणिकं क्षणिकम्, सर्वंदुःखं दुःखम् का चिंतन वैराग्य की पराकाष्ठा का सूचक है। ऐसे अनेक आदर्श वचनों के रहते हुए आज यह प्रश्न क्यों उठ रहा है कि भारतीय चिंतन परम्परा में नये दर्शन की सम्भावना की जाय। इसका कारण यह है कि ये आदर्श वाक्य भारतीय दर्शन ग्रन्थों में अवश्य हैं, पर इनके अनुसार अनुष्ठान की शून्य-कोटि तो कहना सम्भव नहीं, पर हाँ नगण्य वह अवश्य हो चुका है।

यह काल का प्रभाव ही मानना पड़ेगा. जैसा कि **श्रीमद्भागवत** के माहात्म्य में कहा है, "**एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत्सारनीरसम्**, यहाँ कलि का विशेषण है एकाकार, उसमें हेतुभूत दूसरा विशेषण है **सारवत्सारनीरसम्**" जिसका अर्थ है— **सारवतां सारोऽपि नीरसो यस्मात्**। सरवान् पदार्थों के सार नीरस हो गये जिससे ऐसा कलि सबको एकाकार अर्थात् एक रूप बना दिया है। सारांश सहित होकर सब समान हो चुके हैं। पर इस प्रकार की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। यदि यह कहा जाय कि अच्छा **पाश्चात्य वैदेशिकदर्शन** जो प्रायः विज्ञान की कसौटी पर भी कसा जा रहा है, उसी से भारतीय सामाजिक समस्या का समाधान हो जायगा, तो यह सर्वथा असम्भव है, क्योंकि वह दर्शन तर्क एवं बुद्धि को प्रधान सहयोगी मानकर चल रहा है। तर्क प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, एक बुद्धिमान् के तर्क को उससे विशिष्ट बुद्धिमान् खण्डित कर देता है। दूसरा सहयोगी बुद्धि भी सभी की प्रायः भिन्न-भिन्न एवं सीमित होती है, वह सत्त्व वस्तु की परीक्षा में पूर्ण समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि घट पट आदि के रूप को देखने में बुद्धि स्वतन्त्र नहीं है। अपितु नेत्र के परतन्त्र है, नेत्र की ही सहायता से वह रूप निश्चय कर सकेगी। ऐसे ही गन्ध के ग्रहण में वह घ्राणेन्द्रिय के परतन्त्र है, शब्द के ग्रहण में वह श्रोत्रेन्द्रिय के परतन्त्र है, अस्तु इसी प्रकार अलौकिक परमसत्य **आत्मा** या **परमात्मा धर्म** के निर्णय में भी उसे किसी अन्य सहयोगी की अपेक्षा करनी पड़ेगी, जिसको वैदिकदर्शन वेदवाक्य के रूप में तथा अन्य दर्शन अपने-अपने आदिम आचार्य वचन के रूप में कहेंगे। ऐसी आधार-शिला पाश्चात्यदर्शन को उपलब्ध नहीं है। अतः ऐहलौकिक जीवन को ही सुखी समृद्ध बनाने में प्रयत्नशील पाश्चात्यदर्शन भारत की उक्त समस्या का समाधान नहीं कर सकता।

ऐसी स्थिति में प्राचीन दर्शनों की शरण लेना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि वे परस्पर एक दूसरे से आहत-प्रत्याहत होकर मूर्च्छित से हो रहे हैं। तथा ये विभिन्न काल की विभिन्न परिस्थितियों में निर्मित किये गये, आज की स्थिति उनके समक्ष नहीं थी।

आज तो मानवता, दानवता का रूप ले बैठी है, अर्थपरायणता ही प्रधान लक्ष्य हो रही है। इस कारण से भाई-भाई में, पिता-पुत्र में गुरु-शिष्य आदि में भी सद्व्यवहार समाप्तप्राय है, समाज विश्रृङ्खल हो रहा है। इसके सुधार के लिये प्राचीन दर्शनों के पीछे कहे हुए कतिपय आदर्श वचनों का पुनरुद्धार करना होगा, अर्थात् स्वयं व्यक्तिगत आचरण में उन आदर्शों को लेते हुए कुटुम्ब, ग्राम, मण्डल एवं जनपद तक उसके प्रायोगिक रूप के लिये सतत प्रयत्नशील होना होगा। "वसुधैव

कुटुम्बकम्" की आदर्श भावना को जगाना पड़ेगा। व्यक्ति के सुधार से ही समाज सुधार सम्भव होगा।

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

की भावना के प्रोद्दिप्त होते ही समता, एकता, विश्वबन्धुत्व का आदर्श उपस्थित होने लगेगा।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

का आदर्श चरितार्थ होगा। '**मानव मानव एक समान**' इतने से सन्तोष न होकर प्राणी प्राणी एक समान का सिद्धान्त शिखरारूढ़ होगा। प्राणिमात्र में जब परमात्मा विराजमान हैं, तो सभी की समता का दर्शन उचित है। सभी प्राणियों में आत्मदृष्टि वेदान्तदर्शन का चरम लक्ष्य है। तथा सबमें परमात्मदृष्टि भक्तिदर्शन का परमलक्ष्य है। इस उच्चतम दृष्टिकोण को आगे रखकर चलने में व्यक्तिगत एवं समाजगत धार्मिक नियमों के पालन में भी कोई बाधा न होगी, उनमें बहुतर अंश आपद्धर्म के अन्तर्गत भी समाहित हो जायेंगे। क्योंकि भारतीयदर्शनों की दृष्टिधर्म धर्म को साथ लेकर चलती है। ये दर्शन परलोकवादी, जन्मान्तरवादी तथा मोक्ष-पथ प्रदर्शक हैं। इनके द्वारा धर्मकर्मविहीन केवल उच्चतम आदर्शवादी समाज की की स्थापना नहीं, अपितु धर्मकर्मगर्भित उच्च आदर्श परिपालक व्यक्ति की रचना के साथ वैसे समाज की रचना का लक्ष्य है।

यद्यपि धार्मिक नियमों का बन्धन क्लेशकर प्रतीत होता है, वह मानवता के अस्तित्व का संरक्षक है। जैसे एक घड़ा दूध से भर दीजिये, कपड़े से उसका मुँह बाँध कर गङ्गाजी की धारा में गिरा दीजिये, कुछ देर में कोई निमज्जनशील व्यक्ति उस घड़े को बाहर निकाले, दूध ज्यों का त्यों मिलेगा, क्योंकि घड़े का मुँह बँधा था, एक रत्ती जल उसमें नहीं गया। न तो उसका दूध ही बाहर आया। यदि मुख बिना बाँधे ही दूध भरा घड़ा जल में प्रक्षिप्त होता तो फ़िर दूध का मिलना सम्भव नहीं था। वह तो धारा में बनकर समुद्र में पहुंच जाता। इसी प्रकार धार्मिक नियमों का बन्धन मानवता का आस्तित्वाधायक ही है, वह है—सत्य का बन्धन, अहिंसा का बन्धन, परोपकार का बन्धन आदि। आज इन्हीं नियमों के बन्धन को शिथिल कर देने का फ़ल सबको भोगना ही पड़ रहा है।

इन नियमों में लाघव-गौरव की दृष्टि से कहीं-कहीं पर ये छोड़े भी जा सकते हैं। जैसे राजर्षिभरत किसी नदी के तट पर गायत्रीमन्त्र का जप कर रहे थे, उसी समय एक सिंह की गर्जना सुनकर भयभीत हरिणी नदी में कूद पड़ी, उसके गर्भ से शिशु गिर पड़ा, वह जल में छटपटाने लगा, उसे दुःख में देखकर राजर्षि भरत अपना जप छोड़ कर जल में से उस हरिण शिशु को निकाले तथा उसे सम्हाले। यहाँ पर उस समय गायत्री जप करना लघु नियम था, अतः लघुनियम का त्याग किया। इस प्रकार बलाबल का विचार करने से नियमों के पालन में कहीं बाधा न होगी। "तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" की भावना का उत्थान होगा।

इस प्रकार इस लघुकाय निबन्ध में भारतीयचिंतनपरम्परा में नये दर्शन की सम्भावना" विषय पर विचार करते हुए यह दर्शाया गया है कि प्राचीन दर्शनों के ही सिद्धान्तों के प्रायोगिक प्रचार प्रसार से समस्याओं का समाधान सम्भव है, उन्हीं दृष्टियों का ऊहापोह नूतन दृष्टान्तों से करना सम्भवतः नया दर्शन कहा जा सकता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा काश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

शान्तिः शान्तिः शान्तिः



भारतीयचिन्तनपरम्परायां नूतनदर्शनस्य सम्भावना ?

पण्डितराजराजेश्वरशास्त्रीद्राविड

नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना मतिः स्याच्छ्रुतधारिणी ।
संशयच्छेदनैः शिष्यहिताधानार्थदर्शनैः ॥
वर्ण्यते चित्तसन्तोषाद्विदग्धव्यवहारतः ॥

इति भावप्रकाशनोक्तपद्ये सन्मतिभावकार्यतया शिष्यहिताधानार्थदर्शनमुक्तं 'तदेव दर्शनपदार्थ इति मम मतम् । एतत्समानार्थकमेव--

"अपूर्वप्रतिभानं स्यान्मतिस्तां तु विभावयेत् ।
अन्वयव्यतिरेकोत्थैः प्रत्ययैः शास्त्रचिन्तनैः ॥
ऊहापोहैश्च विविधैरथ तामनुभावयेत् ।
सन्दंशचतुराद्यैश्च करैरुत्क्षेपणंभ्रुवोः ॥
नानाशास्त्रार्थविषयैः शिष्याणामुपदेशनैः ।
तर्काख्यौ प्रत्ययावूहापोहौ विधिनिषेधयोः ॥" इति—

सङ्गीतरत्नाकरवाक्यमस्ति । अतः एतादृशमतिभावो गुरुं विना न सम्भवतीत्यर्थाद्गुरुभक्तिः प्राप्ता ।

"विवेकश्रुतिसम्पत्तिगुरुभक्तितपस्वितासिद्धार्थं विवेकश्रुतिसम्पत्तिगुरुभक्तितपस्विताख्यव्रतचतुष्टयं यावज्जीवमहं करिष्ये ।" इति

सङ्कल्प एव धृतिभाव इति

"विवेकः श्रुतिसम्पत्तिर्गुरुभक्तिस्तपस्विता ।
एते विषयभावेन करणत्वेन च स्थिताः ॥

इष्टाधिकानामिष्टानां लाभस्तु विषयत्वतः ।
क्रीडाकरणभावेन विभावा यत्र सम्मता ।।"

इत्यादिसङ्गीतरत्नाकरवचनात्स्पष्टम् । तत्र विवेकस्यान्तर्भावो मतिभावे भवति । एवं "नीतिशास्त्रानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।" इति लक्षणानुसारेण भारतीयराजनीतिरेव तस्याः परिणतं रूपं भवितुमर्हति नान्यत् ।

"प्रत्यक्षपरोक्षानुमानलक्षणप्रमाणत्रयनिर्णीतेष्टसाधनताककर्मानुष्ठानं नीतिः" इति तल्लक्षणानुसारेण प्रमाणत्रयप्राप्तमिदं नीतितत्त्वं चार्वाक-बौद्धादीनामप्यवश्यं मान्यमस्ति ।

इमामेव सुमतिरूपां श्रुतिसम्पत्तिमाश्रित्य षड्दर्शनानि प्रवृत्तानि अतस्तान्येव सुमतिपदवाच्यानि भवितुमर्हन्ति ।

"मतिश्च मे सुमतिश्चमे" इति वेदभागस्य भाष्येणाप्येतस्यैवार्थस्य पुष्टिर्भवति । अतो गुरुपरम्पराप्राप्तवैदिकदर्शनानामुल्लंघनं कदापि हितावहं न भवेत् ।

"उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ।।
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ।।

इति राजधर्मप्रवर्तकस्य मनोरपि कथनमस्ति । अतो यदि मत्सम्मतिः पृच्छ्येत, तर्हि पूर्वोक्तधृतिभावे स्थिरीभूयास्तिकदर्शनानामनुसरणमेव मुख्यं कर्तव्यमस्ति । गुरुपरम्पराप्राप्तास्तिकदर्शनत्यागेन शिष्यहिताधानं न भवेदर्थाद्देशस्यापि हितं न भवेदति ।



परम्परायां दर्शनानां ध्येयं तत्स्वरूपञ्च

आचार्य पं० विश्वनाथशास्त्रीदातार

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्।
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ॥

इति पद्येनेशस्य नाम गृह्णन् दर्शनानां ध्येयं तत्स्वरूपं च देशकालौचित्यानुसारेण विवेचयितुमभिलषामि। तथाहि—

आपाततो विभिन्नं पन्थानं अनुसृत्य वेदार्थं साधयितुं शास्त्रसेवकांश्च वेदोदिते कर्मणि संप्रेरयितुं च प्रवृत्तानि सर्वाण्यपि दर्शनानि ईश्वरस्यापचितौ विश्राम्यन्ति तथा, यथा वारः इतस्ततोऽभिवृष्टाः भिन्नगुणाः नदीमुखेन वारिधिं प्राप्य विश्राम्यन्ति, इति हि दार्शनिकानां सिद्धान्तः। नह्येतन्मते दर्शनानि स्वतन्त्राणि भवन्ति। यतः तानि वेदं विमुखीकृत्य आत्मानं रक्षितुमसमर्थानि पुरुषसंबन्धेनाप्रामाण्यादिदोषशंकाकवलितत्वात्। एवंविधेषु दर्शनेषु कतिपयानि आत्मतत्वं बोधयितुं प्रवृत्तानि कतिचन तदितरं वेदार्थं साधयितुं प्रसृतानि। अपराणि पुनः वेदार्थस्य तत्साधनस्य याथार्थ्यं साधयितुं पूर्वपक्षमुखेन समुपस्थितानि वर्तन्ते, न्यायादीनि, राजशास्त्रादीनि, चार्वाकशास्त्रादीनि च इति। एतेषां दर्शनत्वं यथार्थतया तत्तद्वेदार्थदर्शनात्। तत्र वेदार्थस्य भेदेन दर्शनान्यपि आत्मतदितरान् अर्थात् अवस्थाभेदेन साधयन्ति। अवस्थाभेदश्च जगतो व्यवहारिकं सत्यत्वं पारमार्थिकं सत्यत्वं च। द्वितीयंशुद्धं निर्गुणं आनन्दात्मकं निर्धर्मकं ब्रह्म[1] नेह नानास्ति किंचन इत्यादिना श्रुत्यैव साधितत्वात्। प्रथमं व्यावहारिकं एतत् काले अबाधितं ब्रह्मप्रमातिरिक्तप्रमाऽबाध्यम्। अनयोः प्रथमे न्यायादीनि षट्शास्त्राणि अधिकृतानि भवन्ति। इतराणि तु व्यावहारिकसत्ये। तयोः ब्रह्मण एकत्वात्तस्य विविधता नास्ति, व्यावहारिके तु सा अस्ति। तद्यथा जगत्प्रतिष्ठा, आरोग्यं, पदार्थस्वरूपपरिचयः, अर्थस्यौचित्यानुसारेण विभजनादिसुप्रजोत्पत्तिरित्यादिः। सत्यप्येवं मतभेदे इदं सत् इदमसत् इति नात्र चिन्त्यम् उभयोरप्यवस्थाभेदेन अभीप्सितत्वात्। यद्यपि

१. ब्रह्मैकमद्वितीयं स्यान्नाना नेहास्ति किंचन।
मायैकं सर्वमज्ञानां भाति वेदान्तिनां मतम् ॥ शु० ४।४९ ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिदं राजर्षयो विदुः ॥ भग० इति ॥

न्यायादिषट्सु शास्त्रेष्वेव[१] दर्शनव्यवहारः क्लृप्तः तथापि सोऽयं व्यवहारः तस्मिन् समये अनुगुणो भवति यत्र राजा शासनेन वर्णाश्रमान् स्वे स्वे कर्मणि प्रेरयति, एतेपि एकान्तसेविनो वानप्रस्थादयः आत्मतत्त्वविचारे निमग्नाः आत्मानं कृतार्थयन्ति। किन्तु यदा राजा तथा नास्ति, तदा लोकस्य व्यावहारिकस्यापि स्थितये दर्शनानि अपेक्षन्ते, तानि राजशास्त्रादीनि। तथा चायं निष्कर्षः परमार्थसत्यत्वे व्यवस्थितस्य सूक्ष्ममितैरपरिचितचरं एकाग्रे मनसा निःशंकताया आत्मतत्वं येन द्वारेण वेदान् विचार्य दृश्यते, तत् दर्शनम् अन्यत् तदपि भवितुमर्हति यच् चक्षुःस्थानीयं व्यावहारिकं सूक्ष्ममपरैरपरिचितचरं ज्ञाप्यते तच्च। इत्थं च वा उभयविधसत्यभेदेन दर्शनमुभयविधं भवति। एतेषु यैः किल दर्शनत्वं नोक्तं न तदवोधविष्टाभिमम्। किन्तु पारमार्थितत्वदिदृक्षूणां सिद्धान्तानुसारेण वेदोपनिषत् प्रामाण्यानुरोधात् तैर्मनीषिभिः जगतः त्रिकालाबाध्यत्वं न स्वीक्रियते, अतः जगदन्तःपातीनि तत्तत्तत्वप्रतिपादकानि शास्त्राणि न दर्शनेषु संगृह्यन्ते इति कृत्वा ब्रह्मतत्वविवेकार्थं प्रवृत्तानि शास्त्राणि साक्षात्परंपरया (अवच्छेदक) वा परमार्थिकवस्तुप्रतिपादिकान्येव संकोच्य दर्शनभावेन संगृहीतानिवर्तन्ते। तानि च षडितिपूर्वमुक्तान्येव। राजाभावे न्यायाद्यतिरिक्तशास्त्राणां वर्णाश्रमिभिरपि चिन्तनीयत्वात् दर्शनत्वेन संग्रह कृतः। तस्य कारणं कामन्दकीयं वचः[२]।

अथैतदनुरोधेन कस्य वेदार्थस्य संस्थापनाय कीदृशं शास्त्रं प्रवृत्तमित्युच्यते वेदेन स्वाभीप्सितराजस्य स्वरूपं यादृशं प्रदर्शयितुमभिधीयते तादृशं जनपदे स्तेनाभावः पुंश्चलीनामभावः[३] इति। तदिदं ध्येयं साधयितुं प्रयतते कश्चिन्मनुष्यः तदा तदितिकर्तव्यता परिचयाय सात्विकतामैत्री निरभिमानितादिप्रकाशकं संघकारकं मित्रभावेन परस्परसाहाय्यसंपादकं राजशास्त्रं प्रवृत्तं भवति। अत्र सर्वाणि विधानानि प्रत्यक्षपरोक्षागमसिद्धहितसाधनानि वर्तन्ते सोयं नियमः दृष्टशास्त्रेषु सर्वेष्वप्यनुसन्धेयः। अथ व्याकरणमधिकृत्योच्यते। 'नापभाषितवै, साधून प्रयुंजीत, नामरूपे व्याकरवाणि। इत्युक्तं श्रुत्या। ततः के साधवः इत्याकांक्षोदेति तन्निरासाय व्याकरणं प्रकाशितं पाणिनिना। तत्तु

---

१. दर्शनं शास्त्रमिति मेदिनि—७२

शास्त्रं तु षड्विधम्-वैशेषिक-न्याय-मीमांसा-सांख्यपातञ्जलवेदान्तरूपम्। एतानि तत्त्वज्ञानार्थं वेदान् विचार्य कणाद-गौतम-जैमिनि-पतंजलि-वेदव्यासाख्यैः मुनिषट्कैः कृतानि-शब्दकल्पद्रुम।

२. दर्शनात्तस्य सुदृशो विद्यानां पारदृश्वनः।
राजविद्याप्रियतया संक्षिप्तग्रन्थमर्थवत्॥

३. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

वेदांगम्। एवमन्यानि कालापादीन्यपि सन्तीत्यन्यदेतत्। यदीदं न भवेत् तर्हि कौटिल्याभिमतस्य मन्त्रिपुरोहितसखे शब्दस्यार्थो[1] ऽस्माभिः कथमवगतः स्यात्। वेदाभिमतानुस्यूतार्थनिरूपकत्वादिदं **व्याकरणमपि** दर्शनमेव।

सुप्रजाजननविषयेऽभिधीयते **'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायता'** मित्याशीर्वचनेन ब्रह्मवर्चस्विनं विप्रं राजन्यं शूरं प्रस्तौति। तत्सिद्धिः सुप्रजाजनेन संभवति। तदेतन्निरूपयितुं सर्वांगोपसंहारो यथा भवेत् तत् कामसूत्रं निर्मितवान् वात्स्यायनः। तत् यथार्थनिरूपणात् चक्षुष्ट्वात् दर्शनमेव।

वार्ताशास्त्रस्यापि दर्शनत्वं पूर्वोक्तयुक्तयेव वेदार्थसाधनाय प्रवृत्तं सत् पूर्वत एव सफलं दृश्यते। एतत्साध्योऽर्थः प्रचुरःपुष्टान्नसमृद्धिः। साच वेदेनोदिता राज्यहिताय। तद्यथा यन्तु नदयो वर्षन्तु पर्जन्याः सुपिप्पला ओषधयः भवन्तु इत्यादि। सुभिक्षं पौष्टिकं अन्नं च वेदाभीप्सितं देवतायै हवनीयं अन्नादिवार्ताशास्त्रमार्गेण संपादितायां कृष्यामेव संभवतीति। अतः यथार्थचक्षुष्ट्वात् वार्ताशास्त्रमपि दर्शनमेव।

पश्येम शरदं शतं, जीवेम शरदां शतं इति मन्त्रैः सूर्यः संस्तूयते मध्यान्हसन्ध्यासमये तदुपासकैः। तदैवोदेतीयमाकांक्षापि सहैव कथं पश्येयम्, कथं वा जीवेयमिति। एतच्छमनाय **आयुर्वेदशास्त्रं** प्रवृत्तं आयुरारोग्यसमृद्धिकरं सर्वेषामुपकारायाभूत् इति आयुर्वेदशास्त्रमपि रोगिणं आरोग्यपथप्रदर्शकत्वात् दर्शनमुच्यते।

अतीन्द्रियादृष्टार्थप्रतिपादकमपि **धर्मशास्त्रं** धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा इत्यादिश्रुत्यर्थं साधयितुं प्रवृत्तं धर्मोपासकेषु स्थायिप्रेम्णः असूयामात्सर्येर्ष्यादिदोषरहितस्य समृद्धये समभूत्। यदीदं धर्मशास्त्रं न भवेत् तर्हि परलोकं कः परिचाययेत् इति तदपि स्वांशे च चक्षुषः कार्यं करोति अतो धर्मशास्त्रमपि दर्शनमेव।

या किलेमनुभूतिः यत् **न्यायाद्यतिरिक्तशास्त्रेषु** पूर्वजैः **दर्शनत्वं** न व्यवहृतमिति यतः **कौटिल्यप्रणीते**ऽर्थशास्त्रे दर्शनत्वं **कामन्दके**नोक्तम्[2]—

यदि शास्त्रं चक्षुः उपेक्षितं स्यात् तर्हि तद्धीनो मनुजोऽज्ञः मन्दान्धः किं किं न कुर्यात् सांप्रतम्। अतोप्येतद्दोषनिरासाय शास्त्रं चक्षुः स्थानीयं दर्शनं भूषणं मन्तव्यम् इत्येवं शास्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकभेदेन दर्शनत्वं द्विविधम् इति स्थितम्।

---

१. मन्त्रिपुरोहितयोः सखेति षष्ठीसमासेनात्मनोऽपि तपोराधिक्यमाह। अन्यथा तौ सखायावस्येति मन्त्रिपुरोहितसखा इति स्यात्। राजाहसखिभ्यष्टच् (६।४।९१) इति तत्पुरुषमासान्तस्य विहितत्वात्। इति

२. अशास्त्रचक्षुर्नृपतिरन्ध इत्यभिधीयते।
वरमन्धो न चक्षुष्मान् मदादाक्षिप्रसत्पथः।

अत्र केचित् प्रत्यवतिष्ठन्ते—

पारमार्थिकात्मतत्वदर्शनाय प्रवृत्तेषु शास्त्रेषु न्यायमीमांसायोगानां दर्शनत्वं नास्ति आत्मदर्शने तेषामनुपयोगित्वात्। इति।

तत्रोच्यते—श्रुत्या आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तम्, किन्तु घटादिवदात्मतत्त्वं न दृश्यं भूत्वा सुकरं यत् सर्वेपि चक्षुषा सारल्येन पश्येयुः। अत आत्मदर्शनं प्रति श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः, इति श्रुतिरभिदधाति। तत्र आत्मा तदा श्रुत्या श्रुतो भवति, यदाऽसौ सम्यक्तया श्रुतितोऽवगम्येत। तत्र विना मीमांसां कर्मकाण्डभेदेन विभिन्नं पन्थानमभिदधती परस्परं विरोधिनोऽर्थान् च आपाततः बोधयन्ती च हा हन्त! कथमिवात्मानं बोधयितुं समर्था भवेत्? अतो महावाक्यार्थनिर्णयाय मीमांसा आत्मसम्बन्धिनीमाशंकामपसार्य तद्दर्शने साधनं भवति। सत्यप्येवं वेदवाक्यानां समन्वये प्रवृत्ता मीमांसा तत्रैव विश्राम्यति इति, यद्याग्रहः तर्हि वेदान्तोपि महावाक्यतात्पर्य-निर्णयं कृत्वाऽत्रैव विश्राम्यन्न तु कामं किं तस्या आत्मदर्शनत्वेन। तत् प्रतिवेदान्त-स्यान्यथासिद्धत्वस्य दुरपन्हवत्वात्। दर्शनन्तु एकाग्रताभूमिकायां स्थितेन मनसैव संभवति। अतो वेदान्तस्यापि दर्शनत्वं आत्मनो यथार्थज्ञापनाय प्रवृत्तत्वाद्वेदान्तस्य इति चेत् किमपराद्धं पूर्वमीमांसयापि, तस्यापि मीमांसात्वात्। वेदान्तेषु तात्पर्य-ग्राहकानि यानि प्रमाणानि उपक्रमादीन्युक्तानि तान्येव पूर्वमीमांसायामपि स्फुटीकृतानि। अतो पूर्वमीमांसाया अपि वेदान्तवत् दर्शनत्वं क्लृप्तमेव।

अथ न्यायस्य दर्शनत्वविषये उच्यते।

वेदान्तेन श्रुतेन ब्रह्मविचारे करणीये अध्यात्मज्ञानं आत्मानात्मविवेककर्तव्यः इति उक्तम् पूज्याचार्यपादैः। सहैव तेन इहामुत्रार्थफलभोगः समादिसाधनसंपत्तिः मुमुक्षुत्वं चापेक्षते इत्यपि च निर्णीतं तत्र तत्र। एतच्चतुष्टये विवेकः आत्मा इतरभिन्नः विजातीयस्वभावात् इत्यादिरीत्या अनुमितिराप्तव्या भवति। सेयमनुमितिः पुनरपि शंकोदये अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दिता भवेत्। मननं चानुमाने तर्कपद्धत्या निर्दोषत्वेन साधितमनुमाने अन्तर्भवति इति अनुमानप्रयोगार्थं प्रवृत्तं न्यायशास्त्रं कथमिव दर्शनं न भवेत्? एवमेव शुंगेनात्मानमन्विच्छेत् इत्यादौ आत्मज्ञानं प्रति न्यायस्याङ्गत्वं तृतीयया विदधतीं श्रुतिं कथं अप्रमाणत्वेन को वा मन्येत। अतो न्यायस्यापि दर्शनत्वं साधु।

योगोऽपि दर्शनान्नातिरिच्यते। चित्तवृत्तिनिरोधमन्तरा मनसः आत्मदर्शनं प्रति अहेतुत्वात्। अतो मनोनिष्ठकारणतावच्छेदकं चित्तवृत्तिनिरोधोऽपि गोनिष्ठैका-हायनीत्वादिवत् कारणमेव। यद्यपि विना प्रयत्नं जन्मसंबन्धमात्रादेव शुकादेः ध्यानेन आत्मदर्शनं क्लृप्तं तथापि ध्यानार्थः आदौ जन्मान्तरे एव शुकदेवादिना ध्यातं आत्म-

तत्वमस्तीति योगस्य कारणत्वमव्यावहतमेव। अथवा तृणारणिमणिन्यायेन प्रयत्नसाचिव्येन येन योग आत्मदर्शनार्थं साधितः तत्र तस्य कारणत्वं निर्बाधमेव।

किं च पारमार्थिकसत्यत्वदृष्ट्या न्यायादीनां षण्णां दर्शनत्वं प्राचीनैः यथा साधितं तथा तत्र तत्र प्रतिपादितस्यार्थस्य याथार्थ्यसंपादनाय अपेक्षिताः पूर्वपक्षा यत्र तानि नास्तिकशास्त्राण्यपि दर्शनान्येव। आन्वीक्षिकीत्वस्यैव लोकायते मन्तव्यानि। व्यावहारिकपारमार्थिकसत्यत्वानुरोधेन शास्त्राणां दर्शनत्वं स्वीक्रियते। प्रातिभासिक-सत्यत्वानुरोधेन तु प्रतिभातं उपादानसमसत्ताकं व्यावहारिककाले बाधितत्वात्, असत्त्वात्, अनीतिमत्वात्, अप्रतिष्ठितत्वात्, दुःखसाधनत्वात् दर्शनेषु न संगृह्यते। इत्येवं रीत्या दोषाणां प्रातिभासिककारणानां दर्शनत्वं नानुमतम्।

अतो व्यावहारिककालेऽपि जीवनस्य सार्थक्याय यथार्थलाभाय च वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्। तेनैव च ईशस्य पूजा संसेव्यताम्। तदैव च इहलोके परत्र च शम्। इति।



'नये दर्शनों की संभावनायें' विषयक गोष्ठी का संक्षिप्त विवरण

प्रो० करुणापतित्रिपाठी (कुलपति सं० सं० वि० वि०) की अध्यक्षता में **तुलनात्मकदर्शनविभाग** के द्वारा आयोजित 'नये दर्शनों की संभावनायें' विषयक **'धर्म-दर्शनसंस्कृतिसमिति'** के **तत्त्वावधान में** त्रिदिवसीय (२६-३-७६ से ३१-३-७६) संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए प्रो० **राजारामशास्त्री** (कुलपति—काशीविद्यापीठ) कहा—आज दर्शन प्राच्य एव पाश्चात्यदर्शन के रूप में प्रसिद्ध है। प्राच्यदर्शन आन्तरिक सत्यों से तथा पाश्चात्यदर्शन वाह्य सत्यों से प्रारम्भ होता है दोनों के इस आरम्भ बिन्दु के भेद से अनेक भेद हो जाते हैं। चेतना एक है वह अनेक विध जड़जगत् में एकरूपता का खोज करती है। आत्म प्रत्यक्ष से ज्ञेय चेतना में अनेकता के लिये अवकाश नहीं है, अतः उससे निर्मित एक ही दर्शन होना चाहिए। अनुभव के एक होने पर भी भाषा के माध्यम से उसको अभिव्यक्त करने पर दार्शनिक भेद लगने लगते हैं। युगानुरूप अभिव्यक्ति के कारण भी भेद होता है, कभी प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग होता है तो कभी चित्रात्मक। प्रवृति के क्षेत्र में आने पर अनेकता के लिए द्वार खुल जाते हैं इसलिए नये-नये दर्शन बनते जाते हैं।

पश्चिम के दर्शन आत्मदर्शन नहीं है प्रत्युत नियम निर्धारण मात्र हैं। दैशिक, कालिक परिवर्तनों के कारण नियमनिर्धारण वाले दर्शन बदलते ही रहेंगे। बाद के नियम, प्रथम नियम से अधिक व्यापक होते हैं क्योंकि वे वाद की समस्याओं, परिस्थितियों आदि के भी संग्राहक होते हैं। ऐसी स्थिति में नयी दृष्टि पैदा की जा सकती है। जो अधिक व्यापक तथा समन्वय कारिणी हो। भारत में नवीन दर्शन पैदा न होने का कारण कालिक परिवर्तनों को महत्त्व न देना है। कालिक परिवर्तनों को ध्यान में रखकर यदि परिवर्तित जगत् की समस्याओं के समाधान के लिए दर्शन पैदा हो तो बहुत हीं अच्छा होगा, आशा है पण्डित वर्ग इस कार्य में आगे बढ़ें।

उद्घाटन भाषण पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय** ने कहा—शास्त्री जी परिवर्तित परिस्थितिओं में चिन्तन के परिवर्तन की बात करते

हैं पर भारतीय दार्शनिक तो शान्तिपूर्वक जीवन यापन के लिए प्रयत्नशील बनकर शान्ति को ही लक्ष्य मान लेते हैं इस सन्दर्भ में यहाँ का सम्प्रदायिक दार्शनिक मात्र अपने सांप्रदायिक विचारों को दुहराता भर है वह समस्याओं के समाधान की चिंता नहीं करता। इसका प्रयत्न होना चाहिए।

प्रो० रमाकन्तत्रिपाठी (अध्यक्ष, दर्शनविभाग, का० हि० वि० वि०) ने कहा—पाश्चात्य देशों में दर्शन की विधि के विषय में उद्देश्य एवं उपयोगिता के विषय में वैचारिक उथल-पुथल है, व्यक्तिवाद, अनुभववाद, वैचारिक प्रयोगवाद, किसी निश्चित लक्ष्य का अभाव, जीवन के विषय में दिशाहीनता आदि पाश्चात्य दार्शनिक जगत् के सामान्य लक्षण हैं। इसके विपरीत भारतीय दार्शनिकों में अज्ञान दूर करने के लिए ज्ञान की खोज जारी है। इस खोज में न केवल जागतिक अनुभव प्रत्युत आत्पपुरुष के अनुभव का भी योगदान है यह उछलकूद नहीं, प्रत्युत जीवन की गम्भीर समस्या है जिसकी खोज के बिना मनुष्य को चैन नहीं है।

पाश्चात्यदार्शनिक वर्तमान जीवन की समस्याओं तक सीमित रहते हैं जब कि भारतीय के लिए जीवनोपरान्त मनुष्य का क्या होता है? यह भी चिंतन का क्षेत्र है, इसे पाश्चात्र लोग धर्म मानते हैं जबकि भारतीय के लिए वह दर्शन भी है। पाश्चात्यविचारक दर्शन को विचार पर अवलम्बित मानते हैं जो विचार में नहीं आता वह दर्शन नहीं है, भारतीय भी विचार को मूल्य देते हैं। पर भारतीय विचार साधन बुद्धि के संस्कारों को परिष्कृत कर शुद्ध बुद्धि के द्वारा सकल अनुभवों का विश्लेषण करते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक के विचार क्षेत्र में सुषुप्ति का अनुभव नहीं आता है मात्र जाग्रत का अनुभव ही है। पाश्चात्यदर्शन में ज्ञान की सारी समस्याओं का हल विज्ञान करता है दर्शन केवल उपलब्ध ज्ञान में समन्वय करता है तथा जीवन की दिशा निश्चित करता है। मनुष्य जीवन की समस्याओं का आत्यन्तिक हल कैसे हो इसे आज का दार्शनिक नहीं करता। अतः आज की सार्वभौम समस्याओं के साथ उनके आत्यन्तिक निदान का दर्शन बनना चाहिए।

डा० हरिश्चन्द्रश्रीवास्तव (समाजशास्त्रविभाग, का० हि० वि० वि०) ने कहा--जिन्दगी को कैसे बर्दास्त किया जाय? इसका विश्लेषण दर्शन करता है। दर्शनों में तुलनात्मक दृष्टि महत्त्वपूर्ण है पर सत्य क्या है? इसकी व्याख्या बहुत कठिन है। वह विचार से परे की चीज जैसी है। अतएव सभी दर्शनों के सत्य भिन्न-भिन्न हैं। उसको विचारों में बांधना कठिन है भारतीयचिंतन के कुछ Arche-types होकर

उसमें विचारों को बांध देते हैं अतएव वह हमारे चिंतन को साँचे में मात्र ढाल देते हैं।

डा० रमाकान्त त्रिपाठी ने कहा पाश्चात्यदर्शन मोटे तौर पर विचारों का एक महल खड़ा करता है। जब कि भारतीयदर्शन विचारों से परे सत्य को प्रस्फुटित करता है और वह उसका लक्ष्य है।

डा० रामशङ्कर मिश्र (का० हि० वि० वि०) ने कहा—प्लेटो के अनुसार दर्शन पूर्वाग्रहों से निरपेक्ष दृष्टि रखकर अन्वेषण मात्र है। यद्यपि आज के दार्शनिक इसे नहीं मानते, फिर भी यह विचार वेदान्तदर्शन के समीप है। प्लेटो कोई आधार ले कर नहीं चलते जबकि वेदान्त आधार ले कर चलता है। किंतु प्लेटो की बुद्धि का अभिप्राय उच्चकोटि की बुद्धि है और वह इस अर्थ में वेदान्त से भिन्न है।

डा० हर्षनारायण (का० हि० वि० वि०) ने कहा—दर्शन एक सिस्टम है समग्र विचारधारा है जो जीवन के सभी सांगोपांग से सम्बन्धित है अतः इसकी संक्षेप व्याख्या सम्भव नहीं है। दर्शन का जन्म आश्चर्य में होता है प्लेटो तथा अरस्तू being qua being का अध्ययन करते हैं अतः कादाचित्क के पीछे अकादाचित्क की तलाश दर्शन है।

परम्परावादी विद्वान **श्री केदारनाथ ओझा** (वाराणसी) ने कहा—प्रमाण के साथ प्रमेय का निरूपण भारतीय दृष्टि से दर्शन है। पाश्चात्य में वस्तु और प्रमाण का विवेचन पृथक्-पृथक् है। सत्य चूँकि कालान्तर में असत्य सिद्ध हो जाता है अतः दर्शन का कार्य निष्कर्ष की प्राप्ति के साथ सम्बन्ध विचार का है, विचार का निष्कर्ष विचारणीय विषय के विचार से भिन्न होता है।

समाजवादी चिन्तक तथा प्रसिद्ध विचारक **प्रो० श्रीकृष्णनाथ** (काशी विद्यापीठ) ने कहा—दृष्टिओं को छोड़ कर जैसा है वैसा ही भीतर बाहर देखना दर्शन है। मार्क्स ने दर्शन का प्रयोजन जगत में परिवर्तन माना है पर यहाँ विचार करना चाहिए कि क्या दर्शन का प्रयोजन दर्शन के अन्दर है या बाह्य जगत् में भी है। कुछ लोग बाह्य जगत् में भी मानते हैं, कुछ दर्शन का प्रयोजन दर्शन में ही देखते हैं।

श्री सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी (सं० सं० वि० वि०) ने कहा—दृश्य, द्रष्टा के सम्बन्ध के ज्ञान के साथ सम्बन्ध का विश्लेषण दर्शन है। बीच में हस्तक्षेप करते हुए **प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी** (का० हि० वि० वि०) ने कहा—दर्शनों में भेद है

भारतीयदर्शन निवृत्तिपरक तथा पाश्चात्य प्रवृत्तिपरक हैं पर विचारणीय यह है कि क्या निवृत्ति जो निःश्रेयस है वह प्राप्तव्य है या प्रेय को प्राप्तव्य स्वीकार किया जाय।

तुलसी शोध संस्थान के निदेशक **डा० शम्भुनाथ सिंह** (वाराणसी) ने कहा दिव्यदृष्टि दर्शन है पूर्ण मानव बनना दर्शन का लक्ष्य है। जगत के साथ तादात्म्य स्थापित करके सत्य को मानव हित में प्रयुक्त करना दर्शन है जो मानव कल्याण का साधक बनता है वह सच्चा दार्शनिक है।

बीच में **डा० त्रिपाठी** द्वारा उठाये गये प्रश्न पर हस्तक्षेप करते हुए प्रो० बदरीनाथ शुक्ल ने कहा—विचारणीय प्रश्न है कि दर्शन का सम्बन्ध श्रेय से या प्रेय से या दोनों से है। क्या प्रेय से भी दर्शन का सम्बन्ध बन सकता है इस पर विचार किया जाय।

पंडित विश्वनाथ शास्त्री दातार ने कहा—कुपथ में न जाकर मानव कल्याण सम्पादित करना दर्शन है। यही हमारा आदर्श रहा है कहा भी है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निः ना विद्वान् स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

इस प्रकार आदर्शों के आधार पर अनुमेय तत्त्व का निरूपण दर्शन है।

प्रो० रमेशचन्द्रतिवारी (काशी विद्यापीठ) ने कहा—क्या इस समय भारत में दर्शन नई दिशा दे सकता है? दर्शन यदि देखना है तो यह समझने की जरूरत है कि यह देखना किस प्रकार का है? यदि मानव कल्याण के लिए देखना है तो भारतीय दर्शन के आत्मकेन्द्रित भावना को समष्टिकेन्द्रित करना आवश्यक है।

पं० लक्ष्मण त्रिवेदी (सं० सं० वि० वि०) ने कहा—भारतीयशास्त्रों में धर्माचरण के लिए मृत्यु के द्वारा ले जाये जाते हुए मुख में ध्यान भावना रखते हुए विवेचन करना आवश्यक माना गया है। कहा भी है।

'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्'। इसीलिए यहां का दार्शनिक लोक हित का सम्पादन मृत्युगृहीत केश की स्थिति में सही रूप से करता था। अतएव सत्य दर्शन बनता है।

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय (सं० सं० वि० वि०) ने कहा—मानवकल्याण परक दर्शन के विनियोग का अर्थ है मानव केन्द्रित समस्त हित, विचार, मनुष्येतर की

ओर जाना आवश्यक नहीं है इसी प्रकार दैवी धर्म भी होना आवश्यक नहीं है। यदि मानव कल्याण ही दर्शन का उद्देश्य है तो इसमें अभ्युदय, निःश्रेयस मोक्ष तथा काम सब ही मानवीय कल्याण के विषय हैं और इनका विश्लेषण दर्शन के क्षेत्र में आना चाहिए।

डा० रामशंकर भट्टाचार्य (काशी) ने कहा – भारतीयदर्शन मात्र निवृत्ति-परक नहीं, लोकोपकारपरक भी है इसीलिए दर्शनों से लौकिक विद्याओं का विकास हुआ। महानदार्शनिक जनक ने भी वाणिज्य नियम बताये हैं। चाणक्य कृषि, गोरक्षा-वाणिज्य को वार्ताशास्त्र में रखकर निःश्रेयसपरक विधान बनाने हैं।

डा० भट्टाचार्य के वक्तव्य पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए **प्रो. रमाकान्त त्रिपाठी** ने कहा—निवृत्तिपरक दर्शन में भी मुमुक्षु जिस जीवन प्रणाली को स्वीकार करता है। उससे स्वभावतः लोककल्याण होता है। अतः मोक्षोन्मुख प्रयत्न लोककल्याण-कारी है।

प्रो० बदरीनाथशुक्ल (सं० सं० वि० वि०) ने कहा--भारतीयदर्शन वर्तमान में दार्शनिक स्वरूप के विवेचन से हट गया है पाश्चात्यदर्शन के विद्वान् कृपया यह बतायें कि हमारे दर्शन की त्रुटियाँ क्या हैं।

महान दार्शनिक **गंगेशोपध्याय** ने मानव कल्याण के लिए दुःख निमग्न मनुष्य के उद्धार के लिए आन्विक्षिकी का उपदेश करने की बात कही है। संसार में सुखी रहना हर एक चाहता है। सबके लिए श्रेयस एवं प्रेयस की सुविधायें उपलब्ध हो, यह दर्शन का क्यों न उद्देश्य माना जाय। कहा जाता है कि भारतीयदर्शन में पुनर्जन्म, ईश्वर आदि के संप्रत्यय इसके विकास को पंगु कर देते हैं। पाश्चात्य विचारधारा के भारतीय विचारकों के साथ बैठ कर इन संप्रत्ययों पर सोचना चाहिए। इस लक्ष्य का अधिगम यदि आज तक के चिंतन से नहीं हो सका तो कल से कैसे विचार किया जाय कि यह लक्ष्य प्राप्त हो सके।

प्रो० डा० देवराज (का० हि० वि० वि०) ने कहा नवीन दर्शन मात्र नवीनता के लिये न स्वीकार किया जाय, प्रत्युत आवश्यकता एव परिस्थितियों के कारण नयें दर्शन बनते हैं। वर्तमान युग में विज्ञान की प्रगति ने कुछ ऐसा विश्वास पैदा कर दिया है कि हम समझने लगे हैं कि जो पहले नहीं था वह भी किया जा सकता है। विज्ञान ने ईश्वर में धर्म ग्रन्थों की अनादिता में, संदेह पैदा किया है अतः हमारा दायित्व बढ़ा है। प्राचीन विचारक कर्मफल, दैवविधान, आदि समझ कर लोगों

को दुःखी बने रहने का कारण प्रस्तुत करते थे पर आज योग्यवस्तुओं की सुलभ उपलब्धि से विज्ञान ने बहुत-सी समस्याओं का समाधान किया है। इस प्रकार नया कर गुजरने का साहस नये विचार दर्शन को भी पैदा कर सकता है।

बीच में स्वतन्त्र चिंतन पर हस्तक्षेप करते हुए **डा० रमाकान्त त्रिपाठी** ने कहा--राग द्वेष मुक्त होकर सत्यान्वेषण आवश्यक है वह धर्म के मार्ग से पहले होता था जिसका अर्थ शाश्वत मूल्यों का आविर्भाव था। इसमें दैनन्दिन जीवन की समस्याओं का चिंतन नहीं होता था।

प्रो० कृष्णनाथ ने कहा – वर्णाश्रमधर्म पर आधारित दर्शन से भिन्न आज का दर्शन बनेगा, कर्मफल एवं जातिव्यवस्था आज मूल्यहीन हो गये है। विश्व में शस्त्रीकरण के कारण अहिंसा का मूल्य बढ़ा है, स्वतन्त्रता समृद्धि, शान्ति के लिये श्रेय और प्रेय पर विचारना होगा। आज अध्यात्म और व्यवहार की खाई बढ़ी है। इसमें प्रमाणभूत शास्त्र के दबदबे को तोड़ना पड़ेगा। आग्रहरहित चिन्तन प्रस्तुत करना पड़ेगा। परीक्षण से आग्रह टूटेंगे।

प्रो० करुणापतित्रिपाठी (कुलपति, सं. सं. वि. वि.) ने कहा – सम्पूर्णानन्द-जी ने दर्शन, विज्ञान तथा जीवन में की समन्वय स्थापना की बात कही थी। विज्ञान से अन्वेषित सत्यों का प्राचीन चिन्तन से समाधान हो सकता है या नहीं। यदि नहीं हो सकता है तो उनके परिग्राहक की नवीन परम्परा में विकास होना चाहिए।

प्रो० बदरीनाथशुक्ल ने कहा–दर्शनों ने जिस जीवन का प्रतिपादन किया है वह हमारे व्यवहारमें नहीं है। विषमता हमारे चिन्तन में नहीं दिखती है पौराणिक आख्यानों में धर्म शास्त्रों में विषमता अवश्य है। यह विचारणीय है कि दर्शन का काम समत्व की प्रतिष्ठा करना है पर समाज में विषमता है इसके विरुद्ध दार्शनिक लोग क्यों नहीं बोलते हैं। क्या हमारे चिन्तन की यह कोई त्रुटि तो नहीं है।

प्रो० रमाकान्तत्रिपाठी ने कहा–सामाजिक विषमता प्रवृति मार्ग में दीख पड़ती है निवृत्ति मार्ग में यह सब टाल दिया जाता है। हमको प्राचीन जीवनपद्धति अपनानी चाहिए ताकि समस्याओं का समाधान हो सके।

प्रो० देवराज (का० हि० वि० वि०) ने कहा—प्रगतिशील समाज की संरचना में हमारे दार्शनिकों को सहायता करनी चाहिए। दर्शन समग्र मानव मात्र के लिए यदि है तो उसके सिद्धान्त सब के लिए प्रायोगिक भी बनना चाहिए। ईश्वर अब काम नहीं

दे सकता है अतः हमको अपनी जिम्मेवारी लेकर समाजहित करने की बात करनी चाहिए।

तिब्बतीसंस्थान के प्राचार्य **प्रो० एस. रिम्पोछे** ने कहा--सारे संसार में अपर्याप्तता की अनुभूति हो रही है और इस सम्बन्ध में भारतीयदर्शन से आशा भरी निगाहें लगायी गयी हैं, पर यहाँ के माहौल में मेरी समझ में यह बात नहीं आ रही है कि आपलोग किस नये दर्शन की खोज में लगे हुए हैं। आज के वैज्ञानिक भारतीय योग, ध्यान तथा साधनाओं का वैज्ञानिक परीक्षण कर रहे हैं और इसकी सफल उपलब्धियों से पूर्ण रूप में संतुष्ट हैं। इसी प्रकार तन्त्र द्वारा वर्णित फिजिकल संरचना का भी वैज्ञानिक अध्ययन हो रहा है। कुछ ही दिनों में उसके प्रतिफल आयेंगे तब नये दर्शन या धर्म की जरूरत की सम्भवतः उतनी आवश्यकता नहीं महसूस होगी। मेरा तो विचार है कि भारतीय प्राचीन धर्म एवं दर्शन अपने में परिपूर्ण है मात्र उन विचारों को जीवन में लाने की जरूरत है। दर्शन यद्यपि अपने में न तो पुरानी चीज की वकालत करता है और न नये विचारों को रोकता है अतः नयापन की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता है।

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय ने कहा–मैं भी ऐसा मानता हूँ, भारतीय दर्शनों का इतिहास अभी लिखा नहीं गया। भारतीय दर्शन मानव स्वयंभू ज्ञान के द्वारा स्वयंभू ऋषियों के द्वारा प्रसूत मान लिये गये हैं। मैं समझता हूँ, ऐसा इतिहास के संदर्भ में कथमपि नहीं है। सारे सामाजिक परिवर्तनों के इतिहास के बीच ही भारतीय दर्शनों का निर्माण हुआ है जिसका कि आज तक इस दृष्टि से अध्ययन नहीं हो रहा है।

उपनिषदों का वेद के विरोध में खड़ा होना आकस्मिक नहीं है केवल स्वयंभू ज्ञान नहीं है, स्वयं प्रकाश ज्ञान नहीं है। बल्कि उसके पीछे धार्मिक और सामाजिक प्रश्न हैं जो कि खड़े हुए, जिसका कि तत्त्वज्ञान उपनिषदों के द्वारा आविर्भूत हुआ। उपनिषदों के विरोध में जब बुद्ध खड़े होते हैं, तो बुद्ध केवल इसलिए खड़े नहीं होते कि बोधिवृक्ष के नीचे वह बुद्धत्व प्राप्त कर लें जो कि अलौकिक था, उसका लोक से मतलब नहीं था। बात यह थी कि यह सारी परिस्थितियां जो कि उपनिषदों और वेदों के विरोध में जा रही थी जिससे लोग ऊब चुके थे और सारी आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियाँ और दार्शनिक परिस्थितियाँ ऐसी थी जिसमें बुद्ध खड़े हुए उसमें इन सारी परिस्थितयों का प्रतिबिम्बन बुद्ध के दर्शन के द्वारा होता है। बुद्ध के विरोध में नागार्जुन ने उन्हीं के आचार्य ने धर्म और संघ की परीक्षा की, तो उन्होंने निःस्वभावता का सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिया

और बुद्ध की ही परम्परा में उन्होंने एक नयादर्शन खड़ा कर दिया और वे दूसरे बुद्ध कहलाये।

इसी प्रकार जब महायान का इतना बड़ा विकास हुआ, तो शङ्कराचार्य आये। उसके कुछ कारण थे, राजनैतिक परिस्थितियाँ थी और सारी राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक परिस्थितयों के बीच में शङ्कराचार्य आये और उन राजनैतिक, धार्मिक परिस्थितियों के बीच में ही आज तक शङ्कराचार्य कायम हैं, उनका राज्य कायम है। यदि परिस्थितियाँ बदलेगी तो शङ्कराचार्य का सिद्धान्त बदलेगा। यह जो करपात्री जी कहते हैं कि हिन्दु सवंत्र है, शङ्कराचार्य का दर्शन वह नहीं रह जायेगा। वह सत्तात्मक है राज्य के अन्दर, समाज के अन्दर, होने से उसके साथ सम्बद्ध है। लेकिन यह विषय एक ऐसा विषय है जिस पर ज्यादा बोलना अभी सम्भव नहीं होगा। उसके लिए अलग से एक गोष्ठी होनी चाहिए।

कार्य-कारणभाव की एक बात जो कल पण्डित जी ने उठाई थी उस पर आता हूँ जिसको कि हर्षनारायण जी ने विलासिता के रूप में स्वीकार किया है। हम सब लोग परिचित हैं कि दर्शन की रीढ़ कार्य कारणभाव है। भारतीय दर्शनों के सारे चिंतन का, उपनिषदों से लेकर के अन्त तक, हम सब लोग जानते हैं कि कार्य कारण की व्याख्या के भेद से ही प्रस्थान भेद हो जाते हैं। यदि नया दर्शन अपेक्षित है तो कार्य कारण की पुनर्व्याख्या करनी होगी। कार्य-कारण के सम्बन्ध में बहुत सी व्याख्याएं करने से भारतीय दर्शनों का प्रस्थान भेद हो चुका है। लेकिन उसकी कुछ समान मान्यताएं हैं जो कि अपर्याप्त हो चुकी हैं।

ईश्वर एक विशेष स्थिति में स्थापित हुआ था, ईश्वर खण्डित हुआ एक विशेष स्थित में, आत्मा स्थापित हुआ एक विशेष स्थित में, आत्मा खण्डत भी हुआ। आवश्यकताओं के आधार पर ही यह सारा खण्डित हुआ। मन उस तरह का बना, समाज बना, राज्य बना, सारा बना। लेकिन कार्य-कारणभाव दर्शन में स्थापित हुआ उसी के अनुरोध पर। मैं समझता हूँ आज भी किसी स्थिति में कार्य-कारण में कारण को नित्य नहीं होना चाहिए। अगर कारण नित्य रहेगा, तो समाज परिवर्तनशील नहीं होगा, यथास्थितवादी होगा। इसलिए चाहे वह नित्यता कूटस्थनित्यता न हो, लेकिन परिणामी नित्यता भी अगर स्वीकार कर लिया जाये या परिणामवाद तक भी अगर हम परिवर्तन को स्वीकार कर लें, लेकिन परिणामवाद का केवल प्राकृतिक परिणाम नहीं—सारा आत्मासहित, पुरुषसहित, सांख्य के शब्दों में पुरुष, प्रकृति अगर सब परिणामी है। ऐसा मैं सांख्य में प्रवेश कराने की बाबत नही कहता

हूँ, बल्कि मैं नये दर्शन के लिए कहता हूँ कि कार्य-कारणभाव में कारण को न आप क्षणभङ्गवाद मानिए और न क्षणिकता का सिद्धान्त मानिए, सब में गतिशीलता लाने के लिए तो क्षणभङ्गवाद है लेकिन उसे आप न स्वीकार करें, कम से कम नये दर्शन के लिए परिणामवाद की प्रगति तो स्वीकार करनी पड़ेगी।

वैसे तो आप जानते ही हैं कि यह तन्त्र के दर्शनों ने स्वीकार किया। अपने परम-शिव को भी नित्य-नित्य परिवर्तनशील उन्होंने स्वीकार किया। यद्यपि परमशिव को उन्होंने एक मात्र सत्ता स्वीकार किया, लेकिन परमशिव को जगत् से भिन्न नहीं स्वीकार किया। जगत् और परमशिव जो उनका परम अध्यात्म है और उनका परम जगत् है—तान्त्रिकों में शैव तान्त्रिकों का, या अन्यतान्त्रिकों का उन्होंने अभेद स्थापित किया।

मैं समझता हूँ जो अगला दर्शन होगा, वह परिवर्तनशील दर्शन होना चाहिए, परिवर्तनशील धर्म, परिवर्तनशील समाज व्यवस्था के लिए। तो उसमें कार्य कारण में कारण को अनित्य होना चाहिए। अनित्य से अगर परेशानी हो तो परिणामशील होना चाहिए और उस परिणामशीलता में जगत् की सभी वस्तु जिसमें ईश्वर और आत्मा सब हों, ईश्वरवादी का ईश्वर हो आत्मवादी का आत्मा भी हों, परिणाम के अन्दर होना चाहिए। तब वह एक परिणामशील समाज को उत्पन्न करेगा।

दूसरी बात कारण एक न हो या दो तीन कारण न हो। आप असमवायि-कारण को छोड़ दीजिए, यह तो पारिभाषिक स्थितियों में असमवायिकारण कहा जाता है। उपादानकारण और निमित्तकारण का नाम लिया जाता है। लेकिन कारण को, कारणबहुत्व को अगर लें और सम्पूर्ण कारण-सामग्री से अगर कार्य उत्पन्न हों, तो कारण सामग्री में चाहे ईश्वर को लाना हो तो उस प्रकार का गति-शील ईश्वर आवे, आत्मा को लाना हो तो गतिशील आवे या किसी का भी अगर गतिशील प्रतिबन्ध को स्वीकार करता है, तो कारण कोटि में आवे, सामग्रीकोटि में आवे और अगले कार्य-जगत् को जन्म दे। तो इसका मतलब यह है कि सामग्री जिसमें समाज, धर्म, नीति सब उसके कारण की कोटि में आ जाए। जो अब तक का समाज है, धर्म है, राजनीति है, अर्थनीति है, ईश्वर है, आत्मा है और सारी चीजें हैं, वह समग्र कारण कोटि में है और उस गतिशील कारण सामग्री से गतिशील नये जीवन का, समाज का उद्भव होना चाहिए।

कर्म-फलम्बन्ध—एक आखरी बात मैं कहना चाहता हूँ जो कार्य-कारण भाव से अत्यन्त सम्बद्ध है—कर्म-फलसम्बन्ध। कर्म-फल सम्बन्ध जो जीवन को यहाँ से

वहाँ तक अनुस्यूत रखता है। कर्म-फल सम्बन्ध आवश्यक है नीति के लिए, धर्म के लिए। लेकिन पुनर्जन्म आवश्यक नहीं है, पुनर्जन्म न स्वीकार करते हुए कर्म-फल की व्यवस्था होनी चाहिए। किंतु इसके लिए पुनर्जन्म का खण्डन न किया जाये। जो विश्वासानुसार कुछ लोग पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं, करते रहें। लेकिन यह व्यवस्था दर्शन में हो कि पुनर्जन्म स्वीकार न करके भी कर्म-फल का सिद्धान्त बन जाए और यह जो कि व्यक्ति के साथ कर्म को जोड़ दिया गया है, कृत हानि न होने पाये, अकृत का अभ्यागम न होने पाये, नीति और धर्म की व्यवस्था न बिगड़ने पाये, इसके लिए जो दार्शनिकों ने सारा प्रयत्न किया था, वह एक दम सही बात है। उसकी सुरक्षा आज भी होनी चाहिए। लेकिन केवल व्यक्ति के साथ नहीं, व्यक्ति के साथ साथ और समूह के साथ भी। एक व्यक्ति फल भोग रहा है समूह के पापों का, राज्य के पापों का, विश्व के पापों का। अब कहें कि तुम तो अपने पूर्व कर्मों का फल भोग रहे हो, यह बात बड़ा हास्यास्पद है। इस तरह का क्या दर्शन है जो कि सीधे दिखाई पड़ता है कि हम बेईमानी करना नहीं चाहते। ऐसे कारण बन जाते हैं, ऐसे सामाजिक व्यवस्थाएं बन जाती है जिसमें हम बेईमानी करने के लिए विवश हो जाते हैं और ऊपर से धर्म वाला, दर्शन वाला कहे कि तुम पापी हो, यह नहीं होना चाहिए। कर्म-फल सम्बन्ध व्यक्ति में रहेगा। लेकिन फल-भोग—व्यक्ति का फल समूह को मिलता है, समूह के कर्म का फल व्यक्ति को मिलता है, स्वीकार करना चाहिए।

दो सत्यों की स्थापना—दुनिया में पचासों प्रकार के सत्य हो सकते हैं, लेकिन दार्शनिक दृष्टि ने, जो भ्रम और प्रमा को ध्यान में रख करके दार्शनिकों ने, खास करके नागार्जुन ने, शंकराचार्य ने दो सत्य, तीन सत्य की कल्पना की। शंकराचार्य ने तो सीधे कह दिया—तमः प्रकाशवत्विरुद्धस्वभावः। एक प्रकाश है, दूसरा अन्धकार है—साफ कर दिया। लेकिन इस प्रकार का सत्य ठीक नहीं है। सत्यों का स्तर होना चाहिए, उसे विरुद्ध नहीं होना चाहिए। नागार्जुन ने दूसरी भूमिका अदा की। लेकिन दो सत्यवादी वे भी हैं। नागार्जुन की भूमिका में कुछ हो सकता है, समाज के लिए गुञ्जाईश हो सकती है। क्योंकि उनका व्यवहार मिथ्या व्यवहार नही है। वे मिथ्या करते हैं एक नये व्यवहार बनाने के लिए। वहाँ से दो सत्य की यह कल्पना है।

प्रो० रामशङ्करमिश्र (का० हि० वि० वि०) ने कहा—इस बात को हम स्वीकार करते हैं कि भारतीय दर्शन का लौकिक जीवन से कोई नजदीक का सम्बन्ध नहीं रहा और यह हमारे चिंतन-धारा की एक विशेष कमी रही है,

इसमें कोई सन्देह नहीं। अब इसके क्या कारण थे? कारण अनेकों हो सकते हैं, लेकिन एक स्पष्ट कारण तो यह प्रतीत होता है कि क्योंकि भारतीय दर्शन मोक्षाभिमुख रहा है। इसीलिए संसार की समस्याओं की तरफ उसका ध्यान नहीं गया। जब हम पाश्चात्यदर्शन से उसकी तुलना करते हैं, तो हम देखते हैं। एक बात बड़ी विशेष रूप में प्राचीनकाल से अब तक जो पाश्चात्य जगत् के बड़े-बड़े दार्शनिक हुए हैं। उन्होंने तत्त्वज्ञान और ज्ञान-मीमांसा के साथ-साथ अन्य विषयों पर भी पर्याप्त रूप से विचार किया है जिसका उल्लेख भी यहाँ आया है, जैसे राजनीति-दर्शन, समाज-दर्शन, शिक्षा-दर्शन आदि पर बड़े व्यापक रूप से दार्शनिकों ने विचार किया। कभी कभी हमारे मन में यह जरूर आता है कि भारत के इतने उच्च-कोटि के दार्शनिक इन विषयों पर विचार करते, तो हम लोगों की संस्कृति कितनी समृद्ध हो जाती।

एक मुख्य कारण जो हमको लगता है कि भारतीय दार्शनिक इतने बड़े-बड़े दार्शनिक जैसे नागार्जुन के बारे में कहा जाता है कि वे रसायन के बहुत बड़े ज्ञाता थे, उन्होंने बड़े अन्वेषण किये। यहाँ तक कि गणित में जो शून्य का आविष्कार हुआ वह भारतीय गणितज्ञ ने किया। अब इस तरह की प्रतिभा होते हुए भी एक जरूर यह बात आती है कि क्यों सांसारिक समस्याओं की तरफ भारतीय दार्शनिकों का ध्यान नही गया। उसका दर्शन के अन्दर जो मोक्ष का कारण मिलता है, वह तो है ही। दूसरा भी स्पष्ट कारण है, वह यह मालूम पड़ता है कि भारतीय लोक-जावन और लोक-व्यवहार धर्मशास्त्रों से हमेशा नियंत्रित रहा और इसीलिए शायद दार्शनिकों को स्वतन्त्रता नहीं थी कि धर्मशास्त्रों के विषय में वे हस्तक्षेप करते। इसीलिए भारतीय दर्शन कुछ लौकिक समस्याओं के प्रति उदासीन रहे। लेकिन एक बात है, वह यह है कि इसका सारा दोष दार्शनिकों पर नहीं देना चाहिए कि उन्होंने लोकजीवन की उपेक्षा की है। हमको ऐसा लगता है कि अपने देश की हवा कुछ ऐसी है कि यहाँ कुछ इस प्रकार की उदासीनता तभी से रही है।

एक उदाहरण हम आपको देते हैं। जैसे राजपूत लोग थे, कतयी वे दार्शनिक लोग नहीं थे। साथ ही संसार में लिप्त लोग थे। इन बड़े-बड़े राजाओं को कभी यह जिज्ञासा नहीं हुई कि दूसरे देशों में सैन्य-विज्ञान कितनी उन्नति कर गया है हम भी उसका विकास करें। अब इसका एक जरा तमाशा देखिये।

अलेक्जेण्डर का आक्रमण होता है। हाथी सेनाँ बिल्कुल व्यर्थ होती है किसी भी युद्ध के लिए यह सभी समय सिद्ध हो जाना चाहिए था, पर्याप्तरूप से। भारतीयों ने कभी नहीं सीखा। उसका फल यह हुआ कि जब राना सांगा और बाबर का युद्ध

हुआ। दस हजार सैनिक ले कर के बाबर आया था, राना साँगा की सेना दो लाख थी। प्रातःकाल से शाम तक के युद्ध में भारत के भाग्य का निबटारा हो गया। क्यों ? क्योंकि गन-पाउडर का आविष्कार अफगानिस्तान में पहुँच चुका था। वह तोपखाना ले कर आया और ध्वस्त कर दिया सांगा की सेना को। एक बच्चा भी कह सकता था युद्ध के पहले ही कि युद्ध का परिणाम क्या होने जा रहा है। लेकिन ये जो भारतीय सैन्य विशेषज्ञ थे उनके दिमाग में यह नहीं आया।

एक दूसरी बात आपको बताए, मुहम्मद साहब के समय से इस्लाम का बड़ा प्रचार हुआ। लेकिन संयोग से इस्लाम का जब भारत में प्रवेश हुआ तो दिग्विजय उसने किया, इसमें संदेह नहीं, लेकिन इस्लाम को भी वही हवा लगी जिससे कि हिन्दु राजा ग्रस्त थे। उसके सेना में भी हाथी आदि की उसी प्रकार की व्यवस्था की गई जिसके कारण अहमदशाह अब्दाली ने और उससे पहले जो आए वह जीतते चले गये।

इस तरह यह नहीं कहना चाहिए कि केवल दर्शन इसका कारण था। बल्कि ऐसा लगता है कि नये ज्ञान के प्रति विभिन्न संदर्भों में यह जो ज्ञान के किसी प्रकार की बृद्धि हो रही है; इन सबका अपने देश में अभाव रहा। जवाहरलालजी ने एक बात बहुत अच्छी कही थी। अकबर के समय इंग्लैण्ड से शायद कोई आया था। उसने अकबर को एक घड़ी भेंट की। अकबर ने घड़ी की तो बड़ी प्रशंसा की। लेकिन जवाहरलाल जी ने कहा कि अकबर के बुद्धि में यह नहीं आयी कि यहाँ भी वह कारखाना खोल देता।

प्रख्यातकलामर्मज्ञ **प्रमोदकुमार गुप्त** (वाराणसी) ने कहा– मैं अपने जिस जमाने में जी रहा हूं, और जिस जमाने में जी कर जो कठिनाई जीवन के प्रति महसूस कर रहा हूं, उसको मैं थोड़ा कहूंगा। और नये दर्शन की क्या सम्भावनाएँ हैं, उसमें जो मैं समझता हूं, उस पर थोड़े-थोड़े इशारे करने की कोशिश करूँगा।

मैं समझता हूं कि दर्शन की दुनिया में जब तक आध्यात्मवादी दर्शनों का दौर चला था तब तक कोई मौलिक परिवर्तन आदमी के दिमाग में नहीं आया था। झगड़े यानि परिवर्तन उस समय आये, जब जड़वादी दर्शन में आदमी, साधारण आदमी की प्रतिष्ठा की लड़ाई को सामने रखा। यही से सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की लड़ाई शुरू हुई।

जहाँ तक भारतीयदर्शन है, अध्यात्म उसकी विशेषता है वह विशिष्ट व्यक्ति का सृजन करता है। इसलिए उस विशिष्टता में एक जाति का उतना स्थान नहीं हैं, साधारण आदमी की प्रतिष्ठा के स्थान नहीं है। इसलिए जब हम साधारण की प्रतिष्ठा करेंगे, तो उसके अन्दर आवश्यक होगा कि आदमी के रिश्ते, समाज के रिश्ते, और समाज और आदमी की मर्यादा के रिश्ते और उसके साथ-साथ जड़ और चेतन के रिश्तों के साथ मसला हल करें।

मानवतावादी चिन्तक **प्रो० डॉ० देवराज** (का० हि० वि० वि०) ने कहा—यह जो प्रश्न प्रकारान्तर से गोष्ठी में उठाया गया है कि नवीन दर्शन की परिकल्पना होनी चाहिए। यह चिंता का विषय हो भो सकता है, नहीं भी। कोई नये दर्शन की जब तक आवश्यकता महसूस न की जाय तबतक उसकी कामना क्यों की जाय। हमारे हिन्दी साहित्य में कुछ समय तक यह आन्दोलन चलता रहा कि इसमें नयापन होना चाहिए। लेकिन अपने में नवीनता मात्र कोई अच्छी चीज होती है या ऊँची चीज होती है. ऐसा किसी जिम्मेदार आदमी ने शायद नहीं कहा है। नवीनदर्शन इसलिए बनाने की चेष्टा नहीं की जाती कि हमें मौलिक कहलाने की इच्छा है या नवीनता का मोह है। बल्कि नवीनदर्शन परिस्थितियों से उत्पन्न होता है और परिस्थितियों की कुछ आवश्यकताएँ होती है।

यह जो निबन्ध पढ़े गये हैं, इनमें से कुछ प्रश्न उठते हैं। उन पर मैं कुछ कहना चाहूंगा। विज्ञान के उदय से जितने परिवर्तन इधर दो-तीन शताब्दियों में हुए हैं, उनके पीछे कारण है। यह किस तरह से हुआ है, थोड़ा सा बतलाना आवश्यक लगता है।

विज्ञान के उदय ने जो पहला काम यूरोप में किया, वह यह था कि उसने मनुष्य को अपने में आस्था दी, आत्मविश्वास दिया। उससे पहले यही नहीं यूरोप में भी दो बातें मानी जाती थी। एक यह कि प्राचीन विचारक बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे और उनके प्रति बड़ा आदरभाव था। दूसरी यह जो मध्ययुग था, उसमें बाईविल, धर्म और बाईबल के संस्थाओं के प्रति बड़ा मोह था। प्राचीन विचारकों में यूनान के जो विचारक थे—अरस्तू, प्लेटो, इनके प्रति बड़ा आदर भाव था। यह समझा जाता था कि जो कुछ काम की बात कही जाती थी, वह पहले के लोग कह गये हैं। जो कुछ ज्ञान-विज्ञान की, जीवन-विधि की अच्छी चीजें थी, कही जा चुकी है। हम लोग इससे प्रेरणा लें। हम स्वयं न कुछ बढ़ा सकते हैं, या अच्छा कर सकते हैं या ऊँचा काम कर सकते हैं।

विज्ञान के अविष्कारों ने यह बात बहुत धीरे-धीरे यूरोप के जन-मानस में पैदा की कि हम कुछ बातें ऐसी कर सकते हैं जो प्राचीनों ने नहीं की है। The Idea of Progress से पता चलता है की बड़ी कठिनाई से यूरोप के जन-मानस में यह स्थान ले रहा है कि कुछ प्रगति भी होती है, उन्नति होती है, हम मनुष्यजाति के लोग आगे बढ़ते हैं। धीरे-धीरे जैसे-जैसे विज्ञान की प्रगति होती गई यूरोपीय मनुष्य में यह विश्वास होता गया कि काफी मामलों में हम प्राचीन लोगों से आगे हैं। यूरोप का इतिहास देखें तो कदम-कदम पर विज्ञान और धर्म का झगड़ा मिलता है। विज्ञान की प्रगति को रोकने की कोशिश की गई। वैज्ञानिकों को जेल में डाला गया, स्वतन्त्र चिंतकों को जिन्दा जला दिया गया। इसका यह नतीजा निकला कि धर्म और विज्ञान में विरोध है, ऐसा लोगों को मालूम होने लगा। और धर्म का, धार्मिकता का, धर्म ग्रन्थों का विरोध करके भी विज्ञान आगे बढ़ता गया।

इसका निचोड़ यह है कि ग्रन्थों की ईश्वरीयता में, ग्रन्थों की ईश्वरीय एवं दैवीय होने में संदेह होने लगा और आज दार्शनिकों के बीच शायद ही यूरोप में कोई ऐसा है जो किसी भी धर्मग्रन्थ को प्रामाणिक मानता है। यहाँ से बहुत सी समस्याएँ शुरू हो जाती है। धर्म-ग्रन्थों ने एक जीवन का खाका दिया था, एक जीवन का मार्ग बताया था। उस मार्ग का अनुगमन करते हुए मनुष्य यह महसूस करता रहा कि एक बार अगर उन ग्रन्थों के प्रति आस्था चली जाए, तब सारा प्रश्न, सारी जिम्मेदारी हमारे ऊपर आ पड़ती है कि हम जीवन का लक्ष्य कैसे बनाएँ ? तो सबसे बड़ा परिवर्तन जो आधुनिक युग में और पुराने लोगों में है, वह यह है कि आज का व्यक्ति किसी धर्मग्रन्थ की प्रामाणिकता मानने को कभी तैयार नहीं है। क्योंकि कम से कम यूरोप में ऐसा हुआ कि धर्म ग्रन्थों की बहुत-सी बातें झूठी निकलीं। हमारे यहाँ तो ऐसा इत्फाक से नहीं हुआ है। इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्मग्रन्थों में जो लिखा है सब गलत है। ऐसी बात नहीं है। लेकिन हमें विवेक के साथ यह देखना पड़ेगा कि धर्मग्रन्थों में कितना अंश ग्राह्य है। हम उनको स्वतः प्रमाण मान लें या ईश्वरीय मानकर या दैवीय मान कर चलना नहीं चाहते। तब जीवन का लक्ष्य क्या है ? नैतिकता क्या है ? अच्छाई क्या है ? बुराई क्या है ? साधना का स्वरूप क्या होना चाहिए ? ये सारे के सारे प्रश्न नये सिरे से खड़े हो जाते हैं, जैसा कि मैंने कहा, हमारी जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है।

डा० नीलकण्ड देशपाण्डेय में कहा—दर्शन और समाज के बीच कड़ी धर्म है दर्शन के विश्लेषण के आधार पर मूल्यों का समर्थन धर्म करता है पर जब दर्शन केवल विश्लेषण बन कर अतिरेक में पहुँचता है तो धर्म भी कर्म व्यवस्था का ढोंग

रचकर व्यवहार के बौद्धिक विवेचन से दूर हट जाता है इन दोनों दूरियों को हटाने का मार्ग आधुनिक परिप्रेक्ष के चिंतक कर सकते हैं।

प्रो० रमेशचन्द्र तिवारी ने कहा—दर्शन को अब पुरानी ऐतिहासिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में न देख कर परिवर्तित परिस्थितिओं के अनुसार नये सिद्धान्त प्रस्थापित करने चाहिए नहीं तो आज के युग में पुराने आधार का चिंतन दमघोटू जैसा लगेगा।

पं० केदारनाथ ओझा ने कहा—चाहे जितने आरोप भारतीय दर्शन पर लगाये जांय पर ईशावास्योपनिषद् का 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' : का यदि आधुनिक सन्दर्भं ले तो मैं मानता हूँ कर्म, सन्तोष, वैराग्य आदि का आज भी मूल्य है आज भी मानव मन में जो शुचिता के भाव उजागर होते हैं वह हमारे इस पुराने चिंतन के प्रतिफल हैं अत एव इनको परलोकपरक ही क्यों माना जाय, इसे लोकपरक आचरण से क्यों नहीं बनाया जाता है।

प्रो० देवराज ने कहा—मानव पुरुषार्थों का चिंतन करता है पर उन पुरुषार्थों का चिंतन किया जाय जो जीवन यात्रा के उपयोगी हों तथा व्यक्ति को परिष्कृत एवं समृद्ध करने वाले गुणात्मक उत्कर्षापकर्ष के विधायक हों। सत्यान्वेषण के साथ नैतिक मूल्यों का विवेचन भी दर्शन का काम है। वंशपरम्परा से ही नहीं परिवेश से भी अधिकारी एवं अधिकार का निर्णय किया जाय। ऊँचे माने जाने वाले आज से सन्दर्भित मूल्य छिपा कर नहीं, प्रगट रूप में प्रगट किये जांय। क्या इन पर आज विचार किया जा सकता है।

प्रो० कृष्णनाथ ने कहा—आज के बदले परिवेश में असमानता को केवल ब्रह्म की भाव समानता से नहीं हटाया जा सकता। आज 'पण्डितः समदर्शिनाः' ही न हो, समवर्तिनः भी बने। सत्य के अनुसार प्रमाण बनना चाहिए तर्क के अनुसार सत्य नहीं खड़ा होना चाहिए।

प्रो० इन्द्रजीत सिंह ने कहा—टायन्वी के अनुसार आज भारतीय दर्शन विश्व दर्शन का आधार बन रहा है क्योंकि यह विवेक पूर्ण एवं समस्याओं का समाधान कारक है। इसके अध्यात्म के चमत्कार में जो समाधान है उसको व्यवहार परक बनाना से सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान सम्भव है।

प्रो॰ बदरीनाथ शुक्ल ने कहा--समस्याओं का आलोडन आज ही नहीं हो रहा है पुराने जमाने में भी हुआ है सुख की अभिलाषा मनुष्य की शाश्वत चाह है पर यह सुख हमारे वहाँ आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिपरक था। इसीलिए ऋषियों ने परा अपरा विद्या के द्वारा इनका समाधान किया। आज के विश्लेषण में यह बात भी ध्यान में रखा जाय कि वर्तमान परिस्थिति में किन आधारों पर छात्रों को चलाने का निर्देश दिया जाय। विवेक पर आधारित यदि जीवन-मार्ग ही उद्देश्य है तो उसके निर्धारण में अतीत के अनुभवों का उपयोग होना चाहिए। यदि परम्परा के क्रम में नये अनुभवों की व्याख्या की जायेगी तथा अपनाने या घटाने की बात की जायेगी तो निश्चय ही उनकीं व्याख्या एवं पूर्ति की व्यवस्था सुपाच्य होगी। अन्यथा एक प्रश्न प्रस्तुत हो कर मात्र चिन्तन का विषय बन कर रह जायेगा।

प्रो॰ करुणापतित्रिपाठी (कुलपति सं॰ सं॰ वि॰ वि॰) ने कहा—तीन दिन के ज्ञानसत्र में जो निबन्ध तथा वाद-विमर्श हुए वह अवश्य नयी दिशा की ओर संकेत करते हैं। पर बुद्धिजीवी इस नये जीवन दृष्टि का मन्थन कर समाज के हित के लिए व्यावहारिक अमल यदि प्रदान करें तो अधिक इसकी उपयोगिता होगी। आज के प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक भू-भाग राजनीतिक दृष्टिसे प्रभावित हैं। प्रत्येक देश में परम्परागत कुछ विचार भी हैं इसलिए हमारे विचार विमर्श से ऐसा कोई आध्यात्मिक, मानसिक एवं व्यावहारिक धरातलका समन्वय निकलना चाहिए जो मानवहित का एक मात्र साधन बन सके। मैं इस गोष्ठी में भाग लेने वाले सभी अध्यापकों को धन्यवाद देता हूँ तथा इस विचार मन्थन को मूर्तरूप देने की ओर बढ़ने की शुभ कामना करता हूँ।

अन्त में गोष्ठी के संयोजक श्री राधेश्यामधरद्विवेदी ने तीनों विश्वविद्यालयों, गांधीविद्यासंस्थान, तिब्बतीसंस्थान तथा शहर के मान्य पण्डितों को इस नव चिंतन में योगदान के लिए धन्यवाद दिया।

राधेश्यामधर द्विवेदी



संगोष्ठियों में भाग लेने वाले विद्वानों की नामावली

१. श्री अमृतलाल जैन
जैन विश्वभारती
लाडनूं-राजस्थान

२. श्रीअनन्तप्रसाद मिश्र
सांख्ययोग विभाग
संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

३. प्रो. कमलाकर मिश्र
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

४. प्रो. करुणापति त्रिपाठी
कुलपति सं. सं. वि. वि.
वाराणसी

५. प्रो. कृष्णनाथ
अर्थशास्त्र विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

६. आचार्य केदारनाथ ओझा
मुमुक्षु भवन, अस्सी
वाराणसी

७. प्रो. के. एन. मिश्र
दर्शन विभाग
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय
वाराणसी

८. डॉ० के. सी. मिश्र
रवीन्द्र कालोनी, वाराणसी

९. डा. गौरीशंकर दूबे
गांधी विद्यासंस्थान
राजघाट, वाराणसी

१०. श्री गणेशसिंह मानव
जगतगंज, वाराणसी

११. डा० गोकुलचन्द्र जैन
रीडर-प्राकृत विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

१२. प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय-नेहरूफेलो
सी. २७।६१ जगतगंज, वाराणसी

१३. ठाकुर जयदेव सिंह
सिद्धगिरीबागकालनी वाराणसी

१४. श्री टशी पलजोर
अतिरक्त प्रिंसिपल
बौद्धविद्यासंस्थान, लेह, लद्दाख

१५. डा. दीनबन्धुपाण्डेय
प्रिंसिपल, सुदिष्ट बाबा डिग्री कालेज
सुदिष्टपुरी रानीगंज, बलिया

१६. प्रो. देवस्वरूप मिश्र
वेदान्त विभागाध्यक्ष
संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

१७. डा. नरेन्द्रनाथ पाण्डेय
वेदान्त विभाग
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१८. नारायणभाई देसाई अध्यक्ष,
अखिल भारतीय शान्ति सेना
सर्व सेवासंघ राजघाट,
वाराणसी

१९ एन. एच. सन्तानी
पालि एवं बौद्धदर्शन विभाग
का. हि. वि. वि. वाराणसी

२०. डा. नन्दकिशोर देवराज
विजिटिंग प्रोफेसर
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

२१. डा. नीलकण्ठ देशपाण्डे
समाज शास्त्र विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

२२. डा. पारसनाथ द्विवेदी
सं० वि० विद्यालय वाराणसी

२३. आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री
हनुमानघाट वाराणसी

२४. श्री प्रमोदकुमार गुप्त
बी. २८।४७ सी-२ मोतीझील
महमूरगंज, वाराणसी

२५. आचार्य पं. बदरीनाथ शुक्ल
भूतपूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

२६. डा. फूलचचन्द्र जैन
जैनदर्शन विभागाध्यक्ष
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

२७. डा० ब्रह्मदेवनारायण शर्मा
पालि एव थेरवाद विभागाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

२८. डा. भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश'
निदेशक-अनुसंधान संस्थान
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

२९. प्रो. महाप्रभुलाल गोस्वामी
अध्यक्ष, धर्मदर्शनविभाग
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

३०. प्रो. मुकुटविहारीलाल
भू. पू. अध्यक्ष राजनीति विभाग
का. हि. वि. वि. वाराणसी

३१. आचार्य पं० रघुनाथ शर्मा
छाता, बलिया

३२. प्रो. रघुनाथ गिरि
दर्शन विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

३३. स्व० श्री रघुनाथ मिश्र
आगम विभाग
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

३४. स्व० प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी
इमेरिटस प्रोफेसर-दर्शन विभाग
का. हि. वि. वि. वाराणसी

३५. प्रो. रमाशंकर मिश्र
दर्शन विभागाध्यक्ष
का. हि. वि. वि. वाराणसी

३६. श्री रमेशचन्द्र तिवारी
समाजशास्त्र विभाग
काशी विद्यापीठ

३७. डा० राजनाथ त्रिपाठी
योगतन्त्र विभाग
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

३८. आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी
पण्डित चूड़ामणि
सं. वि. विद्यालय वाराणसी

३९. प्रो. राजाराम शास्त्री
भूतपूर्व कुलपति
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

४०. श्री राधेश्यामधर द्विवेदी
तुलनात्मकधर्मदर्शनविभाग
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

४१. प्रो०रामशङ्कर त्रिपाठी
अध्यक्ष, श्रमणविद्यासंकाय
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

४२. डा. रामशंकर भट्टाचार्य
३८।८ हौज कटरा
वाराणसी

४३. रामबिहारी द्विवेदी, अनुसंधाता
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

४४. डा. रेवतीरमण पाण्डेय
दर्शन विभाग
का. हि. वि. वि. वाराणसी

४५. श्री वीरेन्द्रकुमार सिंह अनुसंधाता
काशी विद्यापीठ
वाराणसी

४६. आचार्य पं. विश्वनाथशास्त्री दातार
प्राचीनराजशास्त्रअर्थशास्त्रविभाग
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

४७. डा० वी० के० राय
के० ६१।७४ ईश्वरगंगी
वाराणसी

४८. डा० वैद्यनाथ सरस्वती
निर्देशक
निर्मलकुमार बोस संस्थान
वाराणसी

४९. प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी
अध्यापक आवास
सं० सं० वि० वि०
वाराणसी

५०. डा० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी
दर्शन विभाग
काशी विद्यापीठ
वाराणसी

५१. डा० संगमलाल पाण्डेय
अध्यक्ष, दर्शन विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

५२. समदोङ् रिन्पोछे
प्रिंसिपल
तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी

५३. श्री सुधाकर दीक्षित
न्याय विभाग
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

५४. श्री श्रीराम पाण्डेय
अध्यक्ष न्याय वैशेषिक विभाग
सं. सं. वि. वि.
वाराणसी

५५. श्री सेम्पा दोर्जे
रीडर—तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

५६. डा. सी. एन. मिश्र रीडर
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

५७. पं. सुब्रह्मण्य शास्त्री
शङ्कराचार्यमठ हनुमानघाट
वाराणसी

५८. प्रो० सत्यप्रकाश मित्तल
गांधी विद्या संस्थान
राजघाट, वाराणसी,

५९. डा. हर्षनारायण रीडर
नार्थ इस्टर्न हिल यूनिवर्सीटी, शिलांग

६०. हरिशंकर शुक्ल
पालि एवं बौद्धदर्शनविभाग
का. हि. वि. वि.
वाराणसी

६१. डा. श्यामनारायण दीक्षित
वेदान्त विभाग
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

६२. हेब्बार शास्त्री
सांगवेद विद्यालय, राजघाट,
वाराणसी

६३. डा० हरिहरनाथ त्रिपाठी
राजनीति शास्त्र
का० हि० वि० वि०
वाराणसी

६४० डा. आर. दिवाकर
गांधी पीस फाउन्डेशन
221/3
दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली 110002

श्री. आर. एन. ठाकुर
शाखा कार्यालय
खादी ग्रामोद्योग कमीशन
[illegible], वाराणसी